संस्कृत काव्यशास्त्र को उद्भट का योगदान

Contribution of Udbhata to Sanskrit Poetics

इलाहाबाद युनिवर्सिटी की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

शोधकर्ता :

मुन्नीलाल त्रिवेदी, पी० सी० एस०

निदेशक :

डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय, रीडर

संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद युनिवर्सिटी, इलाहाबाद

1984

भूमिका

आचार्य उद्भट संस्कृत काव्यशास्त्र के जाज्वल्यमान स्तम्भ हैं। काव्य। नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत हैं, उनके बाद मुख्य रूप से भामह का नाम आता है। भामह और भरत के बीच पांच छः सौ वर्षों का समय आता है। इस बीच अनेक काव्यशास्त्री हुए होंगे पर उनके विषय में कुछ भी पता नहीं है। आचार्य भामह महान अलंकारशास्त्री थे। अलंकार के क्षेत्र में आचार्य भामह के बाद आचार्य उद्भट का नाम आता है। आचार्य उद्भट ने अपने प्रखर व्यक्तित्व से अलंकारशास्त्र में एक विशिष्ट स्थान ही नहीं बनाया अपितु औद्भट सम्प्रदाय के प्रवर्तक भी बन गए। सम्पूर्ण अलंकारशास्त्र पर उनकी प्रतिभा की स्पष्ट छाप है। अलंकारशास्त्र में उनके व्यक्तित्व के सम्मुख भामह का व्यक्तित्व निष्प्रभ सा दिखायी देता है। उनके विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव होने से वे भले ही शोधकों की उपेक्षा के पात्र रहे हों पर इन पंक्तियों के लेखक की यह दृढ़ धारणा है कि वे एक सामान्य आचार्य नहीं थे।

जैसा कि नाम से घोतित होता है, उद्भट काश्मीरी आचार्य थे। इसके अतिरिक्त कल्हणकृत राजतरंगिणी[1] से उद्भट के विषय में पता चलता है। कल्हण के अनुसार आचार्य उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड (७७९-८१३ई०) के सभापति थे। उद्भट ने भामह के ऊपर एक टीका लिखी थी। भामह का समय ७००ई० है। अतः उद्भट का समय भामह के अनन्तर आठवीं शताब्दी ई० के आस-पास होना चाहिए। ध्वन्यालोककार (९वीं शताब्दी के द्वितीय भाग) ने उद्भट का उल्लेख किया है[2]। अस्तु हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आचार्य उद्भट ९वीं शताब्दी के बाद नहीं रखे जा सकते और वे निश्चित रूप से ७५०ई० से ८५०ई० तक विद्यमान थे।

१- विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥

२- ध्वन्यालोक, पृ० ९६-१०८।

आचार्य उद्भट का अलंकार ग्रंथ काव्यालंकारसारसंग्रह है। इस ग्रन्थ को कर्नल जैकब ने जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी १८९७ में अनूदित किया, इस ग्रंथ की दो टीकाएं हैं। एक तो प्रतिहारेन्दुराज के द्वारा लिखित लघुवृत्ति, जिसका सम्पादन श्री एन०डी० बनहट्टी ने १९२५ में किया था और दूसरी राजानक तिलक द्वारा लिखित विवेक, इस ग्रन्थ में ७६ कारिकाओं में आचार्य ने ४१ अलंकारों का विवेचन किया है। वस्तुत: इस ग्रन्थ में विवेचित अलंकारों के द्वारा ही आचार्य ने परवर्ती अनेक आलंकारिकों को प्रभावित किया था।

इसके अतिरिक्त आचार्य उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर 'विवरण' 'विवृत्ति' नामक टीका लिखा। यह टीका सम्प्रति अप्राप्य है। परन्तु अनेक उल्लेखों द्वारा इसके विषय में जाना जा सकता है।[१] सन् १९६० में पाकिस्तान के काफिरकोह नामक स्थान से शारदा लिपि में कुछ फटी पुरानी हस्तलिपियां प्राप्त हुईं। इन हस्तलिपियों को पाकिस्तान पुरातत्व विभाग के निर्देशक श्री एफ०ए० खान ने प्रो० टुच्ची के पास भेजा। दो वर्षों के अथक परिश्रम के बाद प्रो० टुच्ची ने इन हस्तलिपियों को सम्पादित किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यही आचार्य उद्भट की प्रख्यात टीका 'भामह विवरण' है। परन्तु प्रसिद्ध विद्वान डा० वी० राघवन ने अक्टूबर, १९६१ में श्रीनगर २१वें अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में इन हस्तलिपियों 'भामह विवरण' नहीं माना है। उन्होंने

१- (क) लोचन, पृ० १०,४०,१३४ और १५६।

(ख) ---- तस्माद् गड्डरिका प्रवाहेण गुणालंकारभेद इति भामह विवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्। — विवेक, पृ० १७।

(ग) शब्दार्थालंकाराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामह वृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमस्त।

(घ) अलंकार सर्वस्व की समुद्रबन्ध टीका, पृ० ८९।

(ङ) माणिक्यचन्द्र संकेत, पृ० २८९।

(च) प्रतिहारेन्दुराज, पृ० १३।

कहा कि अगर हम ऐसा मान लेते हैं तो यह २०वीं शताब्दी की सबसे बड़ी खोज होगी । परन्तु मेरी यह धारणा है कि ये हस्तलिपियां "भामह विवरण" की ही हैं क्योंकि भामह पर उद्भट के "विवरण" के अतिरिक्त न तो कोई टीका मिलती है और न ही काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उसका उल्लेख मिलता है । अस्तु, ये हस्त-लिपियां उद्भट के "भामह विवरण" की ही हैं ।

आचार्य उद्भट ने भरत के नाट्यशास्त्र पर भी टीका लिखी थी । शार्ङ्गदेव ने अपने "संगीत रत्नाकर" में भरत के व्याख्याताओं का नाम गिनाया है । जिसमें भट्टलोल्लट श्री शंकुक, अभिनवगुप्त और कीर्तिधर के साथ ही साथ उद्भट का भी उल्लेख किया है[१]। अभिनव भारती में भी विभिन्न स्थानों पर आचार्य उद्भट के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है[२]। यद्यपि आचार्य उद्भट द्वारा लिखित यह व्याख्या इस समय नहीं प्राप्त होती तथापि नाट्यशास्त्र और अभिनव भारती के विभिन्न स्थानों पर विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों के रूप में वह अद्यापि हमारे सामने विद्यमान है ।

आचार्य उद्भट ने एक काव्यग्रन्थ भी लिखा था, जिसका नाम "कुमारसंभव" है । इस ग्रन्थ के विषय में हमें उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज की टीका से ज्ञात होता है । प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार आचार्य उद्भट ने काव्यालंकार सार संग्रह के समस्त उदाहरणों को अपने काव्यग्रन्थ से ही दिया है ।

आचार्य उद्भट एक ऐसे युग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे संस्कृत काव्य शास्त्र का विकासकाल कहा जा सकता है परन्तु उस काल में भी आचार्य उद्भट ने काव्यशास्त्र के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम व सिद्धान्तों का विवेचन किया है । परवर्ती युग में प्रवर्तित काव्यशास्त्र की अनेक शाखाओं के बीजों का उद्भट ने ही वपन किया था ।

१- व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भट शंकुकाः ।
   भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः ।। —संगीतरत्नाकर, १।१६ ।

२- अभिनवभारती, द्वितीय वाल्यूम, पृ० ७०,२७७,३००,३०२,४४१,४५१,४५२ ।

एक महान आलंकारिक होने के साथ ही साथ उन्होंने रस का भी विवेचन किया है। आचार्य उद्भट ने व्यंजना की भी थोड़ी सी झलक प्राप्त कर लिया था जोकि उनके भाक्तवाद के रूप में परवर्ती काव्यशास्त्रियों को आलोचना का विषय बनी। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन उद्भट के ही समकालीन थे। अस्तु ये दोनों एक दूसरे में अवश्य विम्बित-प्रतिविम्बित हुए होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्यशास्त्र के अनेक महान आचार्यों पर उद्भट की प्रतिभा की छाप विद्यमान है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ आचार्य उद्भट के व्यक्तित्व, कृतित्व तथा परवर्ति काव्यशास्त्रियों पर उनकी अमिट छाप का दिग्दर्शन कराने का एक लघु प्रयास है। मैंने यथासम्भव यह प्रयास किया है कि काव्यशास्त्र की जिन विधाओं पर आचार्य उद्भट ने दृष्टिविक्षेप किया है, उन्हें समेकित रूप में इस शोध प्रबन्ध में उल्लिखित किया जाय। इस शोध कार्य के पूरा होने में पर्याप्त समय लगा है जो शोधकर्ता की अनवधानता न होकर मात्र परिस्थितिजन्य है।

वस्तुत: इस शोध प्रबन्ध का श्रीगणेश उस परिस्थिति में हुआ जबकि मैं नितान्त विपन्न एवं दारिद्रयमय स्थिति से गुजर रहा था लेकिन मेरी महत्वाकांक्षाएं आसमान पर उड़ रही थीं। सोचता था, इस शोध प्रबन्ध के बाद भी यावज्जीवन अध्ययन एवं अध्यापन कार्य में रत रहूंगा पर शायद जगन्नियन्ता को यह बात मंजूर नहीं थी। प्रयाग विश्वविद्यालय में अल्पकाल के लिए अध्यापन करने का सुअवसर मिला तो मेरी कल्पनाएं एवं महत्वाकांक्षाएं और बढ़ चलीं, लेकिन नियति का विधान कुछ और था। मुझे प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से हटना पड़ा। लगभग एक वर्ष बेकार रहने के पश्चात् कमला नेहरू इंस्टीट्यूट आफ साइंस एण्ड टेक्नालोजी, सुल्तानपुर में संस्कृत प्रवक्ता के पद पर मेरी नियुक्ति हुई और वहीं पर अल्पकाल तक ही अध्यापन कार्य करने के बाद मेरी नियुक्ति उत्तर प्रदेश सिविल सर्विस में डिप्टी कलैक्टर के पद पर हो गयी। इस प्रकार अध्यापक बने रहने तथा अध्ययन-अध्यापन में शान्तिपूर्वक जीवन यापन करने तथा रचनात्मक कार्य करने की मेरी अभिलाषा मन में ही रह गयी।

मेरा प्रशासनिक जीवन अत्यन्त व्यस्त हो गया । मेरा सम्वेदनशील मन प्रशासनिक कटु अनुभूतियों से खिन्न हो गया । मेरी संवेदनाएं, मेरी भावनाएं एवं मेरी उत्कंठाएं बिखर गयीं । मुझे कठोर परिस्थितियों का सामना करना पड़ा । और जीवन की कटु अनुभूतियां सहनी पड़ी । धीरे-धीरे मैं इस कठोर जीवन का अभ्यस्त हो गया । दिन-रात शासकीय कार्यों में व्यस्त रहता था । अवसर मिलते ही थोड़ा-थोड़ा लिखता था । इस प्रकार एक लम्बे अन्तराल के बाद यह शोध कार्य यथाकथंचित पूरा किया जा सका है ।

इस शोध कार्य में मेरे पूज्य गुरुवर्य डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय ने मेरा निर्देशन किया । इस शोध ग्रन्थ के पूरा होने की इस दीर्घकालिक अवधि की वे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे । मैं जब भी उनसे मिलता था, वे मुझे उत्साहित ही करते रहे । और उन्हीं की प्रेरणाओं एवं आशीर्वाद से मैं इस शोधग्रन्थ को पूर्ण करने में सक्षम हो सका हूं । पूज्यपाद गुरुवर्य पं० लक्ष्मीकान्त दीक्षित की प्रेरणाओं तथा उनके अगाध पुत्रवत् स्नेह को भूलना मेरे लिए कठिन है । मेरे विद्यार्थी जीवन में ही नहीं अपितु मेरे पूरे जीवन में वे मेरे लिए प्रेरणास्रोत हैं । उनका निष्कपट एवं निस्पृह व्यक्तित्व स्वयं में आदर्श है, अनुकरणीय है । मेरे विद्यार्थी जीवन में मुझे सदैव स्वर्गीय पं० रामप्रताप त्रिपाठी 'शास्त्री' व स्वर्गीय पं० महावीर प्रसाद लखेड़ा से प्रेरणाएं मिलीं । मैं गुरुवर्य डा० आद्या प्रसाद मिश्र, डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल तथा डा० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव का अत्यन्त आभारी हूं जिनके आशीर्वाद से मुझे इस दुष्कर कार्य को करने का फल प्राप्त हुआ ।

अन्ततोगत्वा मैं पूज्यपाद अग्रज पं० श्री श्रीराम द्विवेदी 'साकेती' एम०ए०, बी०एस-सी०, बी०एड०, अध्यापक, मोतीलाल विद्या मन्दिर इण्टर कालेज, मालीपुर फैजाबाद का चिरऋणी रहूंगा जिन्होंने समय-समय पर न केवल मुझे प्रेरणा ही दी अपितु आर्थिक सहयोग भी प्रदान किया । उन्होंने स्वयं इस शोध प्रबन्ध का अवलोकन किया है और अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय देते हुए दिशा निर्देश भी किया है ।

प्रस्तावित शोध प्रबन्ध आपके हाथों में है। शोध प्रबन्ध में उल्लिखित संस्कृत भाषा को जो सन्दर्भ हैं, उनमें यदि कोई त्रुटि पायी जाय तो यह मात्र टंकण यंत्र की विलक्षणता के कारण ही है। आशा है विद्वज्जन इसे क्षमा करेंगे।

विदुषां वशंवद,

(मुन्नीलाल द्विवेदी)

पी०सी०एस०

वाराणसी।

दिनांक १५ नवम्बर, १९८४।

विषय अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आचार्य उद्भट — व्यक्तित्व एवं कृतित्व

काश्मीर की सुरम्य घाटियां प्रकृति की अनुपम छटा एवं सौन्दर्य तथा आकर्षण का ही केन्द्र नहीं रहीं, अपितु वहां का शान्त एवं कोलाहलविहीन जीवन भारतीय मनीषा एवं उत्कृष्ट चिन्तनधारा के लिए वरदान सिद्ध हुआ। काश्मीर के सुरम्य एवं सुशान्त वातावरण में बैठकर हमारे मनीषियों ने अणोरणीयान से महतो महीयान् का चिन्तन किया। आज भारतीय वाङ्मय जो इतना समृद्ध है, उसमें काश्मीर के विद्वानों का बहुत ही योगदान रहा है। सौभाग्य-वश काश्मीर के इतिहास पर कल्हण ने दृष्टि विक्षेप किया था जो राजतरंगिणी के रूप में हमारे समक्ष है। यदि राजतरंगिणी न होती तो अनेक भारतीय मनीषियों एवं चिन्तकों के विषय में जानने में हम असमर्थ ही रह जाते। अतीत के गर्भ में विलीन जिन महान् प्रतिभाओं की रक्षा कल्हण की लेखनी से हुई उसमें उद्भट भी एक हैं। कल्हण की कृति से यह विदित होता है कि आचार्य उद्भट जन्मजात काश्मीरी हैं। वे काश्मीर नरेश जयापीड के सभापति थे और उनका वेतन प्रतिदिन एक लक्ष दीनार था—

> 'विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
> भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमि भर्तुः सभापतिः।।[1]

काश्मीर राज जयापीड एक अत्यन्त प्रतापी राजा था। वह ७७६–८१३ई० के आसपास हुआ था। वह वज्रादित्य का अन्तिम पुत्र था। कर्कोटवंश के दुर्बल एवं अप्रतिभाशाली राजाओं के बीच राजा जयापीड जाज्ज्वल्यमान् नक्षत्र तुल्य प्रकाशित

१- राजतरंगिणी, ४।४९५।

होता है। उसकी प्रतिभा के कारण काश्मीर ने अपना परम्परागत गौरव पुनः प्राप्त किया था। जयापीड ने दो बार दिग्विजय यात्रा काश्मीर से बाहर किया था। उसका आदर्श ललितादित्य के ही समान था। जयापीड स्वयं संस्कृत का कवि था तथा विद्वानों का समादर करता था। अन्दरकोट में आज भी गाथा प्रचलित है कि जयापीड ने वहां जयपुर नामक नगर बसाया था। जयापीड ने अपने अभियान में कन्नौज को भी विजय किया था। वह कर्कोटवंश का प्रतापशाली राजा था। उसने अपने पितामह ललितादित्य के समान दिग्विजय किया था। उसका सैनिक अभियान भारतीय सीमा तक सीमित था। जयापीड ने नैपाल को भी विजय किया था। जयापीड विद्वान था तथा विद्वत्समागम प्रेमी था। कल्हण ने उसे भरतानुगामी तथा नृत्य, गीत एवं शास्त्र पारंगत कहा है[1]। उसने क्षीर नामक उपाध्याय से शास्त्रों का अध्ययन किया था[2]। उस शुद्धधी राजा ने अपने साथ किसी भूपति की स्पर्द्धा[3] को क्षमा नहीं किया और विद्वानों के साथ अपनी स्पर्धा का आदर करता था। उस समय राजा की अपेक्षा पण्डित उपाधि की अधिक ख्याति थी। राजा जयापीड ने देशदेशान्तर के विद्वानों को अपने[4] यहां शरण दिया था कि अन्य राजाओं के राज्य विद्वानों से शून्य हो गये।

राजा जयापीड ने मंत्री शुक्रदन्त के भक्तशाला के अध्यक्ष थविक्य को उनके अप्रतिम वैदुष्य के कारण सम्मानित व वर्धित किया। उनकी सभा में कुट्टनीमत के प्रणेता दामोदरगुप्त नामक कवि था जिसे राजा ने योग्यता के कारण अपना मुख्य सचिव नियुक्त किया। उनकी सभा में मनोरथ, शंखदत्त, चटक संधिमान तथा

१- भरतानुगमालक्ष्य नृत्यगीतादिशास्त्रवित्।
ततो देव गृह द्वार शिला मध्यास्त स क्षणम्।।—राजतरंगिणी, ४।४२३।

२- क्षीराभिधात्सकतिपशोध्यायात् संभृत श्रुतः।
बुधैः सह ययौ वृद्धिं स जयापीड पण्डितः।।— राजतरंगिणी, ४।४८६।

३- भूपतेरात्मना स्पर्धां चक्षमे न स कस्यचित्।
आत्मनस्तु बुधैः स्पर्धाः शुद्धधीर्बह्वमन्यत्।।— राजतरंगिणी, ४।४९०।

४- समग्रहीन्तथा राजा सो न्विष्य निखिलान् बुधान्।
विद्वद्दुर्भिक्षमभवत् यथा अन्यनृपमण्डले।।—राजतरंगिणी, ४।४९३।

वामनादि मंत्री थे[१]। इस प्रकार राजा जयापीड की सभा विद्वानों एवं कवियों से भरी पड़ी थी । कुट्टनीमत के प्रणेता दमोदर गुप्त और रीतिवाद के पूवर्तक आचार्य वामन भी राजा जयापीड की सभा की शोभा बढ़ा रहे थे । इस प्रकार जिस विद्वत्सभा के सभापति आचार्य उद्भट थे उसमें अनेक प्रकाण्ड विद्वान् एवं आचार्य थे ।

उद्भग और वामन समसामयिक थे । वामन ने काव्यालंकारसूत्रवृत्ति का प्रणयन किया । जयापीड के मंत्री वामन को विद्वानों का एक वर्ग पाणिनीय व्याकरण की काशिकावृत्ति का लेखक मानता है । प्रोफेसर व्यूलर ने काश्मीर की एक परम्परा का उल्लेख किया है जो गत शताब्दी में प्रचलित थी । व्यूलर की इस परम्परा में वामन भी हैं, जिन्हें उन्होंने काशिकावृत्ति का लेखक माना है । प्रोफेसर विल्सन का मत है कि वामन ने केवल काव्यालंकारसूत्रवृत्ति का ही प्रणयन किया था । काशिकावृत्ति पाणिनी की अष्टाध्यायी पर सातवीं शताब्दी में लिखी गयी प्रसिद्ध कृति है । इसमें अनेक सूत्रों की वृत्तियां, उनके उदाहरण पूर्वकालीन आचार्यों की वृत्तियों से दिये गये हैं । महाभाष्य का प्रतिपादन करते हुए उससे भिन्न मत का भी प्रतिपादन किया गया है । पुरातन वृत्तिकारों के मतों तथा उनके नामों को जानने का यह एक बहुत बड़ा साधन है । काशिका के प्रकाशक बालशास्त्री का मत है कि काशिका का रचनाकार बौद्ध था क्योंकि उसने मंगलाचरण नहीं लिखा है एवं सूत्रों में परिवर्तन किया है । काशिकावृत्ति जयादित्य एवं वामन की संयुक्त कृति है । चीनी पर्यटक इत्सिंग (सन् ६९०ई०) तथा भाषावृत्ति अर्थवृत्ति के लेखक सृष्टिधराचार्य ने काशिका को जयादित्य एवं वामन की रचना कहा है । अनेक पुरातन विद्वानों ने काशिकावृत्ति का उद्धरण देते हुए जयादित्य और वामन दोनों का उल्लेख किया है । प्रौढ़मनोरमा की शब्दरत्न व्याख्या में प्रथम से पंचम तक जयादित्य विरचित तथा अन्त के तीन अध्याय वामन की रचना कहा गया है । इस प्रकार वामन भी उद्भट का समकालीन था ।

१- मनोरथः शंखदत्तः चटकः संधिमान्स्तथा ।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मंत्रिणः ।।— राजतरंगिणी, ४।४९७ ।

राजा जयापीड़ की सभा में उद्भट ही एक ऐसा विद्वान् था जिसका बहुत ही महत्व था । वह राजा की सभा का सभापति था तथा उसका वेतन प्रतिदिन एक लक्ष दीनार था । निश्चय ही यही उद्भट काव्यालंकार सार संग्रह के प्रणेता हैं। इस निश्चय के एक नहीं अपितु अनेकविध प्रमाण हैं। आनन्दवर्धन ने इन्हें सादर अनेक स्थलों पर उद्धृत किया है जिससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन से पूर्व तो इनकी स्थिति थी ही।[1] राजतरंगिणी से यह ज्ञात होता है कि आनन्दवर्धन काश्मीर राज अवन्तिवर्मा के सभासद थे।[2] काश्मीरराज अवन्तिवर्मा का काल ८५७-८८४ई० है। इस प्रकार उद्भट आनन्दवर्धन से पूर्ववर्ती हैं। उद्भट ने भामह पर भामह विवरण नामक टीका लिखी थी। इसके अलावा उद्भट ने काव्यालंकारसार संग्रह में जिन अलंकारों का विवेचन किया है; उन पर भामह का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है अतः उनका काल भामह के बाद ही रखा जाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। भामह का समय लगभग ७००ई० के माना गया है। अतः निश्चय ही उद्भट को ७५०ई० से पूर्व नहीं रखा जा सकता। आनन्दवर्धन नवम् शतक के उत्तरार्ध के हैं। उद्भट को भी नवम् शतक के उत्तरार्ध से पूर्व ही रखा जा सकता है। सद्गुरु संतान परिमल में यह उल्लेख है कि—

देवीरस्वामिमनोरथेशवटश्रीसंधिमच्छङ्कुकः ।
श्रीदामोदरद्धन्यवामनमहोपाध्यायमुख्यान् कवीन् ।।
अष्टावप्यभिभूयदुर्जनतया भट्टोद्भटो प्रत्यहं ।
यो दीनारकलक्षवेतनवहः कोऽस्याग्रतस्सोऽप्यभूत ।।
ददेप्यच्छुभदन्तोद्भटनवभिपटानुबुद्धबुद्धाध्वमुद्धा ।
स्वादप्रोदस्तवेदादृतिरथसजयापीड सम्राडपि द्राक् ।।

१- अन्यत्र वाचकत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तभ्रभवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः ।— ध्वन्यालोक ।

२- मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्द वर्धनः ।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्ये वन्तिवर्मणः ।।— राज०, ५।३४ ।

यद्वागुद्भूतबोधश्श्रुतिमयवपुषः शारदायाः पुरस्ताद् ।
पीठे सर्वज्ञयोग्ये विदधदधि पदच्छायमाचार्यमर्च्यं ।।[1]

सद्गुरुसन्तान परिमल की उक्त पंक्तियां श्री कृष्णमाचारी ने अपनी पुस्तक में उल्लिखित किया है।[2] उक्त पंक्तियों से यह विदित होता है कि एक अभिनवशंकर घोरशंकर नाम का विद्वान् हुआ । वह विश्वजीत का पुत्र था । उसका जन्म ७८७ ई० में हुआ था । वह प्रचण्ड विद्वान् था और कामकोटि मठ का ३८ वर्षों तक पीठाधीश्वर रहा । वह काश्मीर भी गया था जहां उसने उद्भटादि विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था । इन पंक्तियों से यह निभ्रान्ति रूप से सिद्ध होता है कि ७८७ई० के आसपास राजा जयापीड के सभापण्डितों की मण्डली विद्यमान् थी । उद्भट भी उस अवधि में राजा की विद्वत्सभा के सभापति के पद पर श्रीमण्डित थे । काश्मीर की परम्परा उद्भट को विद्वान् पण्डित के रूप में जयापीड का सभापति मानती है । ७७६-८१३ तक शासनारूढ़ जयापीड का इन्हें समसामयिक माना जाता है । निष्कर्ष यह है कि उद्भट का समय ७५०-८५० के बीच निर्धारित करना युक्त-संगत प्रतीत होता है ।

इस प्रकार आचार्य उद्भट का समय निर्विवाद रूप से निर्णीत हो जाता है । आचार्य के जीवनवृत्त के विषय में आज तक कोई सूत्र उपलब्ध नहीं हो सका, अस्तु उनका जीवन आज भी तिमिराच्छन्न है और उस पर कोई विवेचना देना दुष्कर कार्य है । आचार्य उद्भट की कई कृतियों का पता चलता है । उनकी कृतियों में काव्यालंकारसार संग्रह ही उपलब्ध होता है । इसके अतिरिक्त उन्होंने भामह विवरण एवं कुमार संभव नामक दो व्याख्यात्मक एवं काव्यात्मक ग्रन्थ लिखे । संगीतरत्नाकर में यह भी उल्लेख आया है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर टीका भी लिखी थी । कुमारसंभव तथा भामह विवरण के विषय में टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज से पता

१- सद्गुरुसन्तान परिमल ।

२- History of Sanskrit Literature: M. Krishnamachari, p. 323.

चलता है । प्रतिहारेन्दुराज के अलावा अनेक स्थलों पर विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों से भी उनकी अन्य कृतियों के विषय में पता चलता है । उद्भट की विविध काव्यशास्त्रीय मान्यताओं का एकत्र उल्लेख काव्यालंकारसार संग्रह में उपलब्ध नहीं होता । वस्तुत: उद्भट ने काव्यालंकारसार संग्रह के अतिरिक्त अन्य अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है । वह भामह विवरण हो या अन्य कोई ग्रन्थ । रस गंगाधरकार, रुय्यक, मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा प्रदत्त उद्भट के उद्धरणों से उनकी अन्य अलंकारशास्त्रीय कृतियों के विषय में पता चलता है । जहां तक उद्भट प्रणीत कुमारसंभव का प्रश्न है, उसके उद्धरण उद्भट प्रणीत काव्यालंकारसार संग्रह में उपलब्ध होते हैं । जहां तक उद्भट के नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार होने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कथन है कि उसके प्रणेता कोई अन्य उद्भट हैं । इन लोगों का यह तर्क है कि उद्भट अलंकारवादी आचार्य हैं । समूचे काव्यशास्त्र पर उद्भट के अलंकारवादी व्यक्तित्व की ही छाप है, उन्होंने काव्य में शब्दार्थ धर्म को ही महत्व दिया है । रस जैसे तत्व को उन्होंने रसवद अलंकार में रखकर उसे गौण स्थान दिया है । वे अलंकारवादी भामह के अनुयायी भी हैं, ऐसी परिस्थिति में उक्त मान्यताओं से समन्वित व्यक्तित्व वाले उद्भट रस प्रवण भरत के व्याख्याकार कैसे हो सकते हैं । परन्तु उद्भट जब 'नवनाट्य रसास्मृता:' कहते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य काव्य में रस प्रधानता उन्हें भी अभीप्सित है, भले ही श्रव्य काव्य के अन्तर्गत उन्होंने रस को रसवत् में समाहित कर लिया है । अस्तु विद्वानों का उक्त तर्क समीचीन नहीं प्रतीत होता और उद्भट नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार प्रतीत होते हैं । उद्भटादि प्राचीन आचार्य भरत के विरोध में किसी भिन्न सम्प्रदाय के प्रचारक नहीं हो सकते और न ही उन्हें दृश्यकाव्य में रस प्राधान्य का विरोधी कहा जा सकता है । भामहादि आचार्यों ने मुख्यरूप से श्रव्यकाव्य पर विचार किया है । नाट्य पर अन्यत्र विचार हो चुका था । इस प्रकार चूंकि उद्भट भी श्रव्य काव्य की धारा के उन्नेता हैं अत: विद्वत्सम्प्रदाय सम्भवत: उनको नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार स्वीकार करने में हिचकिचाहट का अनुभव करता है परन्तु यह धारणा उचित नहीं प्रतीत होती और उद्भट को भरत का विरोधी कह कर

उनके नाट्यशास्त्रीय व्याख्याता होने की बात का विरोध करना उचित नहीं है।

इसके अतिरिक्त उद्भट के नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार होने के अनेक तर्क मिलते हैं। अभिनव भारती में यत्र-तत्र विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों से उनकी नाट्यशास्त्र की व्याख्यातृता सिद्ध होती है। अभिनव भारती में उद्भट से समादृत पाठभेद तथा तदनुरूप व्याख्याएं स्थल-स्थल पर मिलती हैं। जहां लोल्लट और उद्भट द्वारा गृहीत पाठभेद में वैमत्य दृष्टिगोचर होता है, वहां अभिनवगुप्त प्रायः उद्भट द्वारा गृहीत पाठभेद को ही प्रधानता देते हैं। कुन्तक ने भी रसवदलंकार के निरूपण में उद्भट का पर्याप्त उपहास किया है। इससे भी उद्भट की व्याख्यातृता सिद्ध होती है। दशरूपककार धनन्जय ने चार ही वृत्तियों को मानते हुए उद्भटानुयायियों की पांचवीं वृत्ति अस्वीकार की है और कहा है कि "नार्थ वृत्तिरतःपरा"। नाट्यमाता वृत्तियों पर भी किये गये उद्भट के विचारों से यह विदित होता है कि वे नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। नाट्यमाता वृत्तियों की सम्भावना की विवेचना न तो कुमारसंभव में की जा सकती है, न भामह विवरण में और न ही काव्यालंकारसार संग्रह में। भोज ने भी श्रृंगार प्रकाश में औद्भट मत को ही मन में रखकर दशरूपोपयोगी पंचवृत्तियों का उल्लेख करते हुए कहा है कि पांचवीं वृत्ति मिश्र नामक अर्थवृत्ति है। भरत ने इस वृत्ति का उल्लेख नहीं किया है और इसके अतिरिक्त धनन्जय ने भी उसका खण्डन किया है। शारदातनय ने अपने 'भाव प्रकाशन' नामक ग्रन्थ में भोज एवं धनन्जय के मत की व्याख्या की है। निष्कर्ष यह है कि इन सब तर्कों के आधार पर उद्भट को नाट्यशास्त्र का व्याख्याता मानना युक्तसंगत प्रतीत होता है।

श्री एन०डी० बनहट्टी ने काव्यालंकार सार संग्रह की भूमिका में ब्यूलर के कथन का उल्लेख किया है जिसमें उन्होंने उद्भट पर कटाक्ष करते हुए लिखा है—

"The oldest text books on alankara, those of Bhamaha and Bhattanayaka have been lost; but a great number afe still extant, the earliest of which belong to the times of king Jayapida 779-813 A.D. One of these, the Alankarsastra of Bhatta

Udbhata, I found to gether with a commentary of Pratiharrenduraj, in Jesalmir of this Bhattodbhata, Kalhana says that he was Jayapid's Sabhapati or Chief Pandit and that he was paid daily a lakh of Dinaras. It is to be regretted that the reciepient of such manificent pay did not write a more extensive book and did not give us extracts from contemporaneous poets. He has only composed a short treatise on Alankara or ornaments to be used in poetry and most egoistically takes his examples from his own work, a Kumarsambhawa".[1]

परन्तु इस स्थल पर प्रो० व्यूलर की उक्त टिप्पणी समीचीन नहीं प्रतीत होती। हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद यदि उद्भट की किसी अन्य कृति का पता नहीं चलता तो इसमें उद्भट का दोष नहीं है। आज तक शोधकों की निगाह में उद्भट की केवल एक ही कृति आ सकी है। इतने बड़े अन्तराल के पश्चात् आज हम उद्भट की रचनाओं की मीमांसा करने बैठे हैं, उनकी तमाम कृतियां काल के गर्त में समाहित हो गयी हैं। परन्तु काव्यशास्त्र में इतस्तत: विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों से यह विदित होता है कि वे सामान्य आचार्य नहीं थे अपितु अप्रतिम प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उद्भट के ऊपर इस प्रकार की असंगत एवं हास्यास्पद टिप्पणी करना कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता। जहां तक अपने ही काव्यग्रन्थ से अलंकारों का उदाहरण देने का प्रश्न है, इस प्रकार की मनोवृत्ति प्राय: सभी आचार्यों में रही है। दण्डी, भामह, रूद्रट और जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने कमोवेश इस मनोवृत्ति का अनुसरण किया है।

उद्भट अपने समय के एक मान्य आलंकारिक थे। इनकी मान्यताओं से प्रभावित एक सम्प्रदाय ही था जो औद्भट सम्प्रदाय के नाम से काव्यशास्त्र में विख्यात

1. M.D. Bankatti, p. 11-12.

है। लोचनकार ने एक स्थल पर कहा है 'उद्भट मतानुसारिणस्तु भवत्वा व्याचक्षते'। अनेक मान्यतम आचार्यों ने अनेकविध विशेषणों से उद्भट का स्मरण किया है और बड़े ही संभ्रमपूर्वक उनके द्वारा प्रतिपादित मान्यताओं का खण्डन-मण्डन किया है। इससे उनके गरिमामय व्यक्तित्व का पता चलता है। ध्वन्यालोककार उनके लिए तत्र भवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः कहते हैं। अलंकार सर्वस्वकार ने 'इहहि तावद्भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालंकार कारा' कहकर चिरन्तन आलंकारिकों के बीच उनका सादर स्मरण किया है। व्यक्ति विवेक की टीका में उन्हें अलंकारतंत्र प्रजापति के नाम से विभूषित किया गया है। अनेकानेक परवर्ती आचार्यों ने उद्भट को उद्धृत किया है, यद्यपि कुछ लोगों ने खण्डनार्थ उद्धृत किया है, पर ध्यान देने की बात यह है कि खण्डन भी बड़े आचार्य उसी विद्वान का करते हैं जिनके व्यक्तित्व और विचारों में कुछ सार होता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय उद्भट की समस्त कृतियां उन विद्वानों के समक्ष थी और निःसन्देह उस समय उद्भट की प्रतिभा की बड़ी धाक थी। अनेक लोगों ने उनके स्वतंत्र विचार प्रवर्तकत्व तथा काव्यक्रियाशिक्षणपाटव का उल्लेखपूर्वक प्रशंसन किया है। उद्भट भामह के परवर्ती अवश्य हैं परन्तु उनमें भामह के सर्वत्र अन्धानुकरण की प्रवृत्ति नहीं है। उन्होंने काव्यालंकारसार संग्रह में भामह स्वीकृत कतिपय अलंकारों को अस्वीकार कर दिया है और कतिपय को स्वीकार करके भी उनमें अपनी मेधा के अनुसार परिवर्तन एवं संशोधन किया है। इन संशोधित अलंकारों को मम्मट जैसे समर्थ आचार्यों ने मान्यता प्रदान की है और साथ ही साथ अपने ग्रन्थ में सादर ग्रहण किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट का आचार्यमय व्यक्तित्व सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उद्भट की ऐसी धाक थी कि इन्द्रराज ने बड़ी निर्भीकता एवं आस्था के साथ उनका समर्थन किया है।

आचार्य उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर 'विवृत्ति' या 'विवरण' नाम की टीका भी लिखी है। यह टीका सम्प्रति प्राप्त नहीं है फिर भी काव्य-शास्त्र में यत्र-तत्र विकीर्ण उद्भट की मान्यताओं से उसके विषय में पता चलता है। श्री रामास्वामी जी का विचार है कि यद्यपि कुमारसंभव से भी कम अंश में आज भामह

विवरण उपलब्ध है फिर भी निश्चय ही यह ग्रन्थ बहुत प्रौढ़ तथा विस्तृत रहा होगा। उनका तो यह भी अनुमान है कि हो सकता है काव्यालंकारसार संग्रह उसी का संक्षिप्त रूप हो। इस प्रकार उद्‌भट की चार कृतियों के विषय में पता चल चुका है— (१) भामह.विवरण, (२) काव्यालंकारसार संग्रह, (३) कुमारसंभव, और (४) नाट्यशास्त्र की टीका।

(१) भामह विवरण

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उद्‌भट ने भामह के काव्यालंकार पर भामह विवरण नामक टीका लिखी है। यद्यपि यह टीका सम्प्रति उपलब्ध नहीं है फिर भी काव्यशास्त्र में इतस्ततः उपलब्ध उद्‌भट की मान्यताओं से इस टीका के विषय में जानकारी हासिल की जा सकती है। उद्‌भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने रूपक प्रकरण में भामह विवरण का उल्लेख करते हुए कहा है— ऐक देशवृत्तीत्यत्र हि एकदा अन्यथा ईशःप्रभाविष्णुर्यो वाक्यार्थ स्तद्‌वृत्तित्वं रूपकस्याभिगतम् विशेषोवित लक्षणो च भामह विवरणो भट्टोद्‌भटेन एक देश शब्द एवं व्याख्यातो यथेहास्याभिनिरूपितः। तत्र विशेषोक्ति लक्षणं-एक देशस्य विगमे या गुणान्तर संस्तुतिः। विशेष प्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा[१]। प्रतिहारेन्दुराज ने रसवद्‌लंकार की व्याख्या में भामह विवरण में उल्लिखित उद्‌भट के मत का सन्दर्भ देते हुए कहा है— एषां शृङ्गारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति। यदुक्तं भट्टोद्‌भटेन पंचरूपा रसाः' इति। तत्र स्वस्वशब्दाः शृङ्गारादेर्वाचकाः शृङ्गारादयः शब्दाः[२]। इस प्रकार उद्‌भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज की टीका से उद्‌भट के भामह विवरण के विषय में पता चलता है।

बाद के आचार्यों ने भी भामह विवरण में प्रदत्त उद्‌भट की मान्यताओं का उल्लेख किया है और बड़े ही संभ्रमपूर्वक उनका खण्डन-मण्डन किया है। आचार्य

१- काव्यालंकारसार संग्रह, लघुवृत्ति २७५।
२- वही, ३५५।

अभिनवगुप्त ने अधोलिखित स्थलों पर उद्भट के भामह विवरण का उल्लेख किया है—

(१) भामहोक्तं शब्दश्छन्दोभिधानार्थं इत्याभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधानमभिधा व्यापार: मुख्यो गुणवृत्तिश्च।[1]

(२) यत्तु विवरणकृत् दीपकस्य सर्वत्रोपमान्वयो स्तीति बहुनोदाहरण-प्रपञ्चेन विचारितवांस्तदनुपयोगि नितरां स प्रतिदीपं च।[2]

(३) लोचनकार ने उल्लेख किया है—

"आहूतोऽपि सहायैरोमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिक: संकोचं नैव शिथिलयति ।।"[3]

शीतकृता खल्वार्तिरत्र निमित्तमिति भट्टोद्भट:।

आचार्य हेमचन्द्र ने विवेक में उद्भट की मान्यताओं का उल्लेख किया है। उन्होंने रसवत् के प्रकरण में उद्भट के भामह विवरण में प्रदत्त उनकी मान्यता का उल्लेख करते हुए कहा है— एतेन रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृङ्गारादिरसोदयम्। स्वशब्द ..... स्पदम्।। इत्येतद्व्याख्यानावसरे यद् भट्टोद्भटेन 'पञ्चरूपा रसा' इत्युपगम्य स्वशब्दा: श्रृङ्गारादेर्वाचका: श्रृङ्गारादय: शब्दा: इत्युक्तं तत्प्रतिक्षिप्तम्।[4] इसी प्रकार हेमचन्द्र ने गुणालंकारैक्य का भी खण्डन करते हुए कहा है, "एतावता शौर्यादि-सदृशा गुणा: केयूरादितुल्या अलंकारा इति विवेकमुक्त्वा संयोग समवायाभ्यां शौर्यादीनामस्ति भेद: इह तु उभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय तस्माद् गड्डरिका प्रवाहेण गुणालंकारभेद:" इति भामह विवरणे यद् भट्टोद्भटो व्यधात् तन्निरस्तम्।[5] इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने विवेक में आचार्य उद्भट के मत का उल्लेख किया है। आचार्य उद्भट की ये मान्यताएं भामह विवरण में उल्लिखित हैं।

आचार्य माणिक्यचन्द्र ने काव्यप्रकाश की सङ्केत नामक टीका में रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करते हुए लिखा है— एतेन श्रृङ्गारादय: शब्दा: श्रृङ्गारादेर्वाचका:

१- लोचन
२- लोचन
३- लोचन
४- हेमचन्द्र-विवेक, ११०।
५- वही, १६।

इत्युद्भट मतं निरस्तम्[१]। इसी प्रकार उन्होंने गुणालंकारैक्य की आलोचना करते हुए लिखा है— "शब्दार्थालंकाराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामहवृत्तौ भट्टोद्भटस्य भणनमस्तु"[२]। आचार्य सोमेश्वर की अलङ्कार सर्वस्व की समुद्रबन्धटीका में भामह विवरण के विषय में अधोलिखित उल्लेख प्राप्त होते हैं:-

(१) एतेन रसवत्.....स्पदमित्यस्य व्याख्यायां पंचरूपा रसा तत्र स्वशब्दा: शृङ्गारादेवचिका इत्युद्भटोक्तं निरस्तम्[३]।

(२) उद्भटेन च काव्यालंकारविवृतौ सत्कवित्व विरहितायां विदग्धतायां अस्थैर्यस्य शोभनस्य च प्रतिपादनायां निदर्शनद्वयमिति वदता का श्रीरित्यस्य श्रीरस्यितेत्यर्थो भिहित:[४]।

इस प्रकार काव्यशास्त्र में वर्तमान् विभिन्न उल्लेखों के माध्यम से भामह विवरण के विषय में ज्ञात होता है। सन् १९६० में पाकिस्तान के काफिरकोह नामक स्थान से शारदालिपि में कुछ फटी पुरानी हस्तलिपियां प्राप्त हुईं। इन हस्तलिपियों के टुकड़ों को पाकिस्तान पुरातत्व विभाग के निर्देशक श्री एफ०ए० खान ने प्रो० टुच्ची के पास भेजा। ये हस्तलिपियां अत्यन्त ही जीर्णशीर्ण अवस्था में थीं और अधिकांश जल गयी थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जब विदेशी आक्रान्ताओं ने भारत की बहुमूल्य पुस्तकों को नष्ट करना शुरू किया तो उद्भट की कृतियां भी उनके क्रोध का शिकार बनीं। प्रो० टुच्ची ने दो वर्षों के अथक परिश्रम के बाद इन हस्तलिपियों का सम्पादन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यही आचार्य उद्भट की प्रख्यात टीका भामह विवरण है। परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् डा० वी०राघवन ने अक्टूबर, १९६१ में श्रीनगर में २१वें अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में इन हस्तलिपियों को भामह विवरण नहीं माना है। उन्होंने कहा कि अगर हम ऐसा मान लेते हैं तो यह २०वीं शताब्दी की सबसे बड़ी खोज होगी।

१- का०प्र०सङ्केत, २९९।
२- तदैव।
३- अलङ्कारसर्वस्वसमुद्रबन्ध टीका।
४- तदैव।

प्रो० टुच्ची द्वारा सम्पादित इन हस्तलिपियों को इस स्थल पर अविकल रूप से देकर उन पर विस्तृत विचार-विमर्श करना आवश्यक है तथा प्रो० टुच्ची की उन मान्यताओं का भी उल्लेख कर देना आवश्यक है, जिनके आधार पर वे इन पाण्डुलिपियों को उद्भट का भामह विवरण मानते हैं। एतन्निमित्त अधोलिखित चिह्नों को ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक होगा:-

(i) संपादक के द्वारा जोड़ा हुआ संशोधन
(ii) +_ खोये हुए अक्षरों का द्योतक
(iii) । । यह खो गयी शुरुआतों तथा पंक्तियों की समाप्ति का द्योतक है।
(iv) --- तीन बिन्दु फ्रैगमेन्ट में खोये हुए अनेक पंक्तियों का द्योतन करते हैं।
(v) - एक बिन्दु किसी अक्षर के एक भाग का द्योतक है।
(vi) — अधोरेखांकित पंक्तियां सन्देहास्पद हैं।
(vii) फ्रैगमेन्ट के दोनों तह क्रमशः 'अ' और 'ब' द्वारा चिह्नित किये गये हैं।
(viii) ।। ।।- भामह की कारिका

अब इन चिह्नों के आधार पर प्राप्त फ्रैगमेन्ट्स को यथावत अविकल रूप से देवनागरी लिपि में प्रकृत स्थल पर उल्लिखित कर देना समीचीन प्रतीत होता है। उनका क्रमवार उल्लेख अधोलिखित प्रकार से है:-

फ्रैगमेन्ट सं० १

(अ)	(ब)
१- । + ज्योतिर्भासिताल॰ क ।	१- । + त्र इति॰ ।
२- । रः क्रियायां च ।	२- । मादिषु वैचक्षण्यम् ।।१-२।। ।
३- । ।। ऊं प्रणम्य सार्वम् ।।१।। ।	३- । बनात् । न हि अन्यार्थत्वे ।
४- ।॰ आजनद +	४- । + स्यास्य प्रयोजनव ।
५- । +॰ ए॰ इ ।	५- । मादिषु वैचक्ष ।।१-२।। ।

फ्रैगमेन्ट सं० २

(अ)		(ब)	
१-	काव्यन्	१-	ह फ ल य
२-	म् तथा इ	२-	म् आव्यनि

फ्रैगमेन्ट सं० ३

(अ)		(ब)	
१-	पुरु	१-	य त
२-	ज ज्योत्स्न	२-	तव्यम् किन्तु

फ्रैगमेन्ट सं० ४

(अ)		(ब)	
१-	य	१-	ति य
२-	ना इ		
३-	का		

फ्रैगमेन्ट सं० ५

(अ)		(ब)	
१-	त् । एवम्	१-	औव्यव

फ्रैगमेन्ट सं० ६

(अ)		(ब)	
१-	किरै	१-	त्कि इ

फ्रैगमेन्ट सं० ७

(अ)		(ब)	
१-	क	१-	य य

फ्रैगमेन्ट सं० ८

(अ)		(बं)	
१-	घर्मादिषु मुख्येष्वपि	१-	द्• व्याख्यायत•
२-	व्याख्यानम् श्रेय: प्र	२-	सत्कवे: काव्यानि कु
३-	प्रयोजनेन ल्•	३-	किञ्चिद् कासम्बद्धम् र

फ्रैगमेन्ट सं० ६

(अ)		(ब)	
१-	था । न दानेन न मान•	१-	तत्रापि उक्त: नमस्तुह
२-	वाच शब्दयोगिनो य	२-	वर रानाद्विगमो
३-	भिधाव्यापार: क्वचिद्•	३-	•त• गत त्रसुशत्रुम्• ह
४-	शब्दशास्त्रैरिति	४-	ते थैषु सत्शुद्धि• क्षि
५-	च छ व्दशास्त्रम् स कृ कृत्वा य वहु	५-	परिपुष्टस तु । व य• हा
६-	शास्त्रश्रवणमन्तरेण•	६-	श्यामयामशेषमृज्योत्स्ना
७-	पतिकाव्यकरणस्य । अ	७-	रम्भैते श्लोक: अत्र
८-	स•	८-	र्थ: न चात्रेदम् वक्तव्यम्

१- भोज ने शृङ्गारप्रकाश (पृ० २४६) पर इस श्लोक को इस प्रकार उद्धृत किया है:-

"न दानेन न मानेन न शाठ्येन न सेवया ।
न शास्त्रेण न हृयास्ता: सर्वथा किमिव स्त्रिय:।।"

भोज ने इसे अभिधीयमानार्थ के रूप में उद्धृत किया है। वह न तो विधि है और न निषेध अर्थात् अविधिनिषेधरूपा है। हितोपदेश में इसे इस प्रकार दिया गया है:-

"न दानेन न मानेन नार्जवेन न सेवया ।
न शस्त्रेण न शास्त्रेण विषमा सर्वथा स्त्रिय:।।"

फ्रैगमेन्ट सं० १०

(अ)

१- ++++ परिज्ञाने प्रयतितव्यं इति अस्ममति प्रसंगेन | + त्रां श + षु
२- हासाश्रया: क्था | लोकों युक्ति: कलाश्चेति मन्तव्या: काव्य हेतव:
।।   ।। एषां काव्यो
३- + + + अभिधानाथा: शब्दानां अथा: यै: • र + स्य एतदेवमुक्ता + अत्रपद
४- युज्यमानत्वाच्छब्दाथां ना सम्बन्धिनो लभ्यत इति अभिधाग्रहण
+ + + • इ + इ
५- पर्वतादेति देवदत्त: एति जीवन्तमानन्दो नरं व र्षशतादपि[१]
इति गुणवृत्ति: +-
६- निरस्तधैर्यं राधेयं आराधित जामदग्न्यम्[२] । असं स्तुतेषु
प्रसभं भयेषु जायेत्
७- कर्तृभेदान् नास्ति क्त्वा प्रत्यय: अथ पदापतनक्रियातो ++++ क्रिया +++
त्वम् तदा
८- घटते षाष्ठ्याभिहितस्य कर्तु: पदापातक्रियेवैव सम्बन्ध इ ष्यते |
न निरीक्षण क्रियया

(ब)

१- असम्भाविनाम् + त• इयनिबन्धपर्यालोचनेन मतानि अव गमय
२- क्षणम् काव्य + + + गिन + + सानाम् । तेनाशभिनम् काव्यम् + + + +
प्रधान•

१- यह श्लोक रामायण सुन्दरकाण्ड से उद्धृत है । इसकी पहली पंक्ति इस प्रकार है- "कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे"। (५।३४) ।

२- यह श्लोक किरातार्जुनीयम् के तृतीय सर्ग से उद्धृत है । समूचा श्लोक इस प्रकार है:-

"निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपात: ।।" (३।२१)

३- + म् अवादि + + + विलक्षणा हि काव्येन दुष्कृतेनैव निन्द्यते ।। ।-।। ||
प्र + + + न क॰ + म् अपि प
४- ना न काव्य॰ + दुष्कृतेनैव कुपुत्रै नैव निन्द्यते क + + न +॰ इ
५- दण्डनाय वा | कुकवित्वं पुनस्साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिण: ।। १-१२।।
६- + + + तेन च कविम्रियते सर्वेषां उत्पद्यन्तारम् एव + +
७- + + मरण (म् पण्डित: प्रवदन्ति | असाधुनि हि क:
८- + + काव्यनिबन्धन एवादर: कर्तव्य: स च -+ + पदार्थ

फ्रैगमेन्ट सं० ११

(अ)

१- जात: कथंचन || १-२६ || अ
२- न हि जाता नायक: प्राप्त
३- था या धीर प्रशान्तो ना य क. त॰
क्षिया मिक॰
४- गाम्भीर्य गुणस्यो त्क र्षेण |
यस्य +
५- ।। ।। + द॰ + +
६- ह
७- था॰ म्

(ब)

१- हा क +
२- काव्य
३- + म् आत्मनि + + य + +
वदिाप्त
४- दयाधास्तिप्रशान्ता म
५- + र॰ पीत्कारशब्दचकि
६- विल्कु + श्लाघाच:
७- साम् एक वाक्यम् त्वेकल

फ्रैगमेन्ट सं० १२

(अ)

१- वैदर्भम् तदपि एवमेवापि
२- वृत्त्य: काव्यस्य कोमल॰
३- कापिकोमलै: ॰ इ
४- तेन वैदनाबन्ध
५- यणा नै व च
६- चर्यन्ते । ते

(ब)

१- आदिना प्र॰
२- ॰ यु॰ उक्तानुरूपा
३- देवता अग्निशिखे
४- स्येनाभिसम्बद्धो न चो
५- यम् एण यो उत्तर
६- भाणा वा योग्यतयोपमा

फ्रैगमेन्ट सं० १३

(अ)

१- थका गतानु ।।१-३२।।

२- ध्य प्रभेदा • य

३- यम् जामाद

(ब)

१- द् • एतत

२- दर्म + +• इ ह

३- द • अन्येतान्य

फ्रैगमेन्ट सं० १४

(अ)

१- यम् इदम् एतत्

२- थवक्करणाम् उक्तम दे

३- + + वैदर्भम् ।।१-३२।।इति|४

४- +++++ ह् प्रभेदम् +

५- ++ काव्य म् इत्यादि वैदर्भम् इति
क थ्य ते ।।१-३२।।

६- ++ ह् किन्त्वस्माकं वैदर्भ ये

७- ++ कामम् तथास्तु प्रायेण सशे ।।१-३३।।

८- ++ दिरूपाश्रयिणाम् काव्यस्य

(ब)

१- + + प्र-ह -+ ध्रीयात्|तस्मात्

२- + + तत्रैदमा ह ।।अपुष्टार्थ ।।१-३४।।

३- ++ त् |पश्चाभिधास्यमान: एतद् वि

४- ++++ लङ्कृति: अ

५- ++++ बन्धम् तथा

६- +++ श्रुति + च जा

७- लम् । गौडीयमपि ।।१-३५।।

८- आदैरवान्तराव_

फ्रैगमेन्ट सं० १५

(अ)

१- शे श ण प

२- र यायिदसन्निधि

३- क्लिष्टम् व्यवहितम् ।।१-४०।।
दाषि इति

४- सम्बन्धि सन्निधाने

५- हरणम् प्रतिलोमि•

६- सम्बन्धा दूरस्थस्यापिं त्

(ब)

१- रिसमाप्तेस्तथा च जा

२- यदि उपमा दोष

३- म् अपि हि चत्वायुपमा

४- रणीय: स च पञ्च:

५- वा | तत्राद्ये इति

६- णो + + +

फ्रैगमेन्ट सं० १६

(अ)

१- । क्व चिल्लक्षणमात्रं क्वचिदुदाहरणम्• ।
२- । तदन्यार्थं ननु नैवशब्द• + न्• य्• न्त् ।
३- । अस्वगोव्यादयाः शब्दाः साध वो विषयान्तरे इता ।[१]
४- । प्रे पि अप्रयोगात् । अ - इ - य दोषम् •• य• + पा• ओ ।
५- । सो पुनः शब्दार्थ सम्बन्ध प्रवृत्तौ• ।
६- । हृर ।। १-४० ।। इति एतत्. यमाणम् उपसर्ग +++++ त्व + क्त •वे + ।
७- । +। प्रा मुक्त्वा नाम् च निपातत्वम् उपसर्ग ++++ वीत ।
८- । + हम्. ++• ई + प्रसिद्धार्थप +• । • ++++ : अन्य ।

(ब)

१- । दो षाता | अवाचकव्याख्यानार्थम् आह ।
२- । इ ति हिमापहो वहिनः तस्यामित्रस् तो य ++ र्ण ++ ।
३- । मति | अपार्थं दोषाद् अस्याविशेषः• +++ रूढम् वाच्यर्थे ।।१-४१।। ।
४- । च्• +। अत एव न प्रहेलिकाशावस्याप्रयोगो न विहन्य ।
५- । वाः । तत्राम्रमहारोतवक्रवाकशुकादयः ।।१-४२।। जलम्यन्म + ।
६- । •आर्थम् हि दूषितम् + श + न्न्• चेदिमे दोष विशेषा ++ ।
७- । ।। अथाचो जलम्यत्प्रभृत्य• ++ व्यक्त्वा ।
८- । न कमिहानैन युक्तिमतो ।

१- उपर्युक्त पंक्तियां वाक्यपदीयम् की हैं जो निम्नवत् हैं:-

"अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ।।

— वाक्यपदीयम, १।१४६ ।

फ्रैगमेन्ट सं० १७

(अ)

१- । दि प्र + + + व्य इ ।

२- । द्• + + लभ्य नं् कात् ।

(ब)

१- । व्द • ए + + पशाव्दस्थ ।

२- । + श्रा + + द्• व् ।

फ्रैगमेन्ट सं० १८

(अ)

१- । न् •• ल् + ।

२- । सु• दा + यद्• + ।

(ब)

१- । त्सन्त इति य्• ।

फ्रैगमेन्ट सं० १९ (केवल एक ही फलक)

१- । ४ ।

२- पूर्व• र• त भूयस्त्व ++ न्• विन्यास ++ हृदय ।

३- । र् इत्याह | लाटीयमप्यनुप्रासं इहेच्छ न्त्यपरे यथा । दृष्टिं दृष्टि सुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुखोदित: ।।२-८।।

४- । णाम् विन्यास्• म• +• य• र्थ: दृष्टिम् दृष्टिसुखां धेहि चन्द्रश्चन्द्रमुख इति उदाहरर णाम् । हे चन्द्रमुखे ।

५- । ओ वा यस्यार्थभेदस्तदा यमकालङ्कारो र्थाभेदश्चेत् पुनरुक्ताभास: नैतद् ए ।

६- । आ• आसा + यथा । नररुधिररक्तनय + मितिशयशितिक + विग्रहम् वन्दे + णा ।

७- । यानर्थक: एतत् त्रितयम् अपि पुनरुक्ताभासं यथ | तथाभरणाभरणा + + यु ।

८- । द्वयोरेकार्थस्वरव्यञ्जनसमुदायोस्त्वयम् पुनरनर्थकरूपो च तत्रापि पुनरुक्ता ।

फ्रैगमेन्ट सं० २०

(अ)

१- । सन्दष्टकादिनामान्तरकरणम् ++++ प्रभेद॰ + दा ।

२- । घुना साधुना तेन राजता रा जताभृता । सहितं सहितं कर्तुम् ।। २ ।।

३- । त्वात् तच्चि + + सिता सै ।

(ब)

१- ।॰ तु॰॰ यू॰ दोष + ।

२- । दात: अन्तैनादियमने + + + +॰ यू सू॰॰ उ + तू॰ ।

३- । क॰ भूस्त्रिवारिशाङ्गम् गाङ्गम् नात्र कि +++++ चै क्या व: मैय ।

फ्रैगमेन्ट सं० २१

(अ)

१- । तत् |प्रथमद्वितीयपादाभ्यासोदाहरण ।

२- भ्यासोदाहरण म् र॰ व॰ चै॰ यू॰ घू॰ पुनरपि अनुसंगलम् प्र + +
सैनिक्यासुरशे + य ।

३- । भ्यासोदाहरणम् | रत्नाली ॰ भिमते॰ स्तुव॰ रद् ब्रैस सद्वेषान्
अनलसमान॰ आ + ता-सद्वेषान्॰॰॰ ।

४- । रा + धिप सावितरेणुकरेण व: । करिवरै: क्कुमस्समयैस्थित:
तद वलोक्य चने॰ उ ।

५- । यशोभिदुरालोके कोपधामरणाद् रू॰ मू॰ + यशोभिदुरालोकू॰ कोप ।

६- । +++ लङ्कते विविधमार्गे तव वृषमोचितधरैसम्॰ ।

७- । त्मनाभृतिपृथुलधाम्नो । सत्यपि पिबति घू ।

८- । पादाभ्यासोदहरणम् । परम् + नू॰ ।

९- । पुरुषोण राजता शभिमानेन राज ।

(ब)

१- । वतम् त्रिशिखम् अखलम् दधत् स ।

२- । सो + जाता ++ विसर्पिभिश्शासनस्॰ राजा + न + च ।

३- । दृश्यन्तेयथा ।। ॰यमलमाहुर्॰ + जगत्त्रय॰ ।

४- । + कृत + विवेश दूरावदातमवनेसू॰॰॰ खण्ड मौलो ।

५- । दनुम्॰ क्वमस ++++ या | संध्या यति शुशुभे प्रकाश्याप्रेत +++ रु ।

६- । स्य य: पा + वस्यानकृतावि +++ परिमेय: अथ कथंचि परिच्छेत्तुं
व: य॰ + ह: तदास्य ।

७- । । मुनोनपि हसन्ती रते रमणीयेषु संगता ।।२-१३।। तत्रयुक्त्या ।

८- । वारणा + न्धवताम् +++ युक्पाद स्योदाहरणा ।

फ्रैगमेन्ट सं० २२

(अ)

१- । त॰ मतत् न यमकलक्षणं प्रागुक्तं परिसमाप्त॰ ह +++ काल + र ।

२- । शब्दम् ओजस्वीति त + नयासुवृत्ति॰ ओ +++ न्वव यमक +++: काल+र ।

३- । ॰ह++++++॰ क॰पो ++ यन्नत ++++ सर्वो न भवतीति आह ।। नानाधा
।। २.१६।।

४- । दूष्य +++++॰ यु + पदपदार्थ सम्बन्धा ।

५- । राम शर्मणाच्युत्तोतरे यमकानि निबद्धा ।

६- । ++ च्चावितरामशर्माच्युतोत्तरौ। यमक व्यपदेशिनिप्रहेलिका ।

७- । ++ दृश्यन्ते । अत्यन्त गूढार्थतया स्वनिमित्तम् नानाधात्वर्थगम्भासि।।२-१६।।

८- । साधारणम् इत्थंभूतम् काव्यं आचह प्रत्यस्तमितलघुप्रयत्नतर ।

(ब)

१- । शास्त्रवत् । उत्सव: सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हत:[१] ।।२-२०।। यदि-काव्य
+ अरि ।

१- व्याख्यागम्यमिदं काव्यं उत्सव: सुधियामलम् ।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्प्रियतमया मया ।।— भट्टि, १२।३४ ।

२- । वत्सलात: न सुकुमारम तोनाम् काव्याभियोगानामत्र धि शब्दैव क ।

३- त्वमुपमेयस्य रूप्यते । गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदु: ।।२-२१।।

४- । श ब्दो धर्मिवाचो द्वितीयेनोपमानशब्देन तथा भूतेना नुपय ।

५- । स्वाभिधेया विना भूतगु ण वृत्ति ताम् नियमय ति अत एव च
भेदे पि अभेद प्रतीतिरियम् नायन्याय: ।

६- । आयन्ति सम्• ++ उभयानुयापि रूपकस्य च को विशेष इति तद् अत्यन्तं
असम्बद्धम् न हि सम्• ।

७- । वेषु ++++ त ++++ रे षु खड्गेषु को वा भवताम् मुरारि: ++• इ
रूपको पगमात् उ ।

८- । ⟨मयूर⟩ व्यंसकादित्वात् एव शकलोपी समासो रूपकत्वे । व्याघ्रादिद•
++++ पि समासो ।

फ्रैगमेन्ट सं० २३

(अ)

१- । ⟨उपमानम्⟩ प्रसिद्धमुपमेयं इति केचित् एतच्चयुक्तमुचन्द्रमुखादीनां उप ।

२- । पाण्डुना|नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता।। तेनप्राकरिक ।

३- । सायम् च यत् सहृदयानां हृदयहरम् तद इह मृग्यते लङ्कारे प्रकरणान्तरास ।

४- । विशेष णाम् एतच्च न युक्तम् मुख कमलादिषुपमाद्यु-प्- प्रसंगात् |
न हि तत्र + ह ।

५- + उक्त + तद् उच्यते- विरुद्धेनेति ।।२-३०।। तेन पुरुष इव पुरुष
इति सत्यपि पुरुष द्वयस्य पुरुष ।

६- - ++++| सर्वसायम् हि भावानां न संभवति तदर्थ ++ शुर्ये गुणले ।।२-३०।।

७- ++ । यथाहि ++• आ तच्चेति श्लोकेरचायम् असम्बद्ध- यदि ३ +++
परिगणनपरस्तवपि• ।

८- + न शब्दयोर्विशेषणम् निष्फलम् सर्व एव हि भाव भावान्तरेभ्यो
व्यतिरेकिन: । न हि अत्र यथैव ।

(ब)

१- उप + वाचक परिगणनम् रतन्न भवति किन्त्वेदत्र विधीय +• य॰ हि उपमा व ।

२- उप्रयोगे यत्त सायम् तदुभयानुयायित्वेन प्रतीयते श्रुत्या ल ++ इद एव दत ।

३- + इति• य: ++++ समानाधिकरण्यात् तत्रैव प्रतीयते + त वैयधिकरणात् + न्याय ।

४- शत। यथैव शव्दयोरभिधो यमानिवृदम् दर्शयति । इयम् त्वाक्व्वन्द + योपभाक्ता यत्र पुनर् ।

५- व्दाभ्यां समासाभिहितापरा | यथा कमलपत्राक्षी शशांकवदनेति च ।। २-३२ ।। यथैव ।

६- मसादे: प्रतीयत तदा सापि उपमावसैया समासशब्दश्चात्र संदेप पर्यय: अध्याये ।

७- यो पायम् ददाति अर्थिभ्यो उत्तारा न चार्थिनो वसति अन्तवरी सुदाति तान् अपेत्य <तथा> हुङ्कारे ।

८- ++++ सृजि निजालवचक भ्रान्तिमाजि: स्कन्धे विध्याद्रिबुध्या नि ।[१]

फ्रैगमेन्ट सं० २४

(अ)		(ब)	
१-	+ ति + रु॰ य॰ ।	१-	स्तूपमा नामोपमा | अ ।
२-	दिव्• ++ इत्याहा वतिनापि- क्रिया ।।२-३३।।	२-	सा यम् उभ्यात्वानुयापि- त्वेनशम्यते ।
३-	या साम्यम् उच्यते अव्ययीभावादिव वृ• ।	३-	+ रमेतत् ।। वद्यमाणोदाह- रणानि• ।
४-	न्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते।।२-३४।।	४-	स्वादुपाकफला ।।२-३६।।

१- यह श्लोक चण्डीशतक का है जो निम्नांकित प्रकार है:-

हुंकारे न्यक्कृतादन्वति महतिजिते शिंजितैर्नूपुरैरस्य ।
शिलष्यत्कूंगदाते पि दारदसृजि निजालक्तकभ्रान्ति भाजि ।
स्कन्धे विंध्याद्रिबुध्या निकषति महिषस्याहितो सून्
बहाणीदंसानादिव यस्याश्चरणइति शिवंसा शिवा व: करोतु ।।

पत्र सं० २५

(अ)

। + वादि शव्दे + ।

।• अपर्यय• + इ

(ब)

।ह + ज्ञा ।

। ।। साधु साधारणा । ।।-३५। ।

पत्र सं० २६

(अ)

१- । स्वक सास्थापनेच्छा ।

२- । नान्तरितम्मियम प्र +• इ ।

३- । ++ जालीम् विप्राणाम् आ + लक्चिप• श• ।

४- । स्तरौ वृथा ।। । ।।-३८ ।। सामान्यगुणौ सर्वभावानार्ह ।

५- । परौ ह्येयोपाद्येयोपैदा् + ।

६- । मानलक्षणा ।

७- । +• कृ• ।

(ब)

२- । नृ• ।

३- । दाहरणम् लक्ष् ।

४- । नोदिता: । सोदाहरणलक्षमाणा । ।।-४० । ।

५- । सु सेन्द्रायुधौ मेघ इवावभासे ।। । ११-४१ । सं मान्ता + ।

६- । हु: तम् शशिभूषणम् चन्द्र द्युतिम् सलील सविला सम् ।

७- । धनुमात्रिम् वा तत्प्रगृ ।

८- । म् आह । शक्चापग्र ।। ११-४२ ।। ।

पत्र सं० २७

१- ++++++ त्र चोत्यते । सर्व सर्वेण सारूप्य नास्ति भावस्य कास्यचित
।। ।।-४३।। ।

२- +++ तत्प्रतिकृत्• मृ• आ । वाप• श• ++ यो स्तु प्रकृत्यनुपमानात् अत्र ही ।

३- व॰ग्रह: अत्रोच्यते । इति दूषणापानावपृ रेमृ क्रस्यौति अत्र विकल्पत्व + प्र ।

४- ++ पमैयविशेषणभूता ++++॰ तव्य॰ह त्राचम् पदाम् अभिकृत्याह ।

५- +++ तरे +++++++ चकारा उपमा ।

६- रतदुक्तं भवति॰ ह॰ ++++++ या +++ माय +++॰ यम् विंध्य इति मुखा ।

७- दृष्टा +++++++ ननमधुति यत किंचित कान्तिसामान्याच्यास्ति । ।।-४३। ।

८- + नृ॰ ++++++++++++॰ इ + तै । तथाहि॰ +++ दानाथार्यम॰ ह ।

(ब)

१- किं च का <व्यानि नैयानि ल>दाणानि महात्मनाम् । दृष्टं वा सर्वं सारूप्यं राजमित्रे यथोदितम् ।। ।।-४५ ।। ब ।

२- यर्यः पु ++ ह॰॰ यु॰ +++॰ आ॰ इलदाणाम् इति । तमैव लदा ++ घु॰ न॰ ++ नै + श्रध्या ।

३- रूप्यम् उभयाननु या ++ दृश्य +<रा>जामित्राख्ये काव्ये यथोदाहरणम् । सूर्याशुसम्मी <लित लोचनेषु दिनेषु पद्मानिलनिर्मदेषु । साध्वय: स्वगेहेष्विव भर्तहीना: ।>

४- केका विनेशुधिराखिनं मुख्येषु ।।।।-४६ ।। अत्रादित्यकीर्णानि लति ++ यनतादोनत्वम् पद्मपत्र ।

५- + शु॰ साधर्म्य घार्त्तामात्रम् अत्राभियानुयापि । रतावृ॰ + + ण् + कवय-उपमाजान॰ ।

६- + दोष: ।। असंभवोदाहरणमाह । निष्पेतुरास्यादिव तस्य दीप्ता: शरा: धनुर्मण्डला ।। ।।-४७ । ।

७- शरा:वारिधारा इतेति भिन्नक्रमैव शब्दमीलनम् वा यथोपस्थितैव शब्दा-भिसम्बन्धनम् वा । ++ ।

८- ++++ बन्दोपमानोपमेय भाववाच्यकम् किं चदस्तीति प्रथम ।

पत्र सं० २८

(अ)

१- । दर्शयितुमाह । ।

२- । सम्भवलक्षणदोष उच्य ।

३- । वीत शशलक्ष्मण: ।। ।। ।। ४६।

(ब)

६- । अत्र लिङ्ग ।

७- । + वस्त्वापनपरम् उच्यते ।

८- । य: एतत् त्रितयमपि उदाहर ।

पत्र सं० २६

(अ)

१- । इव शब्दप्रयोगान्यथानुपपत्यानुमेयम् सादृश्यमस्ति ।

२- । विधानामपि दोषत्वं तथान्यानामिति उच्यते । कालपुरुषक ।

३- । । + +भ्‌•• यू• + । माराद् बमौ मर्तै क्यासु +++ गाम्भीर्य + सारेण ।

४- ।। मूर्ति: कासुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता । विभ्राजसे मकरकेतनम अ ।[1]

५- । ओ• च +++ भेद: यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्री ।[2]

६- । रुन्ध्या भ्रियते पि तु धातुमत्त्वैव तेनोपमेयस्य क्क ++ उपमा ।

७- । सत्यमेविभक्तिविपरिणामवाक्यभेदाकांक्षायोग्यतासन्निधि: प्र + ।

८- । लता यथा भ्राजते तथा त्वं भ्राजसे यथान्य: कश्चिद् अकालसंध्या विभर्ति तथा हिमवान्• + ।

(ब)

१- । <यथापगा विगा>ध्या तथा त्वं असि अविगाध्या इति सम्बनाम् न केनचिन्निवारयितुम् शक्यते ।

२- । बन्ध: तच्चारुकाव्यम् यत्र विभक्तिविपरिणामादिभिरभिसम्बद्धस्तन्न चारुणापि• + ।

१- यह श्लोक रत्नावली का है:-

प्रत्यग्रमज्जन विशेष विविक्तमूर्ति:
कौसुम्भराग रुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
बालप्रवाल विटप प्रभवा लतेव ।— रत्नावली, २० ।

२- यश्चाप्सरोविभ्रम मण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखैरविभर्ति ।
बलाहकच्छेदविभक्तरागां अकालसंध्यामिव धातुमत्ताम् ।।— का०सा०सं०,१।४ ।

३- भिप्राय: इति॰ + + चाक्काव्यम् न भवतीति दोष एवैति तत्र हीनताया ब ।

४- । र्॰ उदाहृयते ++++ लम् + त्॰ म् शब्द वत्वम् चापमेथविशेषणम् नैव सम्बध्यत इति ।

५- । + तै पुनर्य +++++ (लि) ह्॰ वचाभेदया + विपरिणामस्याश्रये + यत्र ।

६- । न इति अपरे त्॰ ++ । मूल्यावाक्य्॰ । + लिङ्ग + येत्युभयानुयायी ++ न दोष: यथा चन्द्र इव मु ।

७- ।। राज॰ ई । ++ यादिशु बाहुल्येन पुन्नपुंसक्या॰ + व्यविशेष: यथा ।

८- । किञ्चिद् उपदर्शितम् अधिकविपर्यय: पुन: अप्रोत्साह्यसा ।

पत्र सं० ३०

(अ)

१- । ताया उपमा + ।

२- । पन्न घा ।

३- । ॰ह ।

(ब)

१- । + राज्ञा +॰ र् ।

२- । एव भामह ।

पत्र सं० ३१

(अ)

। कृतचाह्चन्द्र ।

(ब)

। ॰ य्॰ ।

। र्॰ सा सम्प्रति ++++ घि ।

पत्र सं० ३२

(अ)

। शब्दाभिसम्बद्धप -+ ।

। ह ।

(ब)

। न संका निवद् ।

१- यह श्लोक भामह (।। ॰५८) के द्वारा उपमानाधिकत्वम् उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है:-

"स पीतवास: प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोजनाभीम् वपुराप कृष्ण: ।
शतह्रदेन द्रायुधवान निशाया संसृज्यमान: शशिनेव मेघ: ।।"

शबलवत्वम् का प्रयोग शायद इसी सन्दर्भ में किया गया है ।

पत्र सं० ३३

(अ)

। ब॰ ।

। नृ चत्ता + ।

। म ।

(ब)

। मे॰ । ।

पत्र सं० ३४

(अ)

१- । हीनतायामिव गति + +॰ उ ।

२- । धिन्वयमुपमानानाम् । ।।-६१।। निबध्नति काव्य: यथा गायन्तु किन्नरगणा: सह ।[1]

३- यशस्ते । तथा हि हंसास्तावदम्भोरुहकपिशराजिकाशिताङ्गः स ।

४- । व्यालजालालिनो त्प्रोन्मीलन्मेघमालामलिनसकलदि ।

५- । पमानविशेषणानि इवशब्दप्रयोगान्यथानुपपत्या + नुश्॰॰ उ ।

६- । ह । इत्युक्त उपमाभेदो वक्ष्यते चावर: पुन: । उपमादस्फल । ।।-६५ ।।

७- । पमाया: क॰ यपार्थादि । सम्प्रति किं क्रियत इत्याह ++ इ ।

(ब)

१- । दिति अर्थ + पुन: प्र + म्यो वदनो नुप्रासादे॰ इ ।

२- । तिरेको विभावना । समासातिशयोक्ति च ष्ाद्दलकृतयो परा: ।। ।।-६६।।

३- । ह्विष्टा रणां च प्रभेदसंदर्शनार्थमाह । वक्ष्यमाणो क्तिविषा ।। ।।-६७।। ।

१- यह श्लोक सुभाषितावली का है:-

गायन्तु किन्नरगणा: सह किन्नरीभि:,
श्री रामचन्द्रशिखरेषु हिमाचलस्य ।
शेषेन्दुकुन्ददलबालमृणालनालि-
नीहारहारहरहासस्तिं यशस्ते ।।—(२४।६४)

वामन (२.१८) ने 'नीहार' के स्थान पर 'कर्पूर' लिख कर इसे उद्धृत किया है।

४- । स्सल वक्ष्यमाणविषयतया च द्विविध: शेषास्त्वलङ्कारा: एक रूप ।

५- । ति व्यक्तम् अर्थान्तरन्यासं स्पष्टम् एव वक्ष्यति ग्रन्थकार: तथातिशयोक्तिर्
अ॰ र॰ ।

६- । तदुक्तं भवति यथाक्षमादापो द्विप्रभेदो विषया ++ दे + निबद्ध ।

७- । त्स्या । आदोपम् इति तं सन्तस्शंसन्ति द्विविधम् यथा ।। । ।। ॰६८ । यत्र
काव्य अभिप्रेता ।

८- । तत्रादोपो लङ्कार: ++ द्विविधा: ।

पत्र सं० ३५

(अ)

१- य देवास्तु वा न्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ।। ।।-६६ ।। भवन्तं यदा न पश्या ।

२- ण ते इति अत्रानभिधानम् एव मामपश्यन्तो म्रियते वश्यमियमिति ।

३- न्न तवाद्धति: । का वा हेतुरलम् सिन्धोरविकारकरणम प्रति ।।।। ।।७०।
व + ।

४- धित्सयै तद्विधानम् प्रतिषेधयतीव का वा हेतुरित्यादिना । अथवात्र ++
ह +, यु॰ ।

५- न इति विशेष: प्रतीयते । अथान्तरन्यासम् व्याख्यातुमाह ।
उपन्यसनम् अ । ।।-७१ ।

६- क्ते यत्प्राकरणिकस्यार्थस्योपन्यसनम् प्राकरणिकाथाभिसम्बन्धम् तमाथान्तरन्यास

७- स् समर्थनीय: । समर्थकस्त्वप्रस्तुत: ननु च उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्यान्यो ++ तस्य ।

८- ++ पूर्वाचिरोपन्यासभेदात् । तत्र यदा समर्थकस्य पूर्वोपन्वास ।

(ब)

१- ++ रागिणि नलिने लक्ष्मी म् दिवसो निदधाति दिनकरप्रभावान्
अनपेक्षित तगुणादोष परोपकार: सतां व्यसनम् । ।

२- णिकम् दिनकरव्यापारस्त्वप्राकरणिक: यदा पुन: प्राकरणिकमुपन्यस्य
तस्यार्थान्तर ।

३- तल्दाणादुदितात् उक्तात् प्रस्तुतादन्यस्यार्थस्य य उ पन्यसन ।

४- कानि भीमानि विविदानि तव व्यथा । साधु वा साधु वाग्मी पुंसामात्वैव शंसति ।। ।।-७२।। ।

५- म् आह । यस्मादागामिनि शुभाशुभे पुंसामात्मैवान्त:करणमेव कथयति । अत्र पुरूष: ।

६- ++ त्ममुख्यार्थे पुनरात्मशव्द आत्मनात्म कथयती +++ ह शवेवाद्धावात्सा ।

७- शयितुमाह । हि शव्देनापि हेत्वर्थप्रथनाद् उक्तसिद्धये । अयमर्थान्तरन्यासस्सुतरां व्यज्यते ।। ।।-७३। ।

८- न भावस्य सिद्धिर्भवति तदर्थमयम् अर्थान्तरन्यासस्तुतरां व्यज्यते ।। ।।-७४।।

पत्र सं० ३६

(अ)

१- । जातस्तरुरयम् चोच्चै: पा (।।-८० । ।

२- । क्यार्थपरिसमाप्ति ।

३- । त्मसम ++ ।

४- । मृ उप ।

(ब)

६- । अत्रापि उदाहरण ।

। सोक्तिस्वरूपविशेषण ।

। वगमा॰ह ।

पत्र सं० ३७

१- ।॰ वान्त् + प्रत्यय: स्पष्टम् पुनरिदम् उदाहरणम् समासोक्ते: उपोढ [1] ।

२- । पुरो पि मोहाद् गलितं न रचितम् । अत्र शिशिरजनी व्याणणप्रेय: ॰ प्र +++ सह सु + त (

३- । प्रवेशो + भिमतो स्य ग्रन्थकृत: तेनास्य ग्रन्थकारस्याभिप्रायेण व्यतिरेव् ।

४- । इदं पुनरत्रार्थतत्व म् । येषामलङ्काराणां मङ्गुवन्तरेण निबन्धनसंभव + तेषां सा ।

५- । + न्य ++++ ल ङ्कारविषयस्य सकलस्यापहारस्स्यात् । उच्च + ष्टव्याख्या ।

६- । मन्यन्ते तिशयोक्तिन् तामलङ्कारतया यथा ।। । ।।,८१।। लोकातिक्रान्तगे

१- शव्द उपोढ अधोलिखित श्लोक का है जो समासोक्ति के उदाहरण के रूप में प्रयुक्त है·
उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखं ।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरो पि रागाद् गलितं न लक्षितम्।।
—ध्वन्यालोक, १०६ ।

७- योक्त: स्यादतेत्परिहारार्थं निमित्त इति । एतदुक्तं भवति निमि तं कि
ञ्चिदाश्रित्य य ।

८- । रिण्या चन्द्रभासा तिरोहिता: । अन्वमीयन्त भृङ्गालीवा वा सप्त च्छद-
द्रुमा: । ।।-८२।. अ ।

(ब)

१- । परिज्ञायमाना: भृङ्गालीवाचा मधुकरपङ्क्तय: तेनान्वमीयन्ता ।

२- । च्युता स्यात् फणिनामिव । तथा शुक्लांशुकान्यासन्नङ्गेष्वम्भसियोषिताम् ।।
। ।।-८३ । अम्भसां यदि ।

३- शुक्लांशुकानि ++ तान्तरीयानि भवेयु: । अयमत्र + य: एव ता योषित:
कोस ।

४- । न केनचिदपि + ससेति ।। बहुतरप्रयोगत्वं अतिशयोक्ते: ख्यापयितुमाह ।
इत्येवमादिर् उ ।

५- । धर्मातिशययोगत: ।। । ।।-८४ । अतिशयोक्तिनिबद्धा कविभिस्तत्र तत्र
सर्वैव सातिशयोक्तिरिति ।। ।। ८४ ।। यथा ।

६- । यस:[१] पतेतां । तदोपमीयते तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्ष: । तथा
ध्यानामलिय ।

७- । न्तनवसूतचूतकलिकाम्•• र्• हितश्र• इभि: भङ्कार: प्रथमं गृहे गृहजने ।

८- । ज +• एप्• ङ्कलनक ++ तम् ननजतस्यन्माल: ।। इति आसीति ।

पत्र सं० ३८

(अ)	(ब)
। + + एवम् तर्हि सुव्•• ऊ ।	। मानोपमेय ।
। पमानेन यत् तत्वम् उपमे ।। ।।।-१४। ।	। न्त इति एवमादि स्वल
। रस्थिति: + प् ++•इ•इ ।	। पूर्वी वाचकशक्तिभेदाद् म् ।
	। वम् विजयम् अन्यथा ।
	। यद्यपि ए ।

१- उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गा पयस: पतेताम् ।
तदोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्ष: ।।-शिशुपालवध,३।८ ।

पत्र सं० ३९

(अ)

१- । •इयं तदा ओष्ठ्या वकारा यदा तु व्यालम् सर्वम् बिना वा समेत्य•यू• ।

२- । शत्रुघ्नस्त्वं दिता जनकस्थिते: इति सुचरितै: सूक्तिविभ्रा•यू• ।

३- । दिशब्दद्वयविवक्षायां लघुप्रयत्नतरा लङ्कारा: नस्य ला ।

४- । दृष्ट्• + पायात कदम्बकुसुमस्तबक इव मुखानिवासु + ।

५- । •यू- या न्तादाद्यम् इति । तैना +++ विषये घत्स•र ।

६- । द्वयी गति: + + +•यू. त्प्रत्यय: + त्र वा + ।

७- । सू••उ ।

८- । श्लेष: ।

(ब)

१- । षा यद् गि ।

२- । लङ्काराणां प्राकरणिक ।

३- । सम्प्रत्यर्थं + + + + श्लोकद्वय + यया ।

४- । इव । रत्नवत्वाद् अगाधत्वात् स्व मर्यादा विलङ्घनात् ।। ।।।-९९२०।। ।

५- । प्रतिपादकभाव: किन्तु ताभ्यां प्राकरणिकाप्राकरणिक ।

६- । रू• तू । यत्र तु शब्दानामत्यन्तसरूपाणामपि दन्त्यौष्ठ्यलघु-प्र• ।

७- ।• आन्तरप्रतिभा । तयालङ्कारान्तरे वाक्यान्तरे वा प्रतिभोत्पद्यते + ।

८- । गैनोद्दीपयन्ती स्मरम् । काञ्चीदामनितम्ब सङ्गि दधती स्य ।

पत्र सं० ४०

(अ)

१- । उद्भवान्धद्भवरूपाय• ह् नन•यू ।

२- । सु भावम् मृदुविकसत्कमलाकरम् किञ्च ।

३- । यद्यपि द्वयोर्बहूनाम् चाप्राकरणिक त्वम् ।

४- । सु संघवते । हृतम् दयू• ।

५- । +• त• गृ + अत्र च लक्षणात् तुल्यकार्यक्रिया । ।।।-२६ । ।

६- । काराद् अपेतस्येत्यादि । ।।।-२६ । अधिकार उपवर्णनावसर: कथञ्चि• ।

७- दा वा अप्रत्येकम् अप्रस्तुतप्रशंसेति संज्ञा । स्तुतिग्रह्• + + लक्षि ।

८- तथा हि सा + तदुपवर्णना याम् का स्समुद्रस्वरूपम् उपवर्णयेत् । उपवर्ण ।

(ब)

१- । लङ्क्याका• यु• स्य सहृदय हृद यावर्जनलक्षणासहाप्रस्तुतप्रशंसा । ब ।[1]

२- । + विशेषभावाद् वा• र + तावद् द्विविध: सारूप्याद् वाप्रस्तुतप्रशंसा ।[2]

३- । शंसावत् ग्रन्थकारस्तु यद्विशेषाभिधानप्रस्तुतम् सामान्यप्रस्तुत

४- । काले परिणतम् व्याधिकारि यन्न भवति ।

५- । धान्यापिवर्णनायाम् सकलसंसार ।

६- । इणु व्वकप्यम् जण्ण णियायिधरि ।

७- । सु• तु• + पनपरैम्या प्रस्तुतप्रशंसा । यत्रापि सारूप्य ++ त +

८- । तमारी.ववचे रामशौर्योपवर्णनया केशरिहरिणव्यापार ।

पत्र सं० ४१

(अ)

२- । पार्थम् काव्यम् अपगतार्थम् निरर्थ + +• यु• ।

३- । द्वान्तम् पुन• या + + वक्ष्यति पदल ।

४- । क्वर्णनानामिदानिसस्त्र + न्तिय ।

१- ये पंक्तियां हेमचन्द्र के विवेक में इस प्रकार उद्धृत हैं—"सान्तरेण शब्दव्यापारेण गोचरो क्रियमाण: प्राकरणिको यो र्थ: तेन सहाप्रस्तुतस्य कार्यकारण भावात् सम्बन्धे सति सहृदयहृद्यावर्जकम् अलंकाररूपत्वं एतस्या: (३५६) ।

२- प्रोणित प्रणयी स्वादु काले परिणतं बहु ।
विना पुरुषाकारेण फलं पश्यत शाखिनाम् ।।—भामह द्वारा अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण ।

५- । • उ • यू • + + कृत्यवर्णनसंघात इति • ।

६- । दाणाम् परस्परम् । निराका ।। -४ । ।

७- । कर्तृपदार्थ • सर्वत्र + + सम् ।

८- । + + मा । • + + हुः ये ।

(ब)

१- । दा + संसर्ग ++++++ : पदार्थवान् तेषामनेक ।

२- । + म् आह । बुधौ तु ++++++ त्वे पि प्रतीदाणाम् । । -५ । । । यतः
क ।

३- । • यू • ते । न चासौ वचसा संभवतीति र ।

४- । वर्णनानुभवावस्था ।

५- । घोर न्त्यशब्दविषयावृत्तशब्दाहित ।। -६ ।। ।

६- । व स्मृतिमासीनि वाक्यं इष्यन्ति पुनः ।

७- । दाविशेषः अत्र दूषणावसम् दर्श ।

८- । • आदूषणसहस्त्रापिनिपातकदलित ।

पत्र सं० ४२

(अ)

। कृतात्मनाम संस्कृतम् ।

। तत्कथादौ यदि म् • ।

। •उदाहरणम् + + ।

(ब)

। तत्कृतै • यु • तृ • ।

सविपर्यासक ।

। • आद् अनुपेतम् मार्ग ।

पत्र सं० ४३

(अ)

। + + पुनरुक्तम् दे ।

। + • यदि । इह + + ।

। भिधास्यत इति । १३ । ।

। + | भयसौ ।। -१४ । ।

(ब)

। विरुध्यत ।

। + + अस्थि ।

। दैन्याग + + स्तीवल ।

। जाम् व्याख्यातुमाह य ।

पत्र सं० ४४

(अ)

१- ।• इयं: राजान: पुरश्चि स्कालप्रत्यासत्ति का + ।
२- । इति । अपकृस्य व्याख्यातुमाह । यथापदेशम् । २० । ।
३- ।• आथासंख्यम् मासमृतुम् सम्बत्सर + णानि विष्ण ।
४- । विपूर्वस्य वा क: करणाव्य ++ शब्दा त्र निपात + श्रय + ।
५- । +++ णा दधृ• ++++ यृ.. आँ किरीटेन्दु ।
६- । +++ पक्रमस्ये +++ हर + वर्णयन्ति सु +++ दृष्टा ।
७- । शिष्टक्रम +++ ⟨प्र⟩दाथानां शब्दाभिधानवेला +• उतवक्र्मासु सु ।
८- । + स्य निवृत्तत्वे स्मरणाक्रमो बलीयान् इति अनू• + सा ++ तत्र न ति ।

(ब)

१- । + सु त्वम् पश्चा + घनिशासु स्मृतिरिति न किञ्चिदत्र विरूद्धम्। अथ पुन ।
२- । गेन । शब्दहो नसंदर्शनार्थम् आह । सूत्रकृत्पादकारेष्टेत्यादि- । -२२ ।
सूत्रकृत्• ।
३- स्यानवाक्यम् उच्यते +• ⟨कृ⟩ताम् च बाहुल्यादेवमुक्तम् । ++ कृताम् प ।
४- । ++ शत्वे पुरु षस्वभाववशाद् रण, साधुशब्देष्वपि[१]• ++++ तेषामप्रयोगे ।
५- । भो यद् वृत्तम् अस्मिन् गृहे । सौभाग्यव्ययशङ्क ।
६- । हृ• सृशासो + पथानशयामि + वंशत ।
७- । क्तम् सूत्रकृत्पादकारेष्टप्रयोगाद् यो न्यथा भवेत् । । -२२ । ।
८- । + व्याकरणम् अनि ++++ सैव य ।

१-"काले नीलबलाहके स्तदिति प्रीतिप्रदे बर्हिणाम्,
आश्चर्यं कथयामि व: श्रृणुत भो यद् वृत्तमस्मिन् गृहे ।
सौभाग्यव्यय शाणक्येक भवने कान्ताप्रियाभ्यामहो,
मानिभ्यां बत रात्रिमेव सकलां चीर्णं प्रवासिव्रतम् ।।"

—सुभाषितावली, १५६२ ।

पत्र सं० ४५

(अ)

१- ।• अपि न वत्सलतामुपै ।

२- ।• आवत्सेषाम् प्रत्यव्यमि ।

३- । वहन्ती नाभिः क्रिनुला ।

४- । सलिले वहन्ती नाभिः क्रिनु ।

५- ।• इत्• वाहम् अनुगृहीत्• ।

(ब)

४- । मात्रार्थप्रतीयत । , १ । ।

५- । किमिति सुगतम् इ ++ ।

६- । + प्रतीत्याह प्रायेण । ,२ । ।

७- । मार्गप्रवर्तनार्थम् सु• ।

८- ।• मात्र प्रदर्शनम् प्रया ।

पत्र सं० ४६

(अ)

३- । स्माभिव्याख्याता• वि ।

४- । तद्धर्मा पि न सेत्स्यतीति ।। १५ ।। एतदुक्त न त्या ।

५- । यति यत्र प्रमाणान्तरप्र• इ + + न्वैध• इ ।

६- । शयितुम् आह स्वसिद्धान्तविरुद्धत्वात् ।। -१६ ।। ।

७- । + रम् प्रजानानाम् सु• आसमन + धाम ।

८- । र्थम् तस्मात् सर्वागमविरोधिनी यथा शुचि• सुनुस्त्रैणी । स्त्रीस ।

(ब)

१- । + : प्रमाणप्रवाह इष्यत एवेति सामान्यप्रमाण प्रतिदा ।

२- । पु• तम् एतद् अन्यत्रास्माभिः प्रसिद्ध ।

३- । प्रत्यदावाधिनि दर्शयितुमाह प्रत्य ।। -२० ।। ।

४- । स्ति• ऊप उष्णस् चन्द्रमा इति । ।। २० ।। हेतुलदा ।

५- । म् आह धर्मधर्मिस्समुदाय साध्यधर्मश्चात्र ।

६- । सिद्ध इत्यादि धर्मिणि ।

पत्र सं० ४७

(अ)

१- ⟨प⟩द्धानुपादान इत्यादि ।। २३ । | यदि अत्र परपदाप्रहाण् +
क्रियेते तत्र द• सि ।

२- नित्य: शव्द: कृतकत्वात् अयम् शव्दादिव्यक्ति +++ प्रत्यन्यतरासिद्ध ।

३- 〈दृ〉ष्टो यो धर्मस्तदनुगमेन यस्सदृश: पक्षास्समपक्ष: तत्र च.यस्सन इति उक्तरिति । ।

४- + तत्र च जात: प्रत्याख्यानान न कश्चित् केनचित् सदृशस्तत्कथं उच्यते साध्य〈धर्मा〉नुगमात् • । ,२४ । ।

५- ++ पचयते । २४ । इति सामान्यमिह सम्वृतिषाद्धि नाभिप्रेतम् यय्• साध्य ।

६- +• य्• च्•• य्•• य्• साधरणादिषु सपक्ष एक इव एकार्थ क्रिया कारीति एवापिचयते इति व्या ।

७- ++ । सपक्षेन यो विसदृशस्साध्यधर्मानाश्रय स विपक्षास्त ++ व्यावृ + तु हेतुषु स• ।

८- ++ दर्शयितुमाह इति द्वयैकानुगतिव्यावृत्ति लक्षसाधुता । ,२५ । । इति सापि एका मह्या + ।

(ब)

१- ++++ वृत्तिनिष्पत्ति ते लक्षमाणो लक्षणस्य साधुता तदुक्तं भवति भवता ॰ ।

२- ++ कलक्षणम् पुनर्यत्र साध्याभावो हेत्वभाव: स्थापित इति ।। दृष्टान्तं लक्षयितु

३- + मूते तृतीया साध्यसाधनधर्मयोगी यस्सिद्ध इति अयंविशेषसाध्य धर्मदृष्टान्त ।

४- +++• य्• दृष्टान्त: दृष्टाभास: पुन: साध्यसाधनयो: प्रत्येकम् पुन: समुदाय+ ।

५- स्य दर्शयितुमाह साध्येन लिङ्गानुगतिर् ।। •२७ ।। इत्यादि यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसादौ ।

६- सलिलादावित्येवम् द्विधान्वयेदृष्टान्तलक्षणमुक्तं दूषणानि दर्शयितु माह दू । •२८ । ।

७- नेष्यत इति प्रस्तावे दूषणलक्षण + स +++++ न्ति तत् किमिव ।

८- प्रतिज्ञादीनि दुष्टानि यश्च प्रति ++++• य्• ते तत्र + इ प ।

पत्र सं० ४८

(अ)	(ब)
। दूषणाभास इति । -२६ । ।	। यथा ।
। यस्. आत् सप्रपञ्च ।	। स्त्रि ++ य दर्शु. ।

पत्र सं० ४६

(अ)	(ब)
४- । काव्यं ।	१- ।. याना ++++ नैनेद
५- । पादिष्टन् यथाभिहितं इति व्यर्थ ।	२- । ति । हेतुना दृष्टान्तैनानन्य ।
६- । तज्ज्ञैः काव्यप्रबोधनार्थं ।	३- ।. अवतरति तैनैन प्र. इ ।
७- । काश्यं काव्यं आगमासु तत्वरारि + । । ,२३ । । ।	४- ।. यादिसाधर्म्यसमाधा जा ।
८- । काव्यं इति नात्र विसे ।	५- । न कृत इति । अन्य ++ वन ।

पत्र सं० ५०

(अ)

१- । न संशयज्ञानक्रियं । , ५२ । ।

२- +++ ता: त्रय इमे दोषा ये पुनरज्ञान + संशयज्ञानविपर्ययास् च्. त्. ।

३- वक्ष्यानुत्पद्यत्वात् तत्कर्णाविराधि: एषाम् उदाहरणामित्याह । काशा हर काशा हर ।। ५३ ।। ।

४- तित्वं यथा शराणामेवं कूरु रादिना अप. यु. नैका +++. काराणां रवतनयन. ।

५- काव्यदृष्टान्तलक्षणार्थमाह । उक्तस्यार्थस्येत्यादि । -५५ । उपन्यस्तस्य वस्तुन: प्रतिबिम्बप्र ।

६- मानमेवास्त्वित्यस्योपमानेन्तमेवमन्यना न + व: प्राह अपरिहार: न हेत्वनभिधानकृ । ५६ । ।

७- यमिवाविप्रयोगेश्च तद्दृष्टान्तेनास्ति इति नोपमाया + न्तभावो स्याशङ्कनीय: वस्तुनि ।

८- यानोपमानुप्रवेश: यथा तनुरियं क्व विलोचनहारिणी ++ ग + गवचत ।

(ब)

१- +॰ इ॰ आमपि अस्यान्तर्भावो नास्ति । उपमानोपमेयभावादिवत् ++ स्यापि अत्रापि ।

२- साधर्म्यावृत्तिरुक्ता तत्र हि नेष्यत इति ।। ५६ ।। तत्र हि॰ पृ॰ ++ यु॰ सर्वं +++ व्याप्यसु तः यु॰ ।

३- तु पुनरुपमानलक्षणम् सर्वत्रास्ति एव किं पुन: कारणम् सा + साध्य साधनो +++ उपमा ।

४- इ । एतदुक्तं भवति उपमाने कुत्सितसाध्यसाधन ।

५- श्यायोगादित्युरिवेति तदा क्लिष्टं कार्यं +++ ण: ++ मान उदाहरणं तदा ।

६- वृद्धानुशिष्टत्वाद्रिति । ५७ । हेतु: पूर्वक्स त॰ ++ य + तिवृद्ध ++ कृतयुगे भव + ।

७- । द्वागुण॰ आ ++॰ यु॰ सम्यग्दर्शयितुमुपक्रमे ।

८- । व्यक्ति ।

पत्र सं० ५१

(अ)

१- । <स्व>राणां व्यञ्जनानां च ब्रिवि ।

२- । ॰ सं प्रवृत्तस्य गृहशब्दस्य ।

३- । यं रत्नं क्रियत इति आह ।

४- । + हणार्यं भवति यु॰ ।

५- । प्रवाहदर्शनाद् वेति ।

६- । द ।

(ब)

४- । + क्॰ शब्दशब्दाप्र॰ ।

५- । समुदाय: कथं अर्थवान् स्यात् । क्रमं ।

६- । कदेशकालत्वात् पद॰ ।

७- । कृतो वमन्तुम् । दारुणि म ।

८- । इत्यादि । यस्माद् वर्णानाम् व

पत्र सं० ५२

(अ)

१- । नि एवंविध: शब्दप्रयोगो नेष्यते कीदृक् तर्हि शब्द: प्रयोज्य इत्याह ।
क्र मागतम ।। -२८ । ।

२- । -+ ह क्रमस्तेनागतम् शब्द प्रयुञ्जीत् क्रमपरिज्ञानम् च द्विविधम् साक्षाद् वा ।

३- । दय॰ च॰ स एव कविप्रवाह अनिदम्प्रथम(तया)प्रवृत्ते: यस्य पुन: कस्यचि ।

४- । वज्ञत्वेनास्मृतिविपर्ययस्मृतोयम् भव +++ तदनुरोधेन शब्द ।

५- । श्रुतिसुखं प्रयुञ्जीत् यद्यपि श्रुतिकष्ट ++++ जिह्लदादयस्॰ ।

६- । + मुखेष्वत्यन्तादरख्यापनार्थमिदं उक्तं श्रुतिसुखमित्य्॰ । ++ मतिय + ।

७- तप्रतीतिकारणशाठ्यम् तदापि क्लिष्टदोषो ++ शब्दाश्र + ।

८- । णं पि वाक्यपदपूरणार्थम् प्रयुञ्जान दृश्य +++ णार्थ॰ ह ।

(ब)

१- । लङ्कारम् स्वरव्यञ्जेन चा— ति । अयम् स्तुत्य ++++ लङ्कारैम्य ।

२- । नृ॰ केत्यन्तम् चारव: के च न चाख इति दर्शयन्नाह सिद्धो यश्चापि । २६ ।

३- । + यह मृजेरजादौ सङ्क्रमे विभाषा वृद्धिर् इ॰ यू॰ ति इत्यादय: । अन ।

४- । योग: कार्य: न तु योगविभागजम् । २६ । इति योगविभागदोशिष्टै-
सृ सि ।

५- । •इयन्यतरस्याम इत्यत्र योगविभागो द्वितीयार्थ: । विना वातं विना वर्षमं वि।

६- । वृद्धिफलाम् । ३१ । इत्यादिना सङ्क्रमे गुणवृद्धिप्रति(षेध)विषये मृजे:
स्वरादौ ।

७- । पतन्तो बाष्पबिन्दव इति । ,३१ । सरूपाणां एकशेष एकविभक्तविति।

८- । वश्च भवानि च दवो वरुणाश्च वरुणानि वरुणानीति तदाह ।। सू॰
। ३२ । ।

१- विना वातं विना वर्षा विद्युत्प्रपतनां विना ।
विना हस्तिकृतान् दोषान् केनेतौ पातितौ द्रुमौ ।।— काशिका ।। ३-३२ ।

पत्र सं० ५३

(अ)

१- । यमा ++ कृनातिभावेन न युज्यते प्रयोज्यो ययासङ्गीति ।

२- । यथा ++++ ना । प्यासश्रन्थो युजिक्तिाद: कन्तवोज + पास ।

३- । ++ मणान्तात् ++ इति णी प्रत्यय: । यथा पौरन्दरी ++ तेन रक्तम् इ ।

४- । कर्दमात् ठगिति ++ प्रत्ययौ तावत्कृतौ माहारजनो ळाक्षिक: । कुमुद ।

५- । आदिक: शाङ्क्रिक: । "तस्मै हितम्" इति प्रकरणे सर्वापूणस्य वादनम् इ ।

६- । "<पृथ्वादि>भ्य इ<मनि>ज्वेति" प्रत्ययो भिमत: यथा पटिमालङ्घिमा + ।

७- । यश्योतिदेति लोपव्यतिवेति लोपव्यतिरिक्तेर्. इ ।

८- । रो नितम्बस्वयमिति । मतुप्प्रकरणे ++. आदयस् तथा ।

(ब)

१- । । माली मायी "अदभ्यस्तात्" इति भरे् अदादेशस् सम्मत: । रु . इ ।

२- । +: प्रयोग इष्टस्तथा "विदे: शतुर्वसु:" इति अनेन सूत्रेण घ: प्र ।

३- । + के: सम्प्रति साधवो पि ये न प्रयोक्तव्यास्ता न दर्शयितुमाह ।

४- । ति वनम् वनय लोचन इति (-६०) । नैकत्राकारभूयस्त्वम् । -६१ । इति उपलक्षणाय ।

५- । . आन्तात् सप्तमी एकवचनमुक्त्वा <।>भयो हो न्यतरस्याम् इति सवर्ण-याकृत्वाह व ।

६- । पद्धतिशब्द: प्रयुज्यत उपलक्षणपरम् चैतत् तद्. ++ यो पि प्रयोगो ।

७- । तम् न शक्यते उत्तममध्यमाधमैस् साधुशब्दैर्विभज्य अशेषेण कथयितुम् । + ।

८- । देरणेत्याह । विधाना इत्यादि । ६३ । एतद् उक्तम् भवति बहूप ।

पत्र सं० ५४

(अ)

। व्य ।

। अयमत्र वाक्यार्थः । नित्यस्य शक्तौ ।

। विरोधादिति । सम्प्रति काव्यन्याय ।

। य॰ आनि ।

(ब)

। ++॰ इष्यत अतव्व वस्तुमर्थविचा ।

।॰ आ च । अत एवेदमाह असरम् ल्दातैन्य ।

।॰ आवात्र ++॰ इधा ।

पत्र सं० ५५

(केवल एकही फलक)

(अ)

। पानलम्भितस्य ।

पत्र सं० ५६

(अ)

। प्राग्॰ ।

(ब)

। य॰ समास इव प ।

पत्र सं० ५७

(अ)

। व्यतिरिक्ते शास्त्राश्रय॰ ।

(ब)

।॰ य॰ पुनः प्र॰ इ॰ उ ।

पत्र सं० ५८

(अ)

।॰ आ देव ।

(ब)

। एवम् + ।

पत्र सं० ५९

(अ)

। आः प्रा ।

(ब)

। दर्शि ।

पत्र सं० ६०

(अ)

। अतिय ।

(ब)

।॰ य् ॰ ।

। ना॰ इ ।

। प्रका + ।

पत्र सं० ६१

(केवल एक फलक)

। तः मतात्सहकारा ।

पत्र सं० ६२

(केवल एक फलक)

। त् सर्वत्र + ।

। पदस्य ।

पत्र सं० ६३

(अ)

।गदं ।

। स्वे: • आ ।

(ब)

। पना ।

। पते ।

पत्र सं० ६४ (केवल एक फलक)

। : फुल्ल: कुसु ।

। हा ।

पत्र सं० ६५ (केवल एक फलक)

। मं -+ यू• ।

। वमादि ।

पत्र सं० ६६ (केवल एक फलक)

। क्रिया ।

पत्र सं० ६७

(अ)

। तु अ• इ ।

। वन• वृ• ।

(ब)

। न प्रके• इ ।

पत्र सं० ६८ (केवल एक फलक)

। • वालङ्कार• र् ।

पत्र सं० ६९

(अ)

। +• यदृच्छा ।

। सुहृद: स्यात् ।तदीदमाह ।

। + व: शूरसेनादय• ।

। मृ इयत्ता परिच्छेया ।

। विचारं रुतामा ।

(ब)

। : प्र ।

। + विषाय इति ।

। आदित्यपदिाविशेषे ।

। स्यत इति तद्विषया य ।

।• मृ लक्षणमस्ति तत्र ल ।

पत्र सं० ७०

(अ)

१- । नुयायि तत्र देवदत्तशब्दा इ ।

२- ।• एयाकणाँ ।

(ब)

८- । य विम्याद्दिवस +काशिक इ ।

पत्र सं० ७१ (केवल एक फलक)

। पाषाणविशेष ।

। +: प्रतिदि + ।

। ता ।

पत्र सं० ७२

(अ)

१- । किरातपस् • ।

२- । घमन्द + : म ।

३- । ण ।

(ब)

६- । वि ।

७- । रिशून्यम् अत ।

८- । टिकादितम् द ।

पत्र सं० ७३ (केवल एक फलक)

। • इमा • उर्यस्थे ।

। + घ विशेषण ।

। • इ • म् ।

पत्र सं० ७४ (केवल एक फलक)

। + यू•• यू• ।

। • आजन्यन्यष्ट + ।

। षिव्य क्रमस्ता ।

। • इ • इयते + ।

पत्र सं० ७५

(अ)

। मवकृचिका ।

। णि समीदा • ।

(ब)

। वह ।

। नुत्रविना ।

पत्र सं० ७६

(अ)

। दाहृयते ।

। न्याम् ।

(ब)

। • एच ।

पत्र सं० ७७

(अ)

। न + कु ।

(ब)

। यू• ।

। दा + : अथे ।

पत्र सं० ७८ (केवल एक फलक)

। पदाण ।

पत्र सं० ७९

। परिपातु ।

। णमति ब ।

पत्र सं० ८०

(अ)

। रूपण • सु• ।

। एव वेदसु ।

(ब)

। मृ एव ।

। • इ परिदि ।

। : प्र सिद्धाय ।

पत्र सं० ८२

(अ)

। • यू• ।

। + स हि ।

। नै ।

(ब)

। वस्स्वि ।

पत्र सं० ८३

(अ)

१- । सिद्धम् । अथ पु ।

२- । + दि + ।

(ब)

८- । तत्र स्मृति ।

पत्र सं० ८४ (केवल एक फलक)

। साधु सम् ।

पत्र सं० ८५

(अ)

। व्• न्• ।

। वच ।

(ब)

ला • इ ।

पत्र सं० ८६

(अ)

। न्चेस्म्• ।

(ब)

। आधनि ।

। मू ।

पत्र सं० ८७

(अ)

। • आपम् उत्सृत्य ।

। • इ. इ. ।

(ब)

। निवर्त्य ।

। त: ।। + ।

पत्र सं० ८८

(अ)

। यू• उदाहर ।

। • इ + या ।

(ब)

। द्विवि ।

। • इ • इ ।

पत्र सं० ८९

(अ)

। • ई ल्त• पू• ।

। • इ ।

(ब)

। तरगाहा ।

पत्र सं० ९० (केवल एक ही फलक)

। च तथा + + ।

पत्र सं० ९२

(अ)

। • यू• ।

। • आन्यत ।

(ब)

। शेष ।

। • वा ।

पत्र सं० ९३

(अ)

८- । पनापि ।

। सा + + हृ ।

(ब)

१- ।+ तादृवण + ।

पत्र सं० ६४

(अ)

१- । च्वाल ।
२- । + तुनि॰ इ ।
३- । दृढम् । तस्मा ++ ।
५- । बहुप्र॰ उर ।
६- । प्रवृत्तिभाज ।
७- ।॰ ई । ए । ॰ उन्॰।
८- । सम्बन्धः + तु॰ ।
६- । मम् इति अप्र + ।

(ब)

५- । + न्यपागस॰ उ ।
६- । यागादिशि ।
७- । यंश ।

पत्र सं० ६५

(अ)

१- ।॰ इ ।
२- । ङ्ग + कृत्य ।
३- ।॰ यायते ।

(ब)

६- । वर्णभेदा ।
७- । +कुनयाविवश्यम चैत ।
८- ।॰ यु॰ न्य॰ यु॰+ तु॰ दर्थ श्लेषा + सु॰ ।

पत्र सं० ६६

(अ)

। विरै ।
। कृ ।
। पविष्टा + दु दाहे ।
। कालना प्राक् तु ति॰ इ ।
। यम् । किमर्थं ।
। क ।

(ब)

। मम् ।
। घम् । साढ ।
। दाशु काकलीसंज्ञा ।
। तु॰ । या पि मन्यते का ।
। गा + + स्यापि ।
। स्यास्ति ।

पत्र सं० ६७ (केवल एक ही फलक)

१- ।॰ आ मध्यान्त उदात्त + ब॰ यि + चारुत्वम् । अ ।
२- । + + प्र + दृघाय मृ । । म्मि + + वृ॰
ललिताद् + तैजांसि ।
३- । असम् + + जपप्रदानविषयतायाम् तु सु ।
४- । पनयन्ति घनाः पुनः कृता भूयः आ ।
५- । जलधा अति ।
६- । न्तमन्वादिश ।
७- ।॰ इ + स्ये + ।

पत्र सं० ६८

(अ)

। वृ॰ ण॰ य॰ य॰ ण +॰ य॰ ।
। र्थलङ्काणाम् आश्रयद्वयम् अलङ्कारे पि ।
। ओ + प्रसिद्धो वेदः यथा पुराणाणा॰ ओ ।

(ब)

।॰ य॰ + + व्दन्तर॰ य॰ नु ।
। णा चारुत्वकृता प्रत्यासत्याम् श्र॰ ।
। नाम्॰ ए ।

पत्र सं० ६६

(अ)

। लव्॰ तावल ।
। दाणाश्श्व ।
।॰ इ ।

(ब)

। पधारणो । स॰ ।

पत्र सं० १००

(अ)

। त्मङ्कश्व्दस्॰ ।

(ब)

।॰ र्॰ ।
। दर्शं ।

पत्र सं० १०१

(अ)

। पात्रार्थप्र ।

(ब)

। तद् आह + ।
।॰ इम- इ ।

पत्र सं० १०२

(अ)

। दौहाम् + ।

(ब)

। विशेवे ।

पत्र सं० १०३

(अ)

॰ य॰ त॰॰ य॰ र्थं ।
स सङ्कपे ।

(ब)

। लोकः काल्॰ ।
। अन्ताच्च ताद् ।

पत्र सं० १०४

(अ)

। वतारं इ ।

(ब)

। न् निपे + ।

पत्र सं० १०५

(अ)

तः ज्या॰ इ ।

(ब)

। दिद ।

पत्र सं० १०६ (केवल एकही फलक

। उ ।
। णा ते पु ।
। मिति अपरे ।

पत्र सं० १०७

(अ)

। + पणावर • ।

। लम् +• ओ• आ ।

(ब)

। जसहेन ।

। +• इ • आ • इ ।

पत्र सं० १०८

(अ)

। मंणि सत्सा ।

(ब)

। द्वितीया दर्शं • ।

पत्र सं० १०९

(अ)

। द्रुमदर्श ।

(ब)

। ष्टविषय • ।

पत्र सं० ११०

(अ)

। + गणाम् नीय ।

(ब)

। + मानत• इ ।

प्रो० टुच्ची ने उल्लिखित इन हस्तलिपियों को उद्भट द्वारा प्रणीत भामह विवरण माना है। इन हस्तलिपियों में भामह की कारिकाएं स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त यह भी सर्वविदित है कि भामह पर उद्भट के अलावा और किसी ने कोई टीका नहीं लिखी है। यह एक ऐसा तथ्य है जोकि इस धारणा को बल प्रदान करता है कि प्रश्नगत हस्तलिपियां उद्भट के भामह विवरण की हैं। वर्तमान टीका की कतिपय पंक्तियां हेमचन्द्र के अलंकारचूडामणि तथा विवेक में पायी जाती हैं। हेमचन्द्र द्वारा प्रणीत उक्त ग्रन्थों के अध्ययन से यह विदित होता है कि उनमें पूर्ववर्ती महान् आचार्यों द्वारा प्रदत्त पंक्तियों को उद्धृत करने की प्रवृत्ति है। प्रस्तुत टीका के जो अंश हेमचन्द्र ने उद्धृत किये हैं वे उद्भट के भामह विवरण के ही प्रतीत होते हैं। इस सन्दर्भ में फ्रैगमेन्ट २२ (ब) विशेष रूप से अवलोकनीय है। इससे यह स्पष्ट है कि हेमचन्द्र जो अपने युग के एक प्रखर आचार्य थे, उन्होंने उद्भट जैसे प्रकाण्ड व्यक्तित्व का ही अनुकरण करना समीचीन समझा होगा। उन्होंने अन्य आचार्यों द्वारा प्रदत्त छिछली विवेचनाओं को ग्रहण न करके उद्भट सरीखे दिग्गज आचार्यों की विवेचनाओं को ही उद्धृत किया है और उनकी मान्यताओं का संरम्भपूर्वक खण्डन-मण्डन किया है। उद्भट के भामह विवरण के कतिपय अंश हेमचन्द्र द्वारा स्पष्टरूप से उद्धृत किए गये हैं। यह भी एक तथ्य है जिसके आधार पर यह कहना पर्याप्त होगा कि प्रस्तुत हस्तलिपियां उद्भट के भामह विवरण की हैं। इन हस्तलिपियों में कुछ फ्रैगमेन्ट ऐसे हैं जो पर्याप्त स्पष्ट हैं और आचार्य उद्भट की क्लिष्ट शैली से मेल खाते हैं, जिनकी विवेचना आगे की जायेगी।

प्रो० राघवन ने इन पत्रों पर अपनी टिप्पणी करते हुए कहा है कि यदि यह उद्भट का भामह विवरण है तो शायद यह इस शताब्दी की सबसे बड़ी खोज होगी। परन्तु प्रो० टुच्ची का यह विश्वास है कि यह कृति भामह विवरण की ही है। इसके समर्थन में उन्होंने कुछ तर्क प्रस्तुत किए हैं। प्रो० राघवन ने फ्रैगमेन्ट नं०१० में उद्धृत भामह की अधोलिखित कारिका का उद्धरण दिया है—

'शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थाः इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः।।१।९।।

ध्वन्यालोक में प्रदत्त "भाक्तमाहुस्तमन्ये" की विवेचना करते हुए लोचनकार ने उद्भट के भामह विवरण के कुछ अंश उद्धृत किए हैं। उद्भट का कथन है— "शब्दानामभिधानमभिधाव्यापार: मुख्यो गुणवृत्तिश्च"। उद्भट द्वारा प्रदत्त यह व्याख्यान बहुत ही प्रसिद्ध है। परन्तु प्रस्तुत प्रपत्रों में उद्भट का यह प्रसिद्ध अभिकथन नहीं मिलता। इसलिए प्रो० राघवन इन प्रपत्रों को उद्भट का भामह विवरण स्वीकार करने में हिचकिचाहट का अनुभव करते हैं। परन्तु प्रो० टुच्ची का कथन है कि यदि प्रस्तुत प्रपत्रों में दुर्भाग्यवश उद्भट का वह प्रसिद्ध कथन नहीं मिलता तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन प्रपत्रों को भामह विवरण का न माना जाय। यह भी तो सम्भव है कि आगे उद्भट ने कारिका की विशद् व्याख्या करते हुए यह बात कही हो, परन्तु प्रपत्रों के फट जाने के कारण अब उनका वह प्रसिद्ध वाक्य न मिलता हो। सम्भवत: अभिनवगुप्त द्वारा उद्भट का यह प्रसिद्ध वाक्य प्रपत्र नं० १० की चौथी पंक्ति में है, जहां कि अभिधान की व्याख्या की गयी है। अभिधान का तात्पर्य अभिधाव्यापार बताया गया है जिसके दो प्रकार होते हैं— मुख्य और गुणवृत्ति। वस्तुत: इस प्रपत्र में मुख्य वृत्ति का उदाहरण— 'पर्वतादेति देवदत्त:' और गुणवृत्ति का उदाहरण 'एति जीवन्त मानन्दो वरं वर्षशतादपि'। के रूप में दिया गया है। तृतीय उदाहरण किरातार्जुनीयम् से दिया गया है—

> निरीक्ष्य संरम्भ निरस्त धैर्यम् राधेयमाराधित जामदग्न्यम्।
> असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपात: ॥[1]

भोज ने अपने श्रृंगार प्रकाश में उपर्युक्त पंक्तियों की जो व्याख्या की है, वह उद्भट की ही व्याख्या का अनुकरण है।[2] भोज का कथन है— 'अत्र यदि जनिक्रियातो निरीक्षणक्रियाया: पूर्वत्वं तदा कर्तृभेदान नास्ति क्त्वा प्रत्यय:। अभिधाव्यापारस्तु विघटते। षष्ठभिहितस्य कर्तु: पक्षपातक्रिययैव सम्बन्ध:। न निरीक्षणक्रियया। कर्तृकर्मणो: कृति षष्ठ्या नं लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृणाम् इति प्रतिषेधाता। उपर्युक्त पंक्तियां अविकल रूप से प्रपत्र संख्या ७ और ८ में विद्यमान् हैं।

१- किरातार्जुनीयम्, ३।२१।
२- श्रृंगार प्रकाश, ८।२७६।

आचार्य उद्भट द्वारा प्रदत्त रूपकालङ्कार की परिभाषा में शब्द की द्वितीयक शक्ति के दर्शन होते हैं—

श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत्पदेन पदान्तरम् ।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ।।[1]

शब्द की द्वितीयक शक्ति को विवेचना करते हुए हेमचन्द्र ने लिखा है- "उपमेयशब्दो धर्मिवाचि द्वितीयेनोपमानशब्देन तथा मूर्तेनानुपपद्यमानसामानाधिकरण्यस्तस्यैवोपमानपदस्य स्वाभिधेयाविनाभूतगुण वृत्तिता नियम्यति । ततश्च सामान्याधिकरण्य अपि उपपद्यते । अतएव च भेदे पि अभेदप्रतीतिरियम् नापन्याय:"[2]।

उपर्युक्त उद्धरण शब्दश: प्रपत्र संख्या १६ में मिलता है । शायद उद्भट की यह विवेचना ही हेमचन्द्र की पथप्रदर्शक है जैसा कि हम पहले ही बता चुके हैं कि हेमचन्द्र ने पूर्ववर्ती आचार्यों में उद्भट का ही अनुकरण किया है । यह भी एक ऐसा तथ्य है जो इस बात का परिचायक है कि ये प्रपत्र उद्भट द्वारा प्रणीत भामह विवरण के ही हैं ।

प्रपत्र सं० २७ इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं । उद्भट ने श्लेष को श्लिष्ट कह कर पुकारा है । वे इसे अलंकारान्तरोत्पत्ति हेतु मानते हैं । उनके अनुसार श्लेष अन्य अलंकारों की प्रतिभा का उत्पत्ति हेतु नहीं है बल्कि अन्य अलंकार ही श्लेष की प्रतिभा के उत्पत्ति हेतु हैं । प्रपत्र सं० २७ उद्भट की उपर्युक्त धारणा को समर्थन प्रदान करता है । मम्मटादि आचार्यों ने उद्भट की उक्त मान्यता के विरूद्ध मत व्यक्त किया है । इस प्रकार प्रपत्र सं० २७ इस बात को प्रमाणित करता है कि इसके लेखक आचार्य उद्भट ही हैं ।

इसके अतिरिक्त जैसा कि विदित है, उद्भट ने भामह के अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का संशोधन किया था । प्रपत्र सं० ४० में इस प्रसंग में विस्तृत रूप से दिया गया है । उद्भट की इस विचारधारा ने इन्दुराज और हेमचन्द्र को भी प्रभावित किया था ।

१- काव्यालंकारसारसंग्रह, १।११ ।
२- विवेक, ३५० ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि ये प्रपत्र आचार्य उद्भट द्वारा प्रणीत भामह विवरण के ही हैं।

काव्यालङ्कारसार सङ्ग्रह

आचार्य उद्भट की एकमात्र उपलब्ध कृति काव्यालंकारसार संग्रह है। इस ग्रन्थ में ६ वर्गों में ४१ अलंकारों का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में अलंकारों का वर्गीकरण सामान्यतया भामह के ही समान है। ग्रन्थ में प्रदत्त अलंकारों की परिभाषाएं अधिकांश भामह की ही हैं परन्तु कतिपय अलंकारों का वर्गीकरण उद्भट ने अपनी प्रज्ञा के अनुरूप किया है। कतिपय परिभाषाओं में ईषत् संशोधन भी किया गया है। विभावना की परिभाषा तथा अतिशयोक्ति, यथासंख्य, सहोक्ति, ससन्देह तथा अनन्वय के प्रथम प्रकारों की परिभाषाएं ज्यों की त्यों भामह की हैं तथा आक्षेप, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, विरोध और अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकारों की परिभाषाएं थोड़े संशोधन के साथ स्वीकार की गयी हैं। यथायोक्त एवं रसवत् अलंकारों की परिभाषाओं का आधा भाग भामह का है। इस प्रकार काव्यालंकारसार संग्रह के प्रणयन के समय उद्भट ने जहां उचित समझा है, वहां भामह की परिभाषा को ज्यों की त्यों ग्रहण करने में संकोच नहीं किया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन में उद्भट ने सर्वत्र भामह का अन्धानुकरण ही किया है। इससे उनकी मौलिकता पर किसी भी प्रकार का दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। वस्तुत: जिन नवीन अलंकारों का आविष्कार उद्भट ने किया है या जो नवीन परिभाषाएं उन्होंने दी हैं, उनमें उनकी मौलिकता सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। उद्भट द्वारा आविष्कृत अनेक अलंकारों को मम्मट जैसे दुर्धर्ष काव्याचार्यों ने स्वीकार किया है।

उद्भट भामह के अन्धानुयायी नहीं कहे जा सकते जैसा कि हम अगले अध्याय में विस्तारपूर्वक विवेचित करेंगे। उन्होंने भामह द्वारा विवेचित कतिपय अलंकारों को छोड़ दिया है क्योंकि उन्होंने अलग से उनकी विवेचना करने की आवश्यकता नहीं समझी। इस प्रकार उन्होंने यमक, असंभव (उपमाभेद), उपमारूपक तथा

उत्प्रेक्षावयव अलंकारों को छोड़ दिया है। इसके विपरीत उन्होंने कतिपय नवीन अलंकारों का आविष्कार किया है। उद्भट द्वारा आविष्कृत नवीन अलंकारों को परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने ग्रहण किया है। उद्भट ही प्रथम आचार्य थे जिन्होंने पुनरुक्तवदाभास काव्य हेतु तथा काव्य दृष्टान्त अलंकारों की सर्वप्रथम मीमांसा की थी। ये अलंकार भामह दण्डी और वामन की काव्यकृतियों में दृष्टिगोचर नहीं होते।

उद्भट की अलंकारशास्त्र सम्बन्धी समस्त धारणाएं और मान्यताएं आज हमारे समक्ष नहीं हैं क्योंकि उनकी समस्त कृतियां हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं हो सकी। काव्यालंकारसार संग्रह के रूप में उनकी कृति का एक छोटा टुकड़ा हमारे समक्ष विद्यमान् है। परन्तु इस बात से कदापि इनकार नहीं किया जा सकता कि काश्मीरक आचार्यों में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। काव्यालंकारसार संग्रह में ही विवेचित अलंकार उद्भट का आचार्यत्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। सम्प्रति संक्षेप में उद्भट द्वारा विवेचित अलंकारों के स्वरूप पर दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा।

१- <u>पुनरुक्तवदाभास</u> — इस अलंकार का प्रयोग न तो भरत के नाट्यशास्त्र में हुआ है और न ही भामह और दण्डी ने इस अलंकार का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि उद्भट के पूर्ववर्ती अलंकारिकों ने इस अलंकार का प्रयोग नहीं किया है। यह उद्भट द्वारा नवाविष्कृत अलंकार है। वामन ने भी इस अलंकार की कोई चर्चा नहीं की है। सम्भवत: वामन ने उद्भट के समसामयिक होने और उनके प्रतिद्वन्दी होने के नाते इस अलंकार का उल्लेख तक नहीं किया है। उद्भट के अनुसार आकार की दृष्टि से जहां भिन्न वाले पद एकार्थक से जान पड़े, वहां पुनरुक्तवदाभास अलंकार होता है[१]। इन्दुराज ने उद्भट द्वारा प्रणीत पुनरुक्तवदाभास के लक्षण स्पष्ट करते हुए बताया है कि इसमें दो पद इस प्रकार के प्रयुक्त रहते हैं जिनमें समानार्थकता का आभास मिलता है। परन्तु वस्तुत: वे समानार्थक नहीं प्रतीत होते, जैसे 'शितिकण्ठ: कालगलत्' में 'शितिकण्ठ' एवं 'कालगल' शब्द समानार्थक प्रतीत होते हैं। प्रकृत स्थल पर पुनरुक्तता का आभास

१- पुनरुक्ताभासमभिन्नवस्त्विवाद्भासि भिन्नरूप पदम् — काव्यालंकारसारसंग्रह।

मिलता है, पर वह आभास ही है, वास्तविकता नहीं। आचार्य मम्मट और अलंकारसर्वस्वकार ने ईषत् संशोधित रूप में पुनरुक्तवदाभास का वर्णन किया है। इस प्रकार पुनरुक्तवदाभास के प्रथम आविष्कारक आचार्य उद्भट ही हैं।

२- छेकानुप्रास — पूर्वोक्त अलंकार की भांति यह अलंकार भी भामह और दण्डी के बाद सर्वप्रथम उद्भट द्वारा प्रणीत काव्यालंकारसार संग्रह में ही दृष्टिगोचर होता है। इस अलंकार के भी प्रथम आविष्कारक आचार्य उद्भट ही हैं। परवर्ती आलंकारिकों ने अनुप्रास के अन्तर्गत ही छेकानुप्रास को एक भेद के रूप में रखा है। परन्तु उद्भट ने अनुप्रास से पहले छेकानुप्रास नामक एक अलग अलंकार की परिकल्पना की है। इन्दुराज ने इसे छेकों (विदग्धों) का अनुप्रास ही कहा है। आचार्य उद्भट के अनुसार छेकानुप्रास[1] वहां होता है जहां दो-दो स्वर-व्यंजन समष्टियों की सुसदृश उक्ति हो। अर्थात् यहां एक नहीं प्रत्युत् सदृशोक्ति के अनेक युग्मक हों, केवल एक ही सदृशोक्ति सम्पन्न जोड़ा न हो। भिन्न युग्मों के वर्णसाम्य में आनुपूर्वी का साम्य अपेक्षित नहीं है। यदि कहीं अनेक सदृश वर्णों के जोड़े में आनुपूर्वी भी एक हो गयी तो अर्थभेद होने पर यमक से इसका अन्तर ही नहीं रह जायेगा। यदि कहीं अर्थभेद हुआ या उसकी आशंका मात्र हुई तो लाट पुनरुक्तवदाभास में अन्तर नहीं रह जायेगा। उद्भट ने उसका उदाहरण यों दिया है—

स देवो दिवसान्निन्ये तस्मिञ्शैलेन्द्र कन्दरे।
गरिष्ठ गोष्ठीप्रथमैः प्रथमैः पर्युपासितः ।।

भामह, दण्डी और वामन ने छेकानुप्रास की कोई चर्चा नहीं की है। उद्भट के बाद मम्मट ने छेकवृत्तिगता द्विधा अनुप्रासों की चर्चा की है। इससे स्पष्ट है कि पूर्वाचार्यों में उद्भट ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने छेकानुप्रास का आविष्कार किया।

१- छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ ।।— १।३ ।

३- **अनुप्रास** — यह एक ऐसा अलंकार है जिस पर भरत से लेकर आज तक अलंकार लिखने वाले हर आचार्यों ने विवेचना की है। उद्भट ने वृत्तियों के अनुसार अनुप्रास के तीन प्रभेदों का परिगणन किया है—

> सरूप्यव्यंजनन्या सं तिसृष्वैतासु वृत्तिषु ।
> पृथक् पृथगनुप्रासमशन्ति कवयस्तदा ।।[१]

बाद में रुद्रट ने इसके ५ भेदों का परिगणन किया है। कुन्तक ने वर्णविन्यास-वक्रता को अनुप्रास की संज्ञा दी है। मम्मट ने वर्णसाम्य को अनुप्रास कहा है। हेमचन्द्र ने व्यंजनस्यावृत्तिरनुप्रास: कहा है। साहित्यदर्पणकार ने शब्दसाम्य को अनुप्रास कहा है। समस्त आचार्यों में उद्भट ने जो अनुप्रास की विवेचना की है वह अपने ढंग की अनूठी है।

४- **लाटानुप्रास** — उद्भट ने लाटानुप्रास की परिभाषा बताते हुए यह कहा है कि स्वरूपत: एवं अर्थत: अभिन्न शब्द या पद की पुनरुक्ति जहां किसी प्रयोजन से की जाय वहां लाटानुप्रास होता है[१]। उद्भट ने इसके पांच प्रभेदों का परिगणन किया है— स्वतंत्र (दो पदों से) स्वतंत्रपरतंत्र तथा परतंत्र (दो पदों से)। इन्दुराज के अनुसार यह अनुप्रास लाट प्रदेशवासियों को काफी प्रिय है। मम्मट ने लाटानुप्रास की परिभाषा बताते हुए लिखा है कि शब्द एवं अर्थगत अभेद रहने पर भी अन्वयमात्र से जहां भेद हो, वहां यह अलंकार होता है। मम्मट का प्रभेद परिगणन यद्यपि उद्भट की अपेक्षा कुछ निश्चित है फिर भी यह अवश्य है कि मम्मट के ऊपर उद्भट की छाप है। हेमचन्द्र ने मम्मट का अनुसरण किया है

५- **रूपक** — रूपक के स्वरूप की विवेचना करते हुए उद्भट का कथन है कि जहां एक पद का दूसरे पद से अभीष्ट सम्बन्ध अभिधालभ्य अर्थ द्वारा न बन सके वहां प्रधान

१- स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्ति: फलान्तरात् ।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ।।— १।८ ।

के अनुरोधवश अप्रधान पद की लक्षणा के द्वारा जब प्रधान पद से सम्बन्ध किया जाय तो रूपक अलंकार कहा जाता है[1]। इसके दो भेद- समस्त वस्तुविषयक तथा एकदेशविवर्ति बताये गये हैं। कुछ लोग समस्त वस्तु विषयक को माला-रूपक कहते हैं और एकदेशविवर्ति की व्याख्या और ढंग से करते हैं। रूपक की चर्चा भरत ने भी की है[2]। भामह का कथन है कि उपमान से उपमेय का तादात्म्य जहां गुण साम्य देखकर निरूपित किया जाय वहां रूपक अलंकार होता है[3]। दण्डी के अनुसार- उपमैव तिरोभूत भेदारूपकमुच्यते। अर्थात् उपमा भेद यदि हटा दिया जाय तो वह रूपक हो जाती है। वामन का कथन है कि- उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्वारोपो रूपकम्। अर्थात् उपमान के साथ उपमेय का गुणसाम्य होने के कारण जो अभेद का आरोप होता है उसे रूपक अलंकार कहते हैं। रुद्रट ने वामन, दण्डी तथा भामह का अनुसरण किया है परन्तु उनका प्रभेद निरूपण अत्यन्त वैज्ञानिक है। कुन्तक और भोज ने उद्भट का अनुसरण किया है। मम्मट ने साम्यमूलक अलंकारों के प्रसंग में रूपक की परिभाषा देते हुए कहा है कि उपमान एवं उपमेय का अभेद ही रूपकालंकार है। मम्मट ने सांग, निरंग एवं परम्परित नाम से तीन प्रभेदों का परिगणन किया है। उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि उद्भट ने अपने पूर्ववर्तियों से रूपक की परिभाषा बिल्कुल उधार नहीं ली है। उनकी रूपक विवेचना अपने ढंग की है।

१- श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत् ।।—१।११।

२- नानाद्रव्यानुषांगाद्यैर्यदौपम्यं गुणाश्रयम्।
रूपनिर्वर्णनायुक्तं तद्रूपकमिति स्मृतम् ।।
स्वविकल्पैर्विरचितं तुल्यावयव लक्षणम्।
किंचित्सादृश्यसंपन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ।।— भरत।

३- उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः।।— २।२१।

६- दीपक — उद्भट ने दीपक का स्वरूप बताते हुए कहा है कि दीपक में जो साधारण धर्म प्रयुक्त होते हैं, वहां उपमा अन्तर्निहित रहती है— बचा नहीं[1]। इन धर्मों का सम्बन्ध उपमेय तथा उपमान दोनों से होता है। धर्म आरम्भ में भी आ सकते हैं, मध्य में भी और अन्त में भी। भरत ने भी दीपक अलंकार की परिभाषा दी है[2]। उनके अनुसार नाना प्रकार के शब्द जब परस्पर एक दूसरे को दीपित करते हुए एक वाक्य में स्थित हों तो वहां दीपक अलंकार होता है। भामह ने दीपक के तीन प्रभेदों का परिगणन करते हुए लिखा है कि एक ही धर्म कभी आदि कभी मध्य तथा कभी अन्त में आता है इसलिए दीपक के तीन प्रकार होते हैं। दीपक संज्ञा इसलिए सार्थक है कि वहां प्रकृत धर्म अर्थ दीप्त करते हैं। भामह ने अर्थ दीपन का अभिप्राय स्पष्ट नहीं किया है और यह भी नहीं बताया है कि उपमा या सादृश्य की स्थिति क्या होती है? दण्डी ने दीपक की परिभाषा बताते हुए कहा है कि एक वाक्य में अवस्थित जाति गुण क्रिया एवं द्रव्य वाचक पद यदि स्वसंसृष्ट वाक्य का उपकार करके स्वार्थ द्वारा अन्य वाक्यों का भी उपकार करती है तो दीपक अलंकार होता है[3]। वामन ने उपमा रूपक के बाद कई अलंकारों का विवेचन करने के बाद दीपक की विवेचना की है। वामन ने उद्भट द्वारा प्रदत्त दीपक की विशेषताओं का उल्लेख नहीं किया है। रुद्रट ने भी वामन का अनुकरण किया है। कुन्तक के अनुसार औचित्य के अनुरूप सुन्दर और सहृदयों के आह्लादकारक पदार्थों के प्रतीयमान धर्म को प्रकाशित करने वाली वस्तु का नाम दीपक है।

७- उपमा — भरत के अनुसार गुण और आकृति के आधार पर सादृश्यवश जहां किसी वस्तु को उपमित किया जाय वहां उपमा अलंकार होता है। भामह के अनुसार देश, काल एवं क्रिया आदि दृष्टियों से भिन्न उपमान से जहां उपमेय

१- आदिमध्यान्त विषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद्दीपकं विदुः ॥— १।१४।

२- नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीयतः।
एक वाक्येन संयोगो यस्तद्दीपक मुच्यते ॥— भरत।

३- जातिक्रियागुणद्रव्य वाचिनैकत्र वर्तिना।
सर्ववाक्योपकारश्चेत् तमाहुर्दीपकं बुधाः ॥— दण्डी।

का साम्य प्रदर्शित किया जाय वहां उपमा अलंकार होता है। उद्भट ने उपमा के विषय में एक नई धारा का प्रवर्तन करते हुए उसे साधर्म्य रूप माना है। परवर्ती आलंकारिकों में से कुछ सादृश्य को और कुछ साधर्म्य को उपमा कहते हैं। उद्भट ने उपमा के १७ प्रभेदों का परिगणन किया है। उनके समसामयिक वामन ने साम्य को उपमा की संज्ञा दी है। उद्भट की भांति मम्मट ने भी साधर्म्य को उपमा कहा है।

८- प्रतिवस्तूपमा — भामह ने इस अलंकार का निरूपण करते हुए कहा है कि समान वस्तुओं के न्यास से प्रतिवस्तूपमा होती है। यहां औपम्य की प्रतीति के लिए यद्यपि यथा इव आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता, फिर भी गुणों के कारण साम्य की प्रतीति होती है। भामह ने उपमा भेद के रूप में इसका उल्लेख किया है। दण्डी ने भी उपमा प्रभेद के ही रूप में इस पर विचार किया है। उद्भट ने प्रतिवस्तूपमा की स्वतंत्र व्याख्या की है। उनके अनुसार उपमान एवं उपमेय के संविधान में जहां साम्य वाचक शब्द का अनेक बार बुधों ने अनेकधा प्रयोग किया है, वहां प्रतिवस्तूपमालंकार होता है[१]। कुन्तक ने इस अलंकार का खण्डन करते हुए इसे प्रतीपमानोपमा में ही अन्तर्भूत कर लिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य प्रतिवस्तूपमा को उपमा के प्रभेद के रूप में निरूपित करते रहे हैं, यहां तक कि उन लोगों को दृष्टान्त एवं प्रतिवस्तूपमा का अन्तर स्पष्ट न होने के कारण दृष्टान्त अलंकार का भी पृथक् से कोई निर्देश नहीं किया। उद्भट ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम प्रतिवस्तूपमा को एक पृथक अलंकार के रूप में उद्घोषित किया और साथ ही दृष्टान्त की भी पृथक् परिभाषा दी है।

९- आक्षेप — भामह ने आक्षेप की परिभाषा देते हुए कहा है कि जहां किसी विशेष कथन की इच्छावश इष्ट के कथन का प्रतिषेध सा कर दिया जाय वहां

१- उपमान संनिधाने च साम्य वाच्यच्यते बुधैर्म।
उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ।।—१।२२।

आक्षेप अलंकार होता है। यह दो प्रकार का होता है— वक्ष्यमाण विषयक, तथा उक्त विषयक। दण्डी की परिभाषा बड़ी अस्पष्ट है। उनका कथन है कि आक्षेप प्रतिषेधोक्ति ही है और प्रतिषेधक्रिया का तीनों कालों से सम्बन्ध हो सकता है। भामह के आक्षेप के स्वरूप से दण्डी का आक्षेप स्वरूप कुछ भिन्न है। उद्भट ने भामह की परिभाषा ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली है[1]। परन्तु साथ ही साथ कुछ और आगे बढ़कर सोचा है। इन्दुराज ने उद्भट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि इष्ट का प्रतिषेध ही आक्षेप है। उद्भट के समसामयिक वामन आक्षेप का सर्वथा नया स्वरूप बताया है। उनके अनुसार उपमान पर आक्षेप करना - उसके महत्व को गिराना ही आक्षेप का विषय है। मम्मट ने भामह और उद्भट द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं को मान्यता दी है।

१०- <u>अर्थान्तरन्यास</u> — भामह ने इस अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है कि प्राकरणिक अर्थ के अनुरूप जहाँ अन्य अर्थ का न्यास हो वहाँ अर्थान्तरन्यास होता है[2]। दण्डी का कथन है कि किसी प्राकरणिक वस्तु का उपन्यास या विन्यास करके उस प्रस्तुत अर्थ के साधन उपपादन में समर्थ अप्रस्तुत वस्तु के उपन्यास को हो अर्थान्तरन्यास नामक अलंकार मानना चाहिए। उद्भट ने पूर्वाचार्यों द्वारा चर्चित वक्तव्य को थोड़ा और स्पष्ट करके उपस्थित किया है[3]। और परवर्ती अलंकारिकों ने उनका अनुगमन भी किया है। उद्भट ने अर्थान्तरन्यास के स्वरूप एवं प्रभेद के सम्बन्ध में जो कुछ भी विचार प्रस्तुत किए हैं, बीच में भले हो अनेक आचार्यों ने उसे अस्वीकृत कर दिया हो परन्तु पण्डितराज तथा उनके स्वरूप एवं प्रभेद विषयक दोनों ही विचारों का प्रवाह अविच्छिन्नरूप से चलता रहा।

१- प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ।।— २।२५ ।

२- उपन्यसुनमन्यस्य यदर्थस्योहितादृते ।
ज्ञेयः सो र्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा ।।— भामह, २।७१ ।

३- समर्थकस्य पूर्वं यद्वचो न्यस्य च पृष्ठतः ।
विपर्ययेण वा यस्यादिशब्दोक्त्यान्यथापि वा।।— २।२७ ।

११- व्यतिरेक — भामह ने व्यतिरेक की परिभाषा देते हुए कहा है कि उपमान रखने वाले उपमेय रूप अर्थगत जब कोई विशेषता प्रदर्शित की जाती है तब वहाँ व्यतिरेक का प्रयोग होता है। इस प्रयोग के मूल में स्थित कारण यह है कि वहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में विशेषता आपादित की जाती है[1]। दण्डी ने बताया है कि जहाँ पर उपमान एवं उपमेय का सादृश्य इव आदि वाचक शब्द के प्रयुक्त होने से शब्दश: कथित हो या न प्रयुक्त होने से अर्थत: प्रतीत हो, वहाँ पर यह अलंकार तब होता है जब उपमान और उपमेय का परस्पर भेद कथन हो[2]। उद्भट ने भामह का अनुसरण किया है। परन्तु उन्होंने कुछ अपने भी विचार जोड़े हैं। यद्यपि वे यह मानते हैं कि उपमान और उपमेय के बीच जो विशेष का उपादान है वही व्यतिरेक है परन्तु इस विशेष का निमित्त कभी-कभी स्पष्ट रहता है और कभी-कभी तिरोहित हो जाता है[3]। वामन भी इसी परम्परा का समर्थन करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। बाद के आचार्यों ने व्यतिरेक का विस्तृत निरूपण किया है तथा अनेक प्रभेदों का परिगणन किया है।

१२- विभावना — उद्भट ने भामह द्वारा निर्दिष्ट विभावना का लक्षण ही स्वीकार किया है। और उसे ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। उनके अनुसार कारण के न रहने पर भी यदि उसके फल की सत्ता देखी जाय तो विभावना नाम का अलंकार होता है[4]। दण्डी ने भी दूसरे शब्दों में यही अभिप्राय व्यक्त किया है। सब ही आचार्यों ने भी किसी न किसी रूप में उद्भट की मान्यताओं का समादर किया है।

१- उपमावतोऽर्थस्य मद्विशेषनिदर्शनम् ।
व्यतिरेकमिच्छन्ति विशेषापादनादत: ।।— भामह, २।७५ ।

२- तत्र यद्भेदकथनं व्यतिरेक: सकथ्यते ।।— दण्डी ।

३- विशेषापादनं यत्स्यादुपमानोपमेययो: ।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु स: ।।— २।२६ ।

४- क्रियाया: प्रतिषेधेऽपि तत्फलस्य विभावना ।
ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति ।।— २।३२ ।

१३- समासोक्ति — इस अलंकार के वर्णन में भी उद्भट ने भामह का ही अनुसरण किया है। परन्तु यह बात अवश्य है कि जिस प्रकार विभावना के निरूपण में उद्भट ने भामह के लक्षण को ज्यों का त्यों उतार लिया था वह स्थिति समासोक्ति के विषय में नहीं है। भामह के अनुसार जहां किसी वस्तु का अभिधा में वर्णन किया गया हो और उसी प्रसंग में समान विशेषण से यदि कोई अप्रस्तुत अर्थ भी आभासित हो रहा हो तो संक्षेप में इस प्रकार की उक्ति का विधान होने से इसे समासोक्ति कहा जा सकता है। उद्भट का कथन है कि जहां प्रस्तुत अर्थ प्रदान करने वाले वाक्य से समान विशेषण के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का भी कथन हो जाय, वहां समासोक्ति अलंकार होता है[1]। इस परिभाषा में उद्भट ने भामह की अनगढ़ परिभाषा को बहुत ही व्यवस्थित शब्दों में कहा है। दण्डी ने भामह और उद्भट की अपेक्षा भिन्न प्रकार की परिभाषा दी है। उद्भट की इस मान्यता को परवर्ती आचार्यों ने भी स्वीकार किया है कि जहां प्रस्तुत वर्ण्य से अप्रस्तुत की व्यंजना हो वहां समासोक्ति होती है। मम्मट ने उद्भट की मान्यताओं को स्वीकार किया है। इस प्रकार समासोक्ति के सम्बन्ध में परवर्ती आचार्य उद्भट के ऋणी हैं।

१४- अतिशयोक्ति — भामह ने अतिशयोक्ति की परिभाषा देते हुए यह कहा है कि निमित्त विशेष से जो लोकोत्तर वचन का विधान किया जाता है, उसे अतिशयोक्ति अलंकार कहते हैं। दण्डी की भी परिभाषा का मन्तव्य यही है। उद्भट ने भामह का अनुसरण करते हुए भी बहुत कुछ नयी बात कही है[2]। उन्होंने अतिशयोक्ति के चार प्रभेदों का परिगणन किया है— (१) अनेकता में में एकता, (२) एकता में अनेकता, (३) अविद्यमान की विद्यमानता, (४) पौर्वापर्य विपर्यय। ध्वन्यालोककार तथा अभिनवगुप्त ने अतिशयोक्ति अलंकार के स्वरूप

१- प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्ति रुदाहृता ।।— २।३३ ।

२- निमित्ततो यत्तुवचो लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्ते विशयोक्ति तामलंकारतया बुधाः।।— २।३४ ।

को लोकातिक्रान्तगोचर कहा है । तात्पर्य यह है कि यह परम्परा काफी दूर तक चलती रही और परवर्ती आचार्यों को भी इस परम्परा ने प्रभावित किया ।

१५- यथासंख्य — उद्भट ने यथासंख्य का निरूपण करते हुए भामह का अविकल अनुवाद किया है । उद्भट के अनुसार जहां अनेक असमानधर्मी पदार्थों का पहले जिस क्रम से उद्देश्य या नामकथन किया गया हो, उसी क्रम के अनुसार जब फिर उनसे सम्बद्ध पदार्थों का विधान किया जाय, तो वहां यथासंख्य नाम का अलंकार होता है[१]। यही बात भामह ने भी कहा है । रुद्रट और कुन्तक ने भी इसी परम्परा का अनुगमन किया है ।

१६- प्रेयस्वत् — भामह ने प्रेयस्वत् की परिभाषा तो नहीं दी है परन्तु उदाहरण दिया है । इससे यह द्योतित होता है कि शायद भामह प्रीति के प्रकाशन तक ही सीमित रखना चाहते हैं । दण्डी ने इसकी परिभाषा दी है और कहा है कि प्रियतर आख्यान या उक्ति ही प्रेय अलंकार है । उन्होंने उदाहरण भामह का ही दिया है । उद्भट ने इस अलंकार की परिभाषा देते हुए कहा है कि जिस काव्य में रति आदि समस्त भावों की अनुभाव आदि के द्वारा सूचना दी गयी हो वहां प्रेयस्वत् अलंकार होता है[२]।

१७- समाहित — पूर्वोक्त अलंकार की भांति भामह ने समाहित की भी परिभाषा नहीं दी है, केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किया है । दण्डी ने समाहित की परिभाषा देते हुए कहा है कि यदि कोई कार्य आरम्भ कर दिया गया हो और दैवात् उसका साधन यदि आ टपके तो वहीं समाहित नाम का अलंकार होता है । उद्भट ने समाहित का स्वरूप भामह और दण्डी से भिन्न बताया है । और यही रूप आगे चलकर मान्य भी हुआ । उन्होंने बताया है कि रस, भाव, रसाभास

१- भूयसामुपदिष्टानामर्थानां सधर्मणाम् ।
क्रमशो यो नुनिर्देशो यथा सख्यतदुच्यते ।।— ३।३८ ।

२- रत्यादिकानां भावानां अनुभावादि सूचनैः ।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिः तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ।।— ४।४३ ।

एवं भावाभास का प्रशम हो वहां समाहित नाम का अलंकार होता है[1]। वामन ने समाहित सम्बन्धी जो स्वरूप प्रस्तुत किया है वह सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार जिसका जिससे सादृश्य हो उसमें उसी का रूप देखना समाहित है। रुद्रट ने इस अलंकार की विवेचना नहीं की है। कुन्तक ने रसवत् प्रेयस्व, समाहित आदि अलंकारों की जमकर आलोचना की है।

१८- ऊर्जस्वी — भामह ने इस अलंकार की परिभाषा नहीं दी है, केवल उदाहरण दिया है। दण्डी ने भी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है बल्कि उन्होंने उदाहरण दिया है। उद्भट ने ऊर्जस्वी की सर्वथा संशोधित एवं नवीनतम परिभाषा दी है। उनका कथन है कि काम-क्रोध आदि व्यक्तिगत कारणों से उत्पन्न अनौचित्य का जब रस एवं भाव बोधक सामग्री में सान्निवेश कर दिया जाता है तब इस प्रकार की अनुचित सामग्री से संबलित रसभावमयी रचना में ऊर्जस्वी अलंकार का व्यवहार किया जाता है[2]।

१९- उदात्त — भामह ने उदात्त की भी परिभाषा प्रस्तुत नहीं की है। दण्डी ने बताया है कि जहां आशय या विभूति के अनुत्तम महत्व का वर्णन किया गया हो वहां मनीषियों ने उदात्त अलंकार माना है। उद्भट ने उदात्त का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा है कि किसी वस्तु का समृद्धियुक्त वर्णन उदात्त है, उदात्त वहां भी होता है, जहां किसी महात्मा का रसमय चरित्र भी निबद्ध हो[3]। उद्भट द्वारा प्रदत्त यह परिभाषा परवर्ती आलंकारिकों को भी मान्य हुई। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी आचार्य उद्भट की ही परिभाषा को मान्यता दी है।

२०- रसवत् — भामह के अनुसार रसवत् अलंकार वहां होता है जहां स्पष्टत: श्रृंगारादि रस दर्शित हों। दण्डी ने रसवत् का उल्लेख करते हुए यह बताया है कि प्रेयस्वत् अलंकार में जो प्रीति या रति रहती है, वह विभावादि से अपरिपुष्ट

१- रसभाव तदाभासवृत्तै: प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनि:शून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ।।— ४।४८।

२- अनौचित्य प्रवृत्तानां कामक्रोधादि कारणात्।
भावानां च रसानां च बंध: ऊर्जस्वि कथ्यते ।।— ४।४६।

३- उदात्तं ऋद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
कस्याचिन्मृगडिम्भादे: स्वभावोक्तिरुदाहृता।।— ३।४१।

रहती है। वही जब विभावादि सामग्री से सम्यक् परिपुष्ट हो जाती है तो रसवत् अलंकार का अभ्युदय होता है। आचार्य उद्भट ने भामह का अनुकरण करते हुए स्पष्ट इंगित किया है कि जहां स्पष्ट अर्थात् विभावादि परिपुष्ट रूप में रस की प्रतीति हो, वहां रसवत् अलंकार की स्थिति मानी जानी चाहिए[1]। बाद के आचार्यों ने विशेषकर आचार्य कुन्तक ने उद्भट द्वारा प्रतिपादित रसवत् की बड़ी प्रखर आलोचना की है जिसका विस्तृत विवरण हम आगे के अध्याय में देंगे।

२१- स्वभावोक्ति — भामह ने स्वभावोक्ति की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो वस्तु जिस अवस्था का है उसी का हूबहू वर्णन स्वभाव वर्णन है अर्थात् स्वभावोक्ति अलंकार है। दण्डी ने द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों की गणना करते हुए कहा है कि स्वभावाख्यान भी एक अलंकार है। स्वभाव जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य चारों का अंकित किया जा सकता है। अतः वर्ण्यवस्तु के आधार पर स्वभावोक्ति चार प्रकार की होती हैं। उद्भट ने स्वभावोक्ति का भामह की अपेक्षा और विशद् चित्रण किया है। उनका कथन है कि व्यापार-विशेष में संलग्न मृग आदि पशुओं या बालकों के अपनी जाति के अनुरूप जो विशेष अभिनिवेश है उनका उपनिबंधन ही स्वभावोक्ति कहलाता है[2]। वामन इस अलंकार के विषय में मौन हैं। रुद्रट ने स्वभावोक्ति का वर्णन उसे 'जाति' मानते हुए किया है। कुन्तक स्वभावोक्ति को अलंकार मानने को तैयार नहीं हैं।

२२- उत्प्रेक्षा — भामह के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार उस स्थान पर होता है जहां उपमान एवं उपमेय के बीच विद्यमान रहते हुए भी साम्य की विवक्षा नहीं होती, परन्तु साथ ही औपम्य की फलक अवश्य रहती है। यहां अप्रकृत या उपमानगत गुण या क्रिया के सम्बन्ध में उपमेय की उपमान के रूप में उत्प्रेक्षा की जाती है।

१- रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्॥ — ४।४४।

२- क्रियायां सम्प्रवृत्तस्य हेवाकानां निबंधनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥ — ३।४१।

और ऐसा करने के लिए यह सहज ही सम्भव है कि कुछ अतिशय का सहारा लेना पड़े। दण्डी ने भी भामह की ही भांति उत्प्रेक्षा का वर्णन किया है, भले ही शब्दों में अन्तर है। उद्भट ने उत्प्रेक्षा का जो वर्णन किया है वह इनके पूर्वाचार्यों की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। इस प्रकार भामह तथा दण्डी की उत्प्रेक्षा विषयक संकुचित धारणा को उद्भट ने जो स्पष्टता प्रदान की, उसने परवर्ती मम्मटादि अलंकारिकों को भी प्रभावित किया[1]।

२३- पर्यायोक्ति — भामह ने पर्यायोक्ति अलंकार की परिभाषा देते हुए यह बताया है कि यह अलंकार भावों और विचारों की अभिव्यक्ति की सीधीसादी प्रकाशन सरणि न होकर घुमावदार विनम्र पद्धति है। यही बात घुमाफिरा कर दण्डी ने भी कही है। उनका कथन है कि अभीष्ट वस्तु को जहां सीधे न कहकर, उसी का प्रकारान्तर से जहां कथन किया जाय वहां पर्यायोक्त अलंकार होता है। भामह और दण्डी के मन में पर्यायोक्त की परिभाषा देते हुए जो अस्पष्टता थी उसे उद्भट ने और स्पष्ट कर दिया है। इस प्रकार भामह के 'अन्येन प्रकारेण अभिधान' तथा दण्डी के 'प्रकारान्तरेण' शब्द को और स्पष्ट करते हुए उद्भट का कथन है कि पर्यायोक्त में कथन 'वाच्यवाचकनिरपेक्ष' होता है। तात्पर्य यह है कि जहां अभिधा निरपेक्ष ढंग से अन्तर्हित शब्दव्यापार द्वारा अभिप्रेत अर्थ का अभिधान किया जाय वहां पर्यायोक्त नामक अलंकार होता है[2]। उद्भट ने इस प्रकार यह तो कह ही दिया था कि पर्यायोक्त अलंकार में अभिधावृत्ति से नहीं बल्कि अवगमात्मक ढंग से प्रतिपाद्य का प्रकाशन किया जाता है। इस प्रकार उद्भट ने उस द्वितीयक अर्थ की परिकल्पना की थी जिसे बाद में ध्वनिवादियों ने विशद् एवं वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किया। इसकी व्याख्या

१- साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणाक्रियायोगात् उत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥— ३।३६।

२- पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥— ४।४७।

हम अगले अध्याय में करेंगे । इस प्रकार पर्यायोक्त प्रकरण में आचार्य उद्भट ने भवगमात्मना शब्द का प्रयोग करके अपने और ध्वनिवादियों के बीच एक संध्यात्मक कड़ी की भूमिका का निर्वाह किया है । यह भी संस्कृत काव्यशास्त्र को उस महान् आचार्य का योगदान है ।

२४- <u>श्लिष्ट</u> — भामह, दण्डी और उद्भट- तीनों ने ही श्लिष्ट संज्ञा का ही प्रयोग किया है । सम्भवत: वामन ने ही पहले श्लेष शब्द का प्रयोग किया है । उद्भट ने श्लेष का निरूपण करते हुए भामह का अनुसरण बिलकुल नहीं किया है । उनकी अपेक्षा दण्डी के विचारों को उन्होंने बहुत दूर तक समादर प्रदान किया है । दण्डी द्वारा प्रतिपादित भिन्न पद और अभिन्न पद श्लेषों को दृष्टिकोण में रखकर उद्भट ने श्लेष की परिभाषा दी है । उद्भट की श्लेष विषयक धारणाओं के विषय में अगले अध्यायों में विस्तृत विवेचना की जायेगी ।

२५- <u>अपह्नुति</u> — भामह के अनुसार अपहनुति में औपम्य या सादृश्य अन्तर्निहित होता है तथा वास्तविक अर्थ का अपह्नव (छिपाव) होता है । दण्डी ने अपहनुति की विवेचना करते हुए भामह द्वारा प्रदत्त दूसरी शर्त तो स्वीकार की है लेकिन पहली का स्पष्ट उद्घोष नहीं किया है । उद्भट ने इस अलंकार का स्वरूप भामह द्वारा बताया गया ज्यों-का-त्यों स्वीकार किया है।[2]

२६- <u>विशेषोक्ति</u> — भामह ने इस अलंकार का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जहां किसी वस्तु का एक भाग विनष्ट हो गया हो, पर उसकी विशेषता का प्रदर्शन करने के लिए अन्य गुण की सम्यक् स्थिति हो, वहां विशेषोक्ति का व्यवहार होता है । दण्डी का कथन है कि जहां किसी वस्तु की विशेषता प्रदर्शित करने के लिए गुण, जाति एवं क्रिया आदि का अभाव वर्णित किया जाय वहां यह

१- एक प्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रतां ।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बंध: श्लिष्टमिहोच्यते ।।—४।५० ।

२- अपह्नुतिरभीष्टा च किञ्चिदन्तर्गतोपमा ।
भूतार्थापह्नवेनास्या निबंध: क्रियते बुधै: ।।— ५।५४ ।

अलंकार होता है। उद्भट ने विशेषोक्ति की परिभाषा बताते हुए कहा है कि जिस स्थल पर कारणों की समग्रता के बावजूद यदि कार्य की अनुत्पत्ति कही गयी हो और यह इसलिए कि इस विचित्र प्रतिपादन परम्परा से कुछ विशेष प्रतिपाद्य हो, तो वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है।[1] इस प्रकार भामह और दण्डी जिस अभिप्राय को स्पष्ट नहीं करा सके थे, उद्भट ने उसे व्यवस्थित और स्पष्ट किया। इसका परिणाम यह हुआ कि परवर्ती आचार्यों ने उद्भट को पर्याप्त मान्यता प्रदान की।

२७- विरोध — उद्भट ने विरोध अलंकार का वर्णन करते समय भामह द्वारा प्रदत्त परिभाषा को ज्यों-का-त्यों ग्रहण किया है। उनके अनुसार जहां कवि के द्वारा किसी विशेषता का प्रदर्शन करने के लिए गुण, क्रिया एवं द्रव्य के विरुद्ध सजातीय पद विजातीय पदार्थ का वर्णन किया जाय वहां विरोध नामक अलंकार होता है।[2] भामह ने विरोध को विरोधाभास शब्द से अभिहित करते हुए कहा है कि जहां कथन में विरोध सा झलकने लगे वहां विरोधाभास होता है।

२८- तुल्ययोगिता — भामह के अनुसार तुल्य कार्य क्रिया के योग से जहां न्यून की भी महान् से गुणगत समता प्रदर्शित करनी अभीष्ट हो, वहां यह अलंकार होता है। दण्डी का कथन है कि जहां प्रस्तुत वस्तु के साथ विवक्षित गुण की दृष्टि से विख्यात किसी अन्य अप्रस्तुत वस्तु की समता प्रस्तुत की स्तुति या निन्दा के ख्याल से वर्णित की जाय, वहां यह अलंकार होता है। वामन ने लगभग वही परिभाषा दुहराई है। उद्भट ने परवर्ती आचार्यों के लिए अपनी परिभाषा द्वारा इसकी दूसरी विशेषता का उद्घाटन किया है। उन्होंने कहा है कि जहां उपमा का बोधक शब्द न हो और जहां या तो केवल अप्रस्तुतों की पारस्परिक समता प्रयुक्त हो अथवा केवल प्रस्तुतों की समता का प्रदर्शन हो वहां यह अलंकार

१- यत्सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबंधनम् ।
विशेषस्याभिधित्सातस्तद्विशेषोक्ति रुच्यते ।।—५।५५ ।

२- गुणस्य वा क्रियाया व विरुद्धान्यक्रियावच: ।
यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते ।।— ५।५६ ।

होता है[1]। आचार्य मम्मट ने उद्भट की ही परम्परा का समादर किया है।

२९- अप्रस्तुत प्रशंसा — भामह ने अप्रस्तुत प्रशंसा की परिभाषा देते हुए बताया है कि जहाँ अधिकारच्युत अर्थात् अप्राकरणिक अन्य वस्तु की जहाँ स्तुति की जाय वहाँ यह अलंकार होता है। दण्डी की धारणा भामह के विपरीत है। उनका कथन है कि जहाँ अप्रस्तुत से प्रस्तुत का संकेत किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। उद्भट ने भामह का ही अनुकरण करते हुए उसमें थोड़ी स्पष्टता और ला दी है। उद्भट के अनुसार जहाँ अप्राकरणिक की स्तुति की जाय और वह स्तुति प्राकरणिक अर्थ में ही पर्यवसित हो वहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार होता है[2]। आचार्य मम्मट पर उद्भट का प्रभाव परिलक्षित होता है।

३०- व्याजस्तुति— उद्भट के अनुसार व्याजस्तुति अलंकार वहाँ होता है जहाँ शब्द-शक्ति के स्वभाववश निन्दा की तरह आभाषितमात्र हो पर वस्तुत: स्तुति ही अभीष्ट हो[3]। इसे व्याजस्तुति इसलिए कहते हैं कि यहाँ निन्दा के बहाने स्तुति की जाती है।

३१- ससन्देह — भामह ने ससन्देह के लिए तीन शर्तें स्थिर की हैं। पहली यह कि उपमान से उपमेय की एकता बतायी जाय, दूसरी यह कि ऐसा भेदक तत्व कहा जाय जो उपमेय से उपमान को अलग कर दे, तीसरा यह कि इन संदिग्ध उक्तियों से उपमेय का स्तवन हो सके। उद्भट ने भामह की उक्त परिभाषा को ज्यों-

---

१- उपमानोपमेयोक्ति शून्यैरप्रस्तुतैर्वच: ।
साम्याभिधायी प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता।।— ५।५८ ।

२- अधिकारादपेतस्य वस्तुनो न्यस्य भास्तुति: ।
अप्रस्तुत प्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबंधिनी ।।— ५।५९ ।

३- शब्दशक्ति स्वभावेन यत्रनिन्देव गम्यते ।
वस्तुतस्तुस्तुति: श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौमता:।।— ५।६० ।

की-त्यों तीनों शर्तों के साथ प्रस्तुत कर दी है। लेकिन उससे भिन्न एक और ससन्देह के भेद की बात कही है। उसका स्वरूप बताते हुए उनका कथन है कि जहां सन्देह के न रहने पर भी इसलिए सन्देह प्रस्तुत किया जाय ताकि उससे कोई और अलंकार ध्वनित हो और उसके कारण सौन्दर्य की प्रतीति हो[१]।

३२- परिवृत्ति — भामह ने इसकी परिभाषा देते हुए कहा है कि अन्य वस्तु के दान या त्याग से जहां किसी विशिष्ट वस्तु की उपलब्धि हो और इसका समर्थन अर्थान्तरन्यास से किया जाय वहां परिवृत्ति नामका अलंकार होता है। उद्भट ने यह बताया है कि किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु से परिवर्तन ही परिवृत्ति है। परिवर्तन में समान, न्यून और विशिष्ट तीनों प्रकार की वस्तु हो सकती है। सम और न्यून वस्तु ग्रहण की जाती है तो वह परिवृत्ति[२] अर्थ-स्वरूप है। यहां अर्थ का तात्पर्य है- उपादेय और अनर्थ का अनुपादेय। उद्भट ने इसकी गणना वास्तवमूलक अलंकारों में की है और बताया है कि दो वस्तुओं का जहां साथ ही त्याग और बदले में ग्रहण हो अथवा दान और ग्रहण न होने पर भी उसकी प्रसिद्धिवश औपचारिक स्थिति हो, वहां यह अलंकार होता है।

३३- अनन्वय — भामह, दण्डी और उद्भट सभी इस बात से सहमत हैं कि अनन्वय में एक ही वस्तु (वर्ण्य) उपमेय तथा उपमान दोनों होती है। भामह की तरह उद्भट भी इस प्रकार की उक्ति[३] का प्रयोजन एक ही मानते हैं और वह यह कि वर्ण्य की समानता अन्यत्र न हो। तात्पर्य यह है कि एक ही वस्तु में सादृश्य दिखाने का आशय केवल इतना है कि उसके समान वस्तु दुनिया में नहीं है। अन्यथा एक ही वस्तु में सादृश्य वास्तविक दृष्टि से तो सम्भव नहीं है।

१- उपमानेन तत्वं च भेदं च वदतः पुनः।
ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्बुधाः ॥— ६।६६।

२- समन्यूनविशिष्टैस्तु कस्यचित्परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत्परिवृत्तिरभाणि सा ॥— ५।६७।

३- यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता।
असादृश्य विवक्षातस्त मित्याहुरनन्वयम् ॥— ६।७६।

३४- उपमेयोपमा — भामह, दण्डी, वामन, उद्भट तथा रुद्रट इन सभी आलंकारिकों ने इस अलंकार के स्वरूप के विषय में एक ही अभिप्राय व्यक्त किया है। अन्तर केवल इतना है कि दण्डी तथा रुद्रट ने इसे उपमा के एक भेद के रूप में कहा है जबकि भामह, वामन तथा उद्भट ने एक स्वतंत्र अलंकार के रूप में इसकी मीमांसा की है। दण्डी ने इसे अन्यान्योपमा की संज्ञा देते हुए कहा है कि इसमें उपमान से उपमेय की तथा उपमेय से उपमान की परस्पर समता दिखायी जाती है। भामह ने भी एक ही वर्ण्य की बारी-बारी से उपमेयता तथा उपमानता स्वीकार की है। वामन ने भी इसी बात को कहा है। उद्भट इस धारणा से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इस प्रयोजन का खण्डन करते हुए कहा है कि वस्तुत: इस प्रकार की उक्ति का प्रयोजन यह होता है कि उन दोनों की तुलना में कोई तीसरा पदा उपस्थित नहीं किया जा सकता। अपनी बराबरी में तो ये ही हो सकते हैं। किसी प्रकार दण्डी के प्रयोजन से भी इसे अविरुद्ध कहा जा सकता है। उद्भट के अनुसार जहां उपमान एवं उपमेय में परस्पर उपमानोपमेयता हो तथा पदान्तर (तीसरे उपमान) की हानि हो, वहां उपमेयोपमालंकार होता है[१]।

३५- संकर — भामह ने संकर नाम के किसी भी अलंकार का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने प्रत्येक अलंकार का स्वरूप बताने के बाद यह कह दिया है कि संसृष्टि एक उत्तम विभूषण है। वहां अनेक अलंकारों का योग होता है। अनेक अलंकारों से गुम्फित वह अलंकृति रत्नमाला की भांति दृष्टिगोचर होता है। उद्भट ने संकर एवं संसृष्टि दोनों की पृथक्-पृथक् विवेचना प्रस्तुत की है। उन्होंने अलंकारों की सापेक्ष स्थिति में संकर तथा निरपेक्ष स्थिति में संसृष्टि नाम का अलंकार माना है[२]।

३६- संसृष्टि — उद्भट ने संसृष्टि वहां मानी है जहां अनेक अलंकारों की निरपेक्ष-स्थिति हो। भामह ने भी संसृष्टि की चर्चा की है। परन्तु वे इसके लिए केवल

१- अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता ।
उपमेयोपमाहुस्तां पदान्तर हानिगाम् ।।—५।६५ ।

२- अनेकालंक्रियोल्लेखे समं तद्वृत्यसंभवे ।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकर: ।।— ५।६२ ।

इतना ही आवश्यक मानते हैं कि एतदर्थ अनेक अलंकारों की स्थिति या उनका मिश्रण होना चाहिए। दण्डी ने संसृष्ठि के दो स्वरूप बताये। यद्यपि सामान्य स्वरूप निर्णय करते समय उन्होंने भी भामह की तरह यही स्वीकार किया था कि इसमें नाना अलंकारों का संसर्ग अपेक्षित है। उद्भट ने दण्डी द्वारा विभक्त इन दो रूपों में पहले को संकर और दूसरे को संसृष्ठि के अन्तर्गत रखा है। उन्होंने इसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि अनेक या दो अलंकारों का एकत्र निरपेक्ष अवस्थान संसृष्ठि कही जाती है[1]।

३७- <u>काव्यहेतु</u> — भामह काव्यहेतु नहीं मानते, क्योंकि व्यावहारिक धरातल की ऐसी भौतिक उक्तियों में किसी प्रकार की कविकल्पनोचित कम्यता निहित नहीं होती। उद्भट ने काव्यहेतु को काव्यलिंग नाम से परिभाषित किया है[2]। उनसे पूर्व काव्यलिंग नामक अलंकार की चर्चा भामह और दण्डी में से किसी ने भी नहीं की। परवर्ती आचार्यों ने हेतु, काव्यलिंग व अनुमान नाम से तीन ऐसे अलंकारों की चर्चा की है जिनमें कारक एवं ज्ञापक हेतुओं का चामत्कारिक विधान होता है।

३८- <u>दृष्टान्त</u> — नामक अलंकार का भामह तथा दण्डी दोनों में से किसी ने उल्लेख नहीं किया। वामन भी मौन हैं। उद्भट ने इसका स्वरूप बताते हुए कहा है कि जहां प्राकरणिक, प्रतिपाद्य वस्तु का बिलकुल विस्पष्ट प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया जाय, वहां यह अलंकार होता है[3]। यद्यपि अप्रस्तुत प्रशंसा में भी प्रतिबिम्बात्मक वस्तु का विन्यास किया जाता है, पर वहां विश्वसनीय प्राकरणिक अर्थ का उन्नयन होता है। दृष्टान्त में उसका साक्षात् कथन होता है। इस प्रकार उद्भट यह संकेत देते हैं कि इस अलंकार में जो प्राकरणिक और सदृश का विधान होता है उसमें बिम्बप्रतिबिम्बात्मक भाव निहित होते हैं।

१- अलंकृतीनां बहूनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।
एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते ।।— ६।७२।

२- श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिंगं तदुच्यते ।।— ६।७४।

३- इष्टस्यार्थस्य विस्पष्टं प्रतिबिम्बनिदर्शनम्।
यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ।।— ६।७५।

३६- भाविक — भामह और दण्डी ने भाविक का विवरण किया है तो अलंकारों के ही प्रसंग में, पर उसे वे लोग प्रबन्ध का एक गुण मानते हैं। उसे प्रबन्धगत एक अलंकार के रूप में उनके द्वारा विवेचित समझा जा सकता है। भामह ने इसका स्वरूप बताते हुए कहा है कि यहां या इस अलंकार में भूत और भावी पदार्थ भी इस प्रकार उपस्थित किए जाते हैं कि लगता है मानो प्रत्यक्ष हों। उद्भट ने इसकी विवेचना करते हुए कहा है कि भूत एवं भावी पदार्थ जहां प्रत्यक्षायमाण देखे जायं वहां भाविक अलंकार होता है[1]। इस प्रत्यक्षायमाणता के कारण इन्होंने दो बताए, वाणी का अत्यद्भुत और स्वच्छ होना। वस्तुत: कवि का जो भाव या अभिप्राय होता है, वह कवि की भांति सहृदय को भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

४०- विदर्शना — भामह ने इसे निदर्शना, दण्डी ने निदर्शन तथा उद्भट ने विदर्शना नाम से कहा है। भामह के अनुसार उसकी परिभाषा इस प्रकार है, "जहां औपम्य बोधक शब्दों के प्रयोग किये बिना ही केवल क्रिया के माध्यम से विशिष्ट अर्थ का उपदेश दे दिया जाय, वहां निदर्शना होती है। दण्डी ने इसे दूसरे शब्दों में कहा है, "किसी अन्य कार्य में लगा हुआ व्यक्ति कुछ सत् या असत् अदृश फल का निर्देश होता है तो वहां निदर्शन नामका अलंकार होता है"। उद्भट ने विदर्शना के इस अव्यवस्थित रूप को व्यवस्था प्रदान की और परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं का अनुसरण किया। उन्होंने विदर्शना की परिभाषा देते हुए कहा है कि दो वस्तुओं का अनुपपन्न सम्बन्ध तबतक अविश्रान्त जान पड़े जबतक कि उनमें उपमानोपमेय भाव की कल्पना न कर ली जाय[2]।

४१- सहोक्ति — सहोक्ति के विषय में उद्भट ने भामह की परिभाषा ज्यों कि त्यों स्वीकार कर ली है। उनके अनुसार एक ही काल में होने वाली दो भिन्न-भिन्न

१- प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविन: ।
अत्यद्भुता: स्याद्वाचानुकूल्येन भाविकम् ।।— ६।७३ ।

२- अभवन् वस्तुसंबंधो भवन्वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ।।— ५।६१ ।

वस्तुओं की पृथक्-पृथक् क्रियाएं यदि एक ही पद से कह दी जायं तो उसे सहोक्ति अलंकार कहा जाता है।[1]

उद्भट के टीकाकार

उद्भट के काव्यालंकारसार संग्रह की जो टीकाएं अबतक प्राप्त हैं, उनमें सबसे प्रसिद्ध प्रतिहारेन्दुराज की लघुवृत्ति है जो आज अविकल रूप से हमारे समक्ष विद्यमान् है। उद्भट स्वयं एक टीकाकार हैं, जैसा कि हम आगे बता चुके हैं कि उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर स्वयं टीका लिखी है। परन्तु उनकी मौलिक प्रतिभा टीका लिख कर ही सन्तुष्ट नहीं हुई। उन्होंने स्वतंत्र अलंकार ग्रन्थ का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ के भी अनेक टीकाएं हुई होंगी जिनमें सबसे प्रसिद्ध लघुवृत्ति है। लघुवृत्ति के प्रणेता इन्दुराज से पूर्ववर्ती किसी टीकाकार का किसी प्राप्ति से पता नहीं चलता। इसके बाद राजानक तिलक ने उद्भट विचार या उद्भट विवेक नामक टीका लिखी। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी विमर्शिनी टीका में अनेकशः इस बात का उल्लेख किया है कि तिलक ने उद्भट की टीका की है, सर्वस्वकार ने उद्भट विवेक का यत्र-तत्र सहारा भी लिया है। रुय्यक ने सन् ११५० में अलंकार सर्वस्व का निर्माण किया, इसलिए तिलक थोड़ा इनसे पहले के होंगे।

उद्भट विवेक की कोई हस्तलिखित प्रति अबतक उपलब्ध नहीं हुई। उद्भटालंकारविवृति नामक टीका की एक हस्तलिखित प्रति मालाबार में १९१९-२० में प्राप्त हुई है। यह प्रति गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्स्क्रप्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित है। मूलग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह उभय टीकाकारों में एक ही है, इसमें कोई विवाद नहीं है। तिलक इन्दुराज ही नहीं मम्मट के भी परवर्ती हैं। क्योंकि उन्होंने काव्यप्रकाश

१- तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तु द्वय समाश्रिते।
पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिर्मता सताम्॥— ५।६६।

के कई सन्दर्भों को उद्धृत किया है। उनके द्वारा प्रदत्त अधिकांश उद्धरण काव्यप्रकाश के हैं। उदाहरणार्थ सदेहसंकर की विवेचना करते हुए उन्होंने उसके उदाहरण के रूप में "नयानन्ददायीन्दोर्विम्ब मेतत्प्रसीदति"। देते हुए उन्होंने जो विवेचना आगे की है वह अविकल रूप से काव्यप्रकाश से मिलता-जुलता है[१]। इन्होंने अन्य आचार्यों का नाम तो लिया है पर मम्मट का नाम नहीं लिया है, इससे यही स्पष्ट होता है कि ये मम्मट से बहुत दूर नहीं थे।

उद्भटालंकारविवृत्ति निःसन्देह राजानकतिलक द्वारा प्रणीत उद्भट विवेक या विचार से भिन्न है। हस्तलिखित प्रति में विवृत्तिकार का कोई निर्देश नहीं मिलता उद्भटालंकार विवृत्ति में कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का उल्लेख मिलता है जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उद्भट के काव्यालंकारसार संग्रह की अनेक व्याख्यायें हो चुकी हैं। पुनरुक्तवदाभास की व्याख्या पर विवृत्तिकार ने पांच विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। श्री रामस्वामी के कथनानुसार विवृत्तिकार अपेक्षित पदों के द्वारा अवश्य व्याख्येय अर्थ का व्याख्यान कर सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक शब्दों का परस्पर समन्वय करते हैं और अर्वाचीन अलंकारिकों के अनुगुण परिष्कार करते हैं। वहां वह पूर्वालोचित अर्थ का आलोचन भी करते हैं। निराकरणीय अर्थों का निराकरण करते हैं, परस्पर व्यावृत्त पदार्थों का स्वरूप निर्धारण करते हुए अपना स्वातन्त्र्य निर्धारित करते हैं। इस प्रकार यह व्याख्या पूर्ववर्ती अन्य व्याख्याओं को पीछे छोड़ती हुई अन्य लोगों के लिए प्रौढ़ शैली का उपदेश करती है। इस व्याख्या ने अनेक मुकुलित अलंकारों को विकस्वर स्वरूप प्रदान किया है। उद्भट की कृति की जो विवेचना इन्होंने की है, उसमें न तो मूलकार के महत्ता का ध्यान है और न ही सम्प्रदाय की संरक्षणीयता का। इस व्याख्या में स्थान-स्थान पर स्वतंत्र प्रतिभा से प्रतिभात अर्थों के आविष्करण का लोभ ज्यादा है। इस वक्तव्य की पुष्टि कई उद्धरणों से की जा सकती है। उदाहरणार्थ उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास का लक्षण करते हुए कहा है, "अभिन्न वासर्ववादृभासि भिन्नरूपपदम्" परन्तु विवृत्तिकार ने इस लक्षण को असंगत बताया

१- काव्यप्रकाश, पृ० ७६० ।

और लक्षणगत शब्दों का परिष्कार निर्दिष्ट ढंग से करके लक्ष्य में उसे संगत किया । 'शितिकंठः कालगलत्सती शौकानलव्यत:' इस उदाहरण में शितिकण्ठ एवं कालगल शब्द अभिन्नार्थक से लगते हैं । कालगल शब्द में पौनरुक्त्य अवश्य भासित है पर वह भिन्न पद नहीं है । भिन्न पद कालगलत् है लेकिन यह अभिन्नार्थक नहीं है । अकारान्त कालगल शब्द समुदायावयव होने से सार्थक भी नहीं है । इसलिए भिन्न पदों में अभिन्नार्थकता आयी ही नहीं । इसलिए लक्षण का परिष्कार करते हैं, यह नहीं कि इन्दुराज की तरह चुपचाप यथाकार व्याख्यान कर दें । इसी प्रकार लक्षण एवं उदाहरण में जहां आनुरूप्य नहीं रहता है, वहां ये संशोधन कर देते हैं, जैसे पररूपेण रूपणात् द्वारा लक्षित रूपक के चतुर्थ भेद का उदाहरण है— 'असाधारण विशिखैः' इसकी अस्पष्टरूपता का उद्भावन कर रुद्रट आदि के द्वारा कथित परम्परित रूपक की तरह उस लक्षण का स्वरूप अन्वयान्तर द्वारा परिष्कृत कर स्पष्टरूप से 'भैसरुकेसरमुदार' पद को भी श्लिष्ट परम्परित रूपक के उदाहरण रूप में प्रतिष्ठित किया । इसी प्रकार अनेक उदाहरणों के द्वारा उक्त कथन की पुष्टि होती है ।

विवृत्तिकार राजानक तिलक

राजानक तिलक द्वारा प्रणीत कोई उद्भट विवेक नामक व्याख्या थी । क्या राजानक तिलककृत उद्भटविवेक यही व्याख्या है? यही विवृत्ति ही है? जयरथ ने अपनी विमर्शिनी में दो बार 'उद्भट विवेक' तथा तीन बार राजानक तिलक का उल्लेख किया है । जहां व्याख्या का उल्लेख करना होता है वहां तदीय या स्वीय शब्द से उसका स्मरण करते हैं । सम्पादकाचार्य बनहट्टी जी का मत है कि उद्भट विवेक तथा विवृत्ति दो भिन्न-भिन्न टीकाएं हैं । परन्तु वे अपनी इस धारणा का कारण नहीं स्पष्ट कर सके हैं । आक्षेपालंकार के प्रकरण में जयरथ ने यह उल्लेख किया है कि— 'एतच्चोद्भटविचारे राजानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तम्' । इसी प्रकार एक नहीं अनेक स्थलों पर इन्हें उद्धृत किया है । इससे स्पष्ट है कि इसके प्रणेता राजानक तिलक ही हैं । तिलक के अन्य ग्रन्थों के विषय में भी जयरथ के निर्देशों से जाना जा

सकता है। जयरथ ने तिलक का अन्यत्र भी स्मरण किया है। ये विवेचनाएं अर्थविवृति में नहीं मिलती, पर इसका मतलब यह नहीं है कि तिलक ने उद्भट विवेक या विवृति का प्रणयन नहीं किया है। जयरथ ने स्पष्टरूप से इस बात का प्रतिपादन उद्भटविवेक में तिलक द्वारा करना बताया है। वे तीन अनूदित अंशों में से तीसरे के सम्बन्ध में वे तिलक का होना तो मानते हैं पर उद्भटविवेक से लिया जाना नहीं मानते। इससे स्पष्ट है कि तिलक ने किसी अन्य ग्रन्थ का भी प्रणयन किया है। तीसरा अंश है— ऐतदेव राजानकतिलकेनाप्युक्तं कारणसामग्र्यमिह बाधकत्वेनैव प्रतीयते। यह बात विवृति में नहीं मिलती। अच्छी तरह देखा जाय तो जयरथ का यह कहना है कि राजानक रुय्यक या रुयक प्राय: तिलकानुवर्ती हैं। यहां प्राय: पद सार्थक है। कहीं-कहीं इस ग्रन्थ से रुय्यक का विसंवाद भी है। हो सकता है तिलक का वही अन्य ग्रन्थ उस विसंवाद का मूल अंश हो।

जहां तक तिलक के जीवनकाल का प्रश्न है, विद्वज्जनों ने यह सम्भावना की है कि हो सकता है ये तिलक के पुत्र हों। तिलक प्रणीत 'सहृदयलीला' नामक ग्रन्थ के अन्त में कुछ इसी प्रकार की बात भी कही गयी है। जयरथ रुय्यक को तिलकानुयायी बताते हैं। काव्यप्रकाश की संकेत नामक टीका में यह उल्लिखित है कि उसने तिलक से साहित्यविद्या प्राप्त की है। इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि तिलक रुय्यक से पहले हो चुके हैं। दूसरे श्रीकण्ठचरित प्रणेता मंखक रुय्यक को अपना गुरु कहते हैं। वह काश्मीरराज जयसिंह (११२८-४९) का सांधिविग्रहिक था। इसलिए तिलक और रुय्यक का काल उससे पूर्व ही होना चाहिए। काव्यप्रकाश संकेत में माणिक्यचन्द्र (११५८) रुय्यक की ख्याति काश्मीर से गुर्जर तक बताते हुए सम्भवत: उनसे २५ वर्ष पहले का बताते हैं। कुछ लोग इस निश्चय पर आपत्ति व्यक्त करते हैं। उनका कथन है कि मंखककृत श्रीकण्ठचरित से कुछ पद्य अलंकारसर्वस्व में उद्धृत हैं, अत: कम से कम रचनाकाल तो अलंकारसर्वस्व का श्रीकण्ठ से परवर्ती है ही, पर इसकी अपेक्षा यह क्यों न मान लिया जाय कि मंखक ने परिष्कार करते समय कुछ अपने पद्य उसमें जोड़ दिये होंगे। इसलिए जयरथ ने अलंकार सर्वस्वगत पाठभेद विषयक जो आलोचना प्रस्तुत की है, वह भी संगत हो जाता है। केरलीय समुद्रबन्ध ने मंखक को ही वृत्तिकार कहा है। इन सब तर्कों से यह निष्कर्ष निकलता है कि १०७५-११२५ के आसपास ही तिलक विद्यमान् रहे होंगे।

प्रतीहारेन्दुराज

उद्भट के टीकाकारों में प्रतीहारेन्दुराज का विशेष महत्व है। उन्होंने काव्यालंकारसारसंग्रह पर लघुवृत्तिनामक टीका का प्रणयन किया था। प्रतीहारेन्दुराज के आचार्य अभिधावृत्तिमातृका के प्रणेता मुकुलभट्ट थे[1]। विद्वज्जनों का विश्वास है कि मुकुल कल्लट के पुत्र थे। राजतरंगिणी में यह उल्लेख आया है कि वे एक सिद्धपुरुष थे, जो काश्मीरराज अवन्तिवर्मा के राज्य में थे[2]। अवन्तिवर्मा ८५७-८८४ में राज्यारूढ़ थे। कल्लट को यदि मुकुल का पिता मान लिया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि मुकुल का समय नवों शताब्दी के अन्त तथा दशवीं शताब्दी के प्रारम्भ में था। इस प्रकार मुकुल के शिष्य इन्दुराज का समय ९५० के आसपास प्रतीत होता है। इन्दुराज अभिनवगुप्त के गुरु थे। अभिनवगुप्त ने इस बात का उल्लेख स्वयं लोचन के आरम्भ में किया है—

> भट्टेन्दुराजचरणाब्जकृताधिवासहृद्यश्रुतोऽभिनवगुप्तपदाभिधोऽहम्।
> यत्किञ्चिदप्यनुरणन्स्फुटयामि काव्यालोकं सुलोचननियोजनया जनोऽहम्॥[3]

लोचनटीका के भीतर ही वे स्थान-स्थान पर इन्दुराज का नामोल्लेख करते हैं— "यथा स्मदुपाध्यायमहेन्दुराजस्य"। इस सम्बन्धसूत्र से भी इन्दुराज का काल निर्धारण

१- विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रहः॥ (लघुवृत्ति)
मीमांसासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्,
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधोः शौरिपादाब्जभृङ्गात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्तिवल्ल्यालवालात्,
काव्यालंकारसारे लघुविवृतिमधात् कौङ्कणः श्रीन्दुराजः॥ (लघुवृत्ति)

२- अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥— राज०, ६६।

३- लोचन।

किया जा सकता है। अभिनवगुप्त का समय ९८०-१०२० निश्चित है। अतः इन्दुराज का भी समय ९८०-१०२० के आसपास निश्चित किया जा सकता है। अब प्रश्न यह है कि क्या लघुवृत्तिकार तथा अभिनवगुप्त के गुरु इन्दुराज एक ही व्यक्ति हैं? इस संबंध में पूर्वकृत काल-निर्धारण से भी आसानी से टिप्पणी की जा सकती है। महामहोपाध्याय पी०वी० काणे ने उभयजनों को एक ही व्यक्ति नहीं माना है। परन्तु महामहोपाध्याय काणे की उक्त विवेचना समीचीन नहीं है क्योंकि पूर्वकृत काल-निर्धारण के आधार पर उभयजनों को एक ही व्यक्ति मानना समुचित प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने इन्दुराज के माता-पिता का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार उनके पिता भूतिराज और पितामह शौचुक थे। बनहट्टी जी के अनुसार इन्दुराज काश्मीरक थे। परन्तु प्रतीहारेन्दुराज को कौंकण कहा गया है? इसका अभिप्राय क्या है? विद्वज्जनों ने इस सम्बन्ध में कई सम्भावनाएं व्यक्त की हैं। उनके अनुसार उनके किसी प्रसिद्ध पूर्वज का नाम कुंकण रहा होगा। काश्मीर में उस समय कुंकण नाम का स्थान भी हो सकता है। अथवा हो सकता है कि इन्दुराज कौंकण (दक्षिणी भारत) के निवासी हों। परन्तु यह सम्भावना बलहीन है। वस्तुतः इन्दुराज काश्मीरक थे।

इन्दुराज द्वारा प्रणीत लघुवृत्ति टीका अपने ढंग की अनूठी है। लघुवृत्ति में इन्दुराज ने काव्यशास्त्र की उन मान्यताओं पर दृष्टिविक्षेप किया है जो उद्भट के समय में अनुन्मीलित थीं। लघुवृत्ति की भाषा प्रवाहमय तथा प्राञ्जल है। उनकी शैली तर्कसंगत तथा आचार्यत्वपूर्ण है। प्रत्येक अलंकार के लक्षण की व्याख्या उसके एक-एक पद की सार्थकता स्पष्ट करते हुए की गयी है। इस व्याख्या के कारण इन्दुराज का महत्व और भी बढ़ गया है। बनहट्टी जी ने इन्दुराज की शैली की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"Induraja's way of explaining karikas is his speciality. He first takes one of the epithets in the karika as the primary definition and begins to shew how all other epithets are recessary to have a complete definition of the alankara in question".[1]

---

1. Kavyalankar Sara Sangraha: Introduction (xxix).

कुमारसंभव

आचार्य उद्भट ने एक काव्यग्रन्थ का भी प्रणयन किया है, जिसका नाम है— कुमारसंभव । यद्यपि उद्भट प्रणीत कुमारसंभव अपने मूलरूप में आज प्राप्त नहीं है फिर भी सन्दर्भरूप में वह आज भी उपलब्ध है । काव्यालंकारसारसंग्रह में जो भी उदाहरण दिये गये हैं वे सब-के-सब उद्भट प्रणीत कुमारसंभव के ही हैं । इस बात का पता इन्दुराज से मिलता है । "अनेन ग्रन्थकृतास्वोपरचित कुमारसंभवैक देशेनोदाहरणत्वेनोपन्यस्त: । तत्र पूर्वं दीपकस्योदाहरणानि तदनुसन्धानविच्छेदमात्र उद्देशक्रम: परित्यक्त: । उद्देशस्तु तथा न कृतो वृत्तभङ्गभयात्"[1]। उद्भट प्रणीत कुमारसंभव में वही कथा वर्णित है जो कालिदास के कुमारसंभव में है । कुमारसंभव का प्रणयन करते समय कवि उद्भट कालिदास से अवश्य प्रभावित हुए हैं । सम्भवत: यही कारण है कि कालिदास के कुमारसंभव के समक्ष उद्भट के कुमारसंभव में साहित्य रसिकों को फीकापन जान पड़ा और उद्भट प्रणीत इस काव्य को धीरे-धीरे लोग विस्मृत करते गये । आज यह काव्य मात्र ६४ श्लोकों में हमारे समक्ष उपलब्ध है । ये श्लोक आचार्य द्वारा प्रणीत काव्यालंकारसारसंग्रह में उदाहरण के रूप में विद्यमान् हैं । ये समस्त श्लोक शायद एक ही सर्ग के हैं क्योंकि इनकी तारतम्यता यथावत् विद्यमान् हैं और उसमें कहीं व्यतिक्रम नहीं आया है । कहीं-कहीं श्लोकों की स्वाभाविकता में परिवर्तन अवश्य है । उदाहरण के लिए आठवां श्लोक पांचवें के बाद का प्रतीत होता है । इन समस्त अस्वाभाविकताओं के बावजूद भी काव्य की शैली प्रशंसनीय है और उसे बार-बार पढ़ने की इच्छा होती है[2]।

१- काव्यालंकारसारसंग्रह, पृ० १५ ।

२- Notwithstanding his, here is a great beauty in the description and the style which makes it great pleasure to read the poem even more than once. And one really can not but regret the fate of such a beautiful poem condemned to vest in oblivion for no defect of its own.

— Banhatti-XV.

उपर्युक्त ६४ श्लोकों के माध्यम से जो कथावस्तु सामने उभर कर आती है, वह इस प्रकार है। कामदेव को भस्म करने के बाद भगवान् शिव हिमालय की सुरम्य उपत्यकाओं में आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करने लगे। परन्तु जब शरत्काल प्रारम्भ हुआ तो उनके मस्तिष्क में क्लेश उत्पन्न होने लगा और उन्होंने पार्वती के विषय में सोचना शुरू कर दिया। पार्वती के विषय में उनकी विचारधारा इतनी प्रबल हो उठी कि वे स्वयं को रोक नहीं सके और बटु के वेश में उस स्थान पर पहुंचे जहां पार्वती तपस्या कर रही थी। उन्होंने देखा कि कठोर तपस्या करने के बावजूद भी पार्वती का चेहरा अत्यन्त देदीप्यमान हो रहा था। उनका सौन्दर्य इतना अधिक सम्मोहक और उद्दीपक था कि भगवान् शिव स्वयं को नियंत्रित न कर सके और वे लोक-मर्यादा का उल्लंघन करने को उद्यत हो गये। परन्तु येनकेन प्रकारेण उन्होंने स्वयं को नियंत्रित किया और पार्वती को सम्बोधित करके कहने लगे— "देवि, तुम महामहिमशाली हिमाचल की कन्या हो और तुम स्वयं अतुलनीय सुन्दरी एवं सुकोमल हो। तुम्हारे लिए इतनी कठोर तपस्या उचित नहीं है। यदि तुम यह तपस्या पति प्राप्ति के निमित्त कर रही हो तो भी यह उचित नहीं है क्योंकि तुम्हारे अवर्णनीय सौन्दर्य एवं यौवन के कारण कोई भी युवक तुम्हारा पादबद्ध किंकर बन सकता है। "रूपेण ते युवा सर्वः पादबद्धो हि किंकरः"। तुम इतनी सुन्दर हो कि तुम्हारे समक्ष स्वयं भगवान् विष्णु भी लक्ष्मी का परित्याग कर सकते हैं। इस प्रकार हे सुन्दरी, तुम इस कठोर तप का परित्याग करो और किसी सौभाग्यशाली युवक को अपने पति के रूप में वरण करो। "किंवात्र बहुनोक्तेन व्रज भर्तारमाप्नुहि। उदन्वन्तमनासाद्य महानद्यः किमासते"।[1]

उद्भटकृत कुमारसंभव तथा महाकवि कालिदासकृत कुमारसंभव में अनेक स्थलों पर वर्णनसाम्य दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ तपस्या करती हुई पार्वती के भावपरीक्षण करने हेतु शिव ने प्रच्छन्न व्यवहार को ही प्रशस्त माना और इसी कारण वे ब्रह्मचारी का वेश धारण करके पार्वती के पास पहुंचे—

१- काव्यालंकारसारसंग्रह, ६।६।

'प्रच्छन्नाशस्यते वृत्ति: स्त्रीणां भावपरीक्षणे ।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य बाटवीम् ।।'[१]

महाकवि कालिदास ने उस समय के शिव के बटुरूप का वर्णन करते हुए उन्हें साक्षात् शरीरबद्ध ब्रह्मचर्याश्रम की संज्ञा दी है—

'अथाजिनाषाढधर: प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेनतेजसा ।
विवेशकश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्ध: प्रथमाश्रमो यथा ।।'[२]

उद्भटकृत कुमारसंभव में यह उल्लेख आया है कि भगवान् शिव को पतिरूप में प्राप्त करने के निमित्त पार्वती को अत्यन्त कठोर तपस्या करनी पड़ी थी । वे अत्यन्त कठोर तप कर रही थीं क्योंकि अभिमत (भगवान् शिव) वर की प्राप्ति हेतु कन्याओं के समक्ष और क्या विकल्प हो सकता है—

'अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम् ।
असंभाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परा गति: ।।'[३]

इसी भावना को महाकवि कालिदास ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि कामदेव के दग्ध हो जाने के पश्चात् पार्वती अत्यन्त निराश हो जाती हैं और उन्हें भगवान् शिव को वर रूप में प्राप्त करना असम्भव सा प्रतीत होने लगता है । तब वे कठोर तपस्या करने का निश्चय करती हैं क्योंकि बिना तपस्या के भगवान् शिव जैसा पति मिलना उन्हें कठिन सा प्रतीत होता है—

'इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन: ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृश: ।।'[४]

१- काव्यालंकारसारसंग्रह, २।४ ।
२- कुमारसंभव, ५।३० ।
३- काव्यालंकारसारसंग्रह, २।६ ।
४- कुमारसंभव, ५।२ ।

इस प्रकार अनेक स्थलों पर उद्भट और कालिदास में वर्णनसाम्य है । उद्भट ने यद्यपि कुमारसंभव के प्रणयन में महाकवि कालिदास से प्रेरणा प्राप्त की थी, परन्तु उद्भट के कुमारसंभव के उपलब्ध अंशों को पढ़ने से हमें उनके महिमामय कविरूप के दर्शन होते हैं । उद्भट के कुमारसंभव से यह भी विदित होता है कि वे एक प्रखर आचार्य ही नहीं थे बल्कि एक रस प्रवण कवि भी थे । उनके काव्य में यत्र-तत्र अलंकारों की अत्यन्त मनोहारी छटा दृष्टिगोचर होती है । यद्यपि वे कवि थे लेकिन उनके काव्य में सर्वत्र अलंकारों का ही चाकचिक्य नहीं है । उनके काव्य में माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की मधुर पयस्विनी प्रवाहमान् है । उनकी भाषा लालित्यमय है । उनके काव्य में रसराज श्रृङ्गार अपने सर्वतोमुखी रूप में मूर्तिमान् हो उठा है । वास्तव में यदि उद्भट का कुमारसंभव अपने सम्पूर्ण रूप में हमारे समक्ष होता तो वह निश्चित ही काव्य-रसिकों का कण्ठहार बन गया होता ।

नाट्यशास्त्र के व्याख्याता—उद्भट

आचार्य उद्भट काव्यशास्त्र के महान् आचार्य हैं । उनकी दृष्टि मात्र अलंकार ही नहीं वरन् काव्यशास्त्र की हर विधाओं पर पड़ी जैसा कि हम आगे के अध्यायों में निरूपित करेंगे । काव्यशास्त्र के प्रत्येक कोने में उन्होंने दृष्टिविक्षेप किया । उनके विषय में पर्याप्त सामग्री का अभाव होने के कारण वे भले ही शोधकों की उपेक्षा के पात्र रहे हों परन्तु यह निश्चित है कि वे सामान्य आचार्य नहीं थे । उद्भट की अन्य कृतियों के विषय में हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं परन्तु विद्वानों के मतानुसार उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका लिखी थी । इस विषय में विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जिनकी यह मान्यता है कि शायद नाट्यशास्त्र की टीका के प्रणेता कोई दूसरे उद्भट हैं । उनकी यह धारणा है कि उद्भट मूलत: अलंकारवादी आचार्य हैं और उन्होंने मुख्यत: शब्दार्थधर्म को ही महत्व दिया है । वे अलंकारवादी भामह के अनुयायी भी हैं । इसलिए ऐसी मान्यताओं से समन्वित व्यक्तित्व वाले उद्भट भरत के व्याख्याकार कैसे हो सकते हैं? एक ओर उद्भट का शुष्क आचार्यमय

आलंकारिक व्यक्तित्व है तो दूसरी ओर रसोद्रेकसंप्लावित हृदय वाले कवि के अन्तस् से संभूत रसनि:ष्पन्द से जीवलोक को आप्यायित कर देने वाले सारस्वत प्रवाह को काव्य की संज्ञा देने वाले भरत हैं। अस्तु, उद्भट को भरत का टीकाकार मानने से अनेक विद्वान् हिचकिचाहट का अनुभव करते हैं।

परन्तु इन्हीं विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो सर्वतोभावेन यह मानता है कि उद्भट भरत के टीकाकार थे। उनकी धारणा के पक्ष में उनके भी अपने सबल तर्क हैं। उनका कथन है कि हो सकता है, भामह आदि ने श्रव्यकाव्य को तो अलंकार प्रधान माना हो और वहाँ रस को अलंकारता कही हो और श्रव्यकाव्य में रसवत्ता की प्रधानता स्वीकार की हो परन्तु दृश्य काव्य में ऐसी बात स्वीकार न की हो। जहाँ तक उद्भट का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में विस्तृत रूप से विवेचित करेंगे कि उद्भट कदापि भामह के अनुयायी नहीं थे। उनका भी अपना सर्वतंत्र स्वतंत्र व्यक्तित्व है। सम्भवत: जब अलंकारवादी उद्भट 'नवनाट्यरसा: स्मृता:' कहते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि दृश्य काव्य में रस प्रधानता उन्हें भी ईप्सित है। इसी प्रख्यात धारणा के विरोध में हो सकता है कि रुद्रभट्ट, रुद्रट एवं आनन्दवर्धन ने उभयत्र रस की एकरूपता वाला पक्ष साभिनिवेश स्थापित किया हो। रस का जहाँ तक प्रश्न है, उसकी विवेचना में नि:सन्देह उद्भट भामह से कहीं आगे हैं। जैसा कि हम आगे सविस्तार निरूपित करेंगे। डा० एस०के० डे के अनुसार—

"We shall also see that Udbhata is certainly more advanced in recognizing Rasa and defining its place in the poetic figure; if not in poetry as a whole and he even goes so far as using the technical terms bhava and anubhava which can not be traced in Bhamah".[1]

---

1. S.K. De: Sanskrit Poetics, p. 56.

रस के विभाग-अनुभाव आदि तकनीकी शब्दों का जो प्रयोग उद्भट ने किया है, वह भामह में दृष्टिगोचर नहीं होता । इस प्रकार लोगों का यह कथन स्वत: निरस्त हो जाता है कि आचार्य उद्भट भामह के अनुयायी थे । यद्यपि दोनों आचार्य अलंकार-वादी थे लेकिन जहां तक श्रव्य काव्य का प्रश्न है, उद्भट ने काव्य की इस विधा पर भी सूक्ष्म दृष्टिपात किया था । निष्कर्ष यह है कि उद्भट नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार हैं । इधर हाल में प्रकाशित गणेशत्र्यम्बक देशपांडे द्वारा प्रणीत 'भारतीय साहित्यशास्त्र' में डा० शंकरन् के मत का सविस्तार उल्लेख किया गया है जिसमें उन्होंने उद्भट को व्याख्यातृता सिद्ध की है । इसके अलावा श्री रामास्वामी, डा० एस०के० डे तथा महामहोपाध्याय काणे के इस मत का भी खण्डन किया है कि काव्यचर्चा आरम्भ में नाट्यचर्चा से ही निकली है । और बाद में चलकर पृथक् हुई । डा० देशपाण्डे जी की धारणा है कि भामह उद्भट आदि भरत के विरोध में भिन्न सम्प्रदाय के आविष्कारक नहीं कहे जा सकते । उद्भट के सम्बन्ध में यह धारणा दी गयी है कि वे दृश्यकाव्य में रसप्राधान्य के विरोधी कदापि नहीं थे । यह सत्य है कि उद्भटादि आचार्यों ने श्रव्यकाव्य पर विचार किया था । परन्तु यहां यह कह देना सुसंगत होगा कि नाट्य पर अन्यत्र विस्तारपूर्वक विचार हुआ था और उद्भट ने भी नाट्य पर अलग से विस्तारपूर्वक चर्चा की थी । इस प्रकार सहजक्रम में उद्भट ने श्रव्यकाव्य पर अपनी जो विहंगम दृष्टि डाली है उससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कदापि उचित नहीं होगा कि वे दृश्यकाव्य से सर्वथा अनभिज्ञ थे और काव्य की इस विधा पर उन्होंने दृष्टिक्षेप ही नहीं किया था । इससे यह भी निष्कर्ष निकालना असंगत होगा कि उद्भट भरतविरोधी सम्प्रदाय के प्रणेता थे । अस्तु, उद्भट को भरतविरोधी कहकर उनके नाट्यशास्त्र का व्याख्याता होने का विरोध करना समीचीन नहीं प्रतीत होता ।

उक्त विवेचना के आधार पर उद्भट के नाट्यशास्त्र के व्याख्याता होने के अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं । इस तारतम्य में हम सर्वप्रथम उद्भट की रस विवेचना पर ही संक्षिप्त दृष्टिपात करेंगे । जैसा कि हम पूर्व में बता चुके हैं कि रस की

विवेचना में आचार्य उद्भट भामह से कहीं आगे हैं। उनके द्वारा विभावादि तकनीकी शब्दों का प्रयोग करना इस तथ्य का द्योतक है कि उन्होंने रस का विस्तृत वर्णन किया है और रस की निष्पत्ति के मूल सिद्धान्तों से वे पूर्णत: परिचित हैं। कर्नल जैकब ने तो यहाँ तक कह डाला है कि उद्भट रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। कर्नल जैकब का यह मत भ्रान्तिपूर्ण भले ही हो लेकिन इससे इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि उद्भट रस के मूल सिद्धान्तों से पूर्णरूपेण भिज्ञ थे और उन्होंने रस की विवेचना अपने ढंग से की है। उन्होंने रस की विवेचना रसवत् के रूप में करके उस पर भी अपने आलंकारिक व्यक्तित्व की छाप छोड़ दी है। उनके अनुसार शृंगारादि रस प्रधान अथवा अंगी होने के साथ ही साथ विभावादि विभिन्न सात्विक भावों का स्वशब्द से आस्पद होता है। तात्पर्य यह है कि उद्भट ने रस की जो विवेचना की है वह अपने ढंग से की है। रस विवेचन करते समय भी वे अपने आलंकारिक व्यक्तित्व का परित्याग नहीं कर सके हैं। उनके रस विवेचन की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उन्होंने विभावादि सात्विक भावों को स्वशब्दवाच्य बताया है। बाद में परवर्ती आचार्यों ने उद्भट की इस मान्यता की तीव्र आलोचना की है और बड़े ही संयमपूर्वक उसका खण्डन-मण्डन किया है। आचार्य आनन्दवर्धन यद्यपि स्वशब्दवाच्यता को दोष के रूप में नहीं गिनाया है फिर भी उन्होंने इतना अवश्य कहा है कि रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यंग्य पर आधृत होता है। इस प्रकार उन्होंने रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन किया है। उनका कथन है कि "स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या:अदर्शनात्। नहि केवल शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि-विभावादि प्रतिपादन रहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्व प्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्यो विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीति: केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीति:। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेय सामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनां न त्वभिधेयं कथंचित् इति तृतीयोऽपि प्रभेदो (रसाख्य:) वाच्याद्भिन्न: एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वसहैव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते"[1]।

१- ध्वन्यालोके, १९४।

ध्वनिकार का तात्पर्य यह है कि रसादि भावों का प्रयोग केवल अनुवाद-मात्र ही होता है। उन शब्दों के द्वारा रस की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि दूसरे विषयों में जहां विभाव इत्यादि का अभाव होता है केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है, वह रसास्वादन देखा ही नहीं जा सकता। केवल रसादि शब्दों के प्रयोग होने पर और विभावादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में रंचमात्र भी रसवत्ता नहीं देखी जा सकती।

आचार्य कुन्तक ने रस की स्वशब्दवाच्यता के लिए उद्भट की पर्याप्त खिल्ली उड़ाई है। उनके अनुसार उद्भटादि विद्वानों से यदि यह पूछा जाय कि स्व-शब्दवाच्यता किसको होती है तो उनका उत्तर होगा— 'रस्यन्त इति रसा: ते स्वशब्दास्पदेषु तिष्ठन्त: शृङ्गारादिषु वर्तमाना सन्तस्तज्ज्ञैरास्वाद्यन्ते'। लेकिन कुन्तक ने उद्भट की मान्यता का परिहास करते हुए कहा है कि यदि घृतपूर आदि पदार्थ अपने नाममात्र से ही आनन्द देने लगें तो फिर इन उदारचरित महोदयों ने किसी भी पदार्थ की इच्छा रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से ही त्रैलोक्य के राज्य प्राप्ति तक के सुख की प्राप्ति बिना प्रयास के ही सिद्ध कर दी है। ऐसे महापुरुषों को नमस्कार है। 'तत्र स्वशब्दास्पदत्व रसानाम-परिगत पूर्वमस्माकम्। ततस्त एव रस सर्वस्वसमाहितचेतसस्तत्परमार्थविदेन विद्वांस: परं प्रष्टव्य: किं स्वशब्दास्पदत्वं रसानामुत रसवत् इति। तत्र पूर्वस्मिन् पक्षे रस्यन्त इति रसा: ते स्वशब्दास्पदेषु तिष्ठन्त: शृङ्गारादिषु वर्तमाना सन्तस्तज्ज्ञैरास्वाद्यन्ते।

तदिदमुक्तं भवति यत् स्वशब्दैरभिधीयमाना: श्रुति पथमवतरन्त: चेतनानां चर्वणाचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूरप्रभृतय: काया: स्वशब्दैरभिधीयमाना तदास्वादसम्पदं सम्पादयन्तीत्येवं सर्वस्य कस्यचिदुपभोगसुखार्थिनस्तैरुदारचरितैरप्रयत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्रैलोक्यराज्यसम्पत्सौख्य समृद्धि: प्रतिपद्यते इति नमस्तेभ्य:'[1]। आचार्य मम्मट ने रस की स्वशब्दवाच्यता को काव्य दोषों में गिनाया है। आचार्य मम्मट के बाद विश्वनाथ ने भी स्वशब्दवाच्यता को रस दोष स्वीकार किया है। उनके अनुसार विभावादिसामग्री अपूर्ण अथवा अपरिपक्व हो अथवा इसका अभाव हो वहां

१- वक्रोक्तिजीवित, ३।११,३४४।

यदि श्रृंगार रति लज्जा आदि का शब्दों द्वारा कथन कर दिया जाय तो उस वाक्य को सरस नहीं कहा जा सकता । वह तो केवल वार्तालाप मात्र है । केवल आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने उद्भट की मान्यताओं का थोड़ा-बहुत समर्थन किया है । उनका कथन है कि यदि अपरिहार्य कारणवश विभावादि का स्वशब्दों से भी कथन कर दिया जाता है तो रस प्रतीति में कोई व्यवधान नहीं हो सकता ।

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने रस की विवेचना अपने ढंग से की है । यद्यपि आचार्य उद्भट की इस धारणा का परवर्ती आचार्यों ने खण्डन-मण्डन किया है परन्तु यह बात उनकी नाट्यशास्त्र की व्याख्यातृता सिद्ध करती है । यही बात नहीं है बल्कि रस के क्षेत्र में उद्भट ने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से एक नये रस—शान्तरस का आविष्कार किया । डा० एस०के० डे ने लिखा है—

"The process of in corporation must have occured very early and was apparently complete by the end of 8th century, when the work assumed more or less its present shape. Udbhata about this time, actually appropriated the first half of the verse vi 15 of Nata sastra and makes only enough verbal change in its second half to admit Santa as the ninth Rasa in the category of eight recognized by Bharat.

उद्भट द्वारा प्रतिपादित उक्त रस की विवेचना उनकी नाट्शास्त्र की व्याख्यातृता सिद्ध करती है ।

---

1. S.K. De. Sanskrit Poetics,pp.23-24.

उद्भट की नाट्यशास्त्र की टीका सम्प्रति हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है। तथापि अभिनवभारती में इतस्तत: विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों के माध्यम से हम यह जानने में सक्षम होते हैं कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर कोई टीका लिखी थी। डा० एस०के० डे ने अभिनवगुप्त और शार्ङ्गदेव की सहायता से भरत के टीकाकारों के नाम का परिगणन किया है। भरत के टीकाकारों में मुख्यत: मंत्रगुप्ताचार्य, उद्भट, लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, हर्ष, कीर्तिधर, अभिनवगुप्त तथा नान्यदेव के नाम प्रसिद्ध हैं। शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकर में नाट्यशास्त्र के व्याख्याकारों के नामों का परिगणन किया है—

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुका:।
महाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरो(ऽ)पर:[1]॥"

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में कतिपय अन्य आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने नाट्य एवं नृत्य के सम्बन्ध में भट्टयंत्र नामक आचार्य के मत का उल्लेख किया है, लास्य के सम्बन्ध में प्रियातिथि नामक आचार्य के मत का उल्लेख किया है, ताल के सम्बन्ध में भट्टवृद्धि, भट्ट सुमनस् एवं भट्टगोपाल नामक आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, वृत्त प्रकरण में भट्टशंकर नामक आचार्य का उल्लेख किया है तथा नाटिकाभेद के प्रकरण में घंटक नामक आचार्य के मतों का उल्लेख किया है। परन्तु इन समस्त आचार्यों की दृष्टि नाट्य के एक पक्ष तक ही सीमित रही। अभिनवभारती में विभिन्न प्रकरणों में आचार्य उद्भट के मतों का बड़े संरम्भपूर्वक खण्डन-मण्डन किया है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि उद्भट ने नाट्य शास्त्र के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिविक्षेप किया है। उनके सिद्धान्त केवल एक ही प्रकरण तक सीमित नहीं हैं। यह बात इस तथ्य की स्पष्ट परिचायक है कि उन्होंने नाट्यशास्त्र पर विस्तृत टीका लिखी थी। यद्यपि आज उद्भट द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र की टीका उपलब्ध नहीं है फिर भी अभिनवभारती में अनेक प्रकरणों में प्रदत्त

१- संगीतरत्नाकर, १।१९।

उद्‌भट के सिद्धान्तों से शार्ङ्गदेव के मत की सम्पुष्टि होती है[1]। उन प्रकरणों का प्रस्तुत प्रसंग में उल्लेख कर देना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

आचार्य उद्‌भट ने भरत को उनकी चारों वृत्तियों (भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी) के लिए प्रखर आलोचना की है। आचार्य भरत ने उत्सृष्टिकांक की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह स्त्रियों के करुणाक्रन्दनों से युक्त होता है तथा भारती के अतिरिक्त समस्त वृत्तियों से हीन होता है[2]। परन्तु आचार्य उद्‌भट की यह मान्यता है कि करुण रस में जब मूर्च्छा या मरण आदि होता है तो न तो उसमें किसी प्रकार का कथन होता है और न ही भारतीवृत्ति। इसी कारण से और अन्यान्य कारणों से आचार्य उद्‌भट ने चार के स्थान पर तीन ही वृत्तियों का परिगणन किया है— न्यायचेष्टा, अन्यायचेष्टा और फलसंवित्ति। अभिनवगुप्त ने उद्‌भट के इन सिद्धान्तों को अत्यन्त विस्तारपूर्वक अभिनवभारती में उद्धृत किया है। उन्होंने अभिनवभारती में लिखा है कि उत्सृष्टिकांक, प्रहसन एवं भाण का करुण, हास्य एवं विस्मय रस प्रधान होने से मनोविनोद ही फल है अतएव इसके अधिकारी स्त्री, बालक तथा मूर्ख हैं। इसमें इतिवृत्त भी विस्तृत नहीं है अतएव

---

1. "As already noted above. Sarngdeva in his Sangit Ratnakar informs us that Udbhata was one of the early commentators on Bharata's text. This is very likely, although Udbhata's commentary has not yet been recovered, Sarngdeva's statement appears to be confirmed by several citations of Udbhata's views by Abhinavagupta". -S.K.De, p. 35.

२- "करुणरसप्रायकृतो निवृत्तयुद्धोद्धत प्रहारश्च।
स्त्री परिदेवित बहुलो निर्वेदितभाषितश्चैव ॥
नाना व्याकुलचेष्टः सात्वत्यारभटीकैशिकीहीनः।
कार्यः काव्यविधिज्ञैः सततं ह्युत्सृष्टिकाङ्कः ॥"
— ना०शा०, १८।९५-९६।

इतिवृत्ति का वैचित्र्य भी दृष्टिगोचर नहीं होता जैसे उत्सृष्टिकांक में तीनों वृत्तियों का वाणी से ही निषेध कर दिया है। अत: भारती वृत्ति इसमें नहीं हो सकती। चेष्टा तो करुण रस में अप्रधान है। परिदेवितात्मिका भारतीवृत्ति तो उसमें उपकरण है। इसलिए इसमें फलसंवित्ति नामक वृत्ति होती है। क्योंकि जिस वृत्ति का लक्षण ही ऐसा है कि जहां वाणी और चेष्टा फल का अनुभव है अत: वहां फलसंवित्ति फलानुभवरूपा वृत्ति का ही अभ्युपगम करना चाहिए। यह आवश्यक भी है। अगर इसको आवश्यक नहीं मानेंगे तो मूर्च्छा एवं मरण आदि में वाणी एवं चेष्टा के न होने से कोई भी वृत्ति नहीं रहेगी। अर्थात् मरण मूर्च्छादिभाव निर्वृत्तिक मानने पड़ेंगे। यदि कामरूप पुरुषार्थ के उद्देश्य से कैशिकी का अभिधान रूपकों में करेंगे तो धर्म और अर्थ के उद्देश्य से दो वृत्तियों को कहना होगा, इसलिए चेष्टात्मिका अन्यावृत्ति और वाग्रूपा अन्यावृत्ति और उनकी फलस्वरूपा तीसरी फलसंवित्ति वृत्ति होगी। इस तरह तीन वृत्तियां ही युक्त हैं जैसा कि भट्टोद्भट मानते हैं। इस प्रकार अभिनव ने एक प्रकार से उद्भट के मत का उल्लेख करते हुए उनको स्मरण किया है। उनका मत है कि वाणी और चेष्टा का चारों पुरुषार्थों से सम्बन्ध करने पर पहले आठ प्रकार की वृत्तियां हैं फिर इन दोनों में फल वृत्तियां होती हैं अत: आठ के दूने सोलह भेद वृत्तियों के हुए। यदि रसों के भेद से वृत्तियों का भेद करेंगे तब तो अनेक प्रकार की वृत्तियां होंगी। 'तस्मात् फलसंवित्याख्या वृत्ति: वाक्चेष्टयो: फलानुभव इति यस्या: लक्षणं साभ्युपगन्तव्या। अवश्यं चैतत् अन्यथा मूर्च्छा मरणादौ वाक्चेष्टयोरभावे निर्वृत्ति क्वेव स्यात्। किञ्च यदि तावत्पुमर्थकामोद्देशेन कैशिक्य-भिधीयते धर्ममर्थं चोद्दिश्य वृत्तिद्वयं वक्तव्यम्। तस्माच्चेष्टात्मिकान्यायवृत्तिरन्यायवृत्ति-वाग्रूपा तत्फलभूताफलसंवित्तिरिति वृत्तित्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। यदाह:—

'आद्ये वाक्चेष्टाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयेन चाष्टविधे।
षोडशधा फलवृत्तिस्तद्वयतो नैकधा तु रसभेदात्।'[1]

१- अभिनवभारती, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़, वाल्यूम ।।।४५१।

अभिनवगुप्त ने यह भी बताया है कि शक्लीगर्भ नामक आचार्य के अनुयायी गण ५ वृत्तियां मानते हैं। चार आचार्य भरत की और एक आचार्य उद्भट की फलसंवित्ति वृत्ति। "यच्छक्लीगर्भ मतानुसारिणो मूर्च्छादावात्मसंवित्ति लक्षणां पञ्चमीं वृत्तिं सकलकार्य निवृत्त्यनुमेयां मूर्च्छाकर्मानुभावेन च फलेनावच्छिन्नमात्मव्यापाररूपां मन्यन्ते, न च परिस्पन्द एवैको व्यापार इति मनसिकृत्य तन्मतं भावानां वाह्यग्रहणस्वभावत्वमुपपादयद्भि: भट्टलोल्लट प्रभृतिभि: पराकृतमिति न फलवृत्तिर्वा काचिदिति चतस्त्र: एव वृत्तय: इति"[1]।

इस प्रकार उपर्युक्त वृत्ति की व्याख्या करने से आचार्य उद्भट का प्रभाव इतना बढ़ गया कि परवर्ती आचार्यों ने उद्भट के मत का अनुसरण करने वाले आचार्यों को उद्भटानुयायी माना है[2]।

आचार्य अभिनवगुप्त ने आचार्य उद्भट की अवमर्शसन्धि को नहीं माना है और इसके लिए उन्होंने उनकी आलोचना की है। "यदाह्भट्टोद्भट: । नासान्वेषणभूमिकमृष्टिरवमर्श: इति तच्चेदं व्याख्यानं लक्ष्य विरुद्धं युक्त्या च"[3]।

आचार्य उद्भट ने नाट्यशास्त्र की (२१।७०) कारिका के बारे में कहा है कि संधियों और अंगों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार होना चाहिए जैसा कि पूर्ववर्ती कविगण करते चले आ रहे हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने उद्भट के इस मत की आलोचना करते हुए कहा है—"पुनरेषामिति (२१।७१) पुन: शब्दो विशेष द्योतको लक्षण एवायं क्रमो न निबन्धने इति यावत्एतेन यदद्भट प्रभृतयो अङ्गानां सन्धौ क्रमे च नियमामाहुस्तदुक्तागमविरुद्धमेव"[4]। इसके अतिरिक्त आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्य-

---

१- अभिनवभारती, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़, वाल्यूम ।।।४५२।
२- "पठन्त: पञ्चमीं वृत्तिं औद्भटा: प्रतिजानते"।— दशरूपक।
३- अभिनवभारती, भण्डारकर ओरियण्टल सीरीज़, ३००।
४- तदैव, ३०२।

शास्त्र में संधियों के विवेचन में आचार्य उद्भट की इस व्याख्या में लक्ष्य और अंग-विरुद्ध नामक दो अपवाद दिखाया है ।

नाट्यशास्त्र में (१८।७६वीं) कारिका जो कि समवकार के विषय में आयी है, वह इस प्रकार है—

"उष्णिग्गायत्राधाद्यान्यन्यानि च यानि बन्धकुटिलानि ।
वृत्तानि समवकारे कविभिस्तानि प्रयोज्यानि ।।"[1]

तात्पर्य यह है कि समवकार में उष्णिक् और गायत्री से भिन्न जो बन्धकुटिल विषम या अर्धसम वृत्त है, उनका प्रयोग समवकार में करना चाहिए । परन्तु उद्भट का मत है कि समवकार में इनकी योजना नहीं करनी चाहिए । उनके अनुसार स्रग्धरा आदि बहुत अक्षरों वाले छन्दों का ही प्रयोग होना चाहिए, अल्प अक्षरों वाले छन्दों का नहीं । "नैव प्रयोज्यानीत्युद्भट: पठति । स्रग्धरादीन्येव प्रयोज्यानि नाल्पाक्षराणीति स व्याचष्टे"[2]।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में नाट्यशास्त्र की (६।१०वीं) कारिका की व्याख्या में बताया है कि उद्भट के कुछ विचार लोल्लट आदि ने नहीं माने हैं[3]। "अनेन तु श्लोकेन लोल्लटादिमतेनैकादशाङ्गत्वं उच्यते न तु भरते ++"[4] ।

नाट्यशास्त्र में नवें अध्याय की १८२वीं कारिका अधोलिखित प्रकार है—

"उत्तान: पार्श्वगश्चैव तथा धोमुख एव च ।[5]
प्रचारस्त्रिविधो ज्ञानां नाट्यवृत्त: समाश्रय: ।।

१- नाट्यशास्त्र, १३।७६ ।
२- अभिनवभारती, (तदैव।४४१) ।
३- "रसाभावाह्यभिनयाधर्मो वृत्ति प्रवृत्तय: ।
सिद्धि: स्वरास्तथातोद्यं गानं रंगश्च संग्रह:।।— ६।१० ।
४- अ०भा०, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ (वाल्यूम ।।२७७) ।
५- नाट्यशास्त्र, ६।१८२ ।

अर्थात् नाट्य एवं नृत्य में अंगों का प्रचार तीन प्रकार से करना चाहिए— १- उत्तान, २- पार्श्वग, तथा ३- अधोमुख । परन्तु भट्टोद्भट ५ प्रकार से अंगप्रचार का वर्णन करते हैं, जैसा कि अभिनवभारती में उल्लिखित है—

> उत्तानो धस्तत्सम्मुख्यश्चाऽग्रगोऽधोमुख एव च ।
> पञ्चप्रचारा हस्तस्येति भट्टोद्भट: पठति।[1]

इस प्रकार अभिनव भारती का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि समग्र नाट्यशास्त्र पर आचार्य उद्भट का प्रभाव है। नाट्यशास्त्र के ६, ६, १८ और २१वें अध्याय यह घोतित करते हैं कि उद्भट ने समग्र नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी । उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से नाट्यशास्त्र का कोई भी कोना अपरिचित नहीं है, भले ही उद्भट द्वारा प्रणीत नाट्यशास्त्र की टीका हमारे समक्ष उपलब्ध नहीं है फिर भी अभिनवभारती में यत्र-तत्र विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों के रूप में हम उसके बारे में जानने में सक्षम होते हैं। ये सिद्धान्त उद्भट की नाट्यशास्त्र की व्याख्यातृता निर्विवाद रूप से सिद्ध करते हैं।

१- अभिनवभारती , द्वितीय वाल्यूम (७०) ।

द्वितीय अध्याय

उद्‌भट और भामह

उद्भट और भामह

भरत के बाद काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मुख्य रूप से आचार्य भामह का नाम आता है। सम्भव है आचार्य भरत और भामह के बीच अनेक काव्यशास्त्री हो चुके हों परन्तु उनमें से किसी का भी उल्लेख नहीं प्राप्त होता। इन्हीं के बीच मेधाविन् या मेधाविरुद्र नामक आचार्य हो चुके हैं, जिनका पता हमें भामह, नामिसाधु, रुद्रट तथा राजशेखर आदि से चलता है[1]। मेधाविन् के पश्चात् भामह ही एक ऐसे आलङ्कारिक हैं जो प्रमुख हैं।

वस्तुत: अलङ्कार सम्प्रदाय में आचार्य भामह के बाद यदि किसी आचार्य का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है तो वह आचार्य उद्भट ही हैं। अलङ्कार के क्षेत्र में सर्वत्र इस आचार्य के प्रखर व्यक्तित्व की इतनी छाप है कि उसके समक्ष भामह का व्यक्तित्व निष्प्रभ हो जाता है। अत: अनेक विद्वानों का यह कथन कि, उद्भट भामह के अनुयायी हैं, सर्वथा निरस्त हो जाता है। उद्भट ने भामह के काव्यालङ्कार पर टीका लिखी है परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वे भामह के अनुयायी थे। या उनका व्यक्तित्व पूर्णत: भामह से ही प्रभावित था। सच तो यह है कि अलङ्कार के क्षेत्र में उद्भट का अपना सर्वतन्त्र स्वतंत्र व्यक्तित्व था। वे भामह के अन्धानुयायी नहीं थे। अनेक स्थलों पर उद्भट का व्यक्तित्व भामह से पृथक् है। उन्होंने अनेक ऐसे अलङ्कारों की विवेचना की है जो भामह के लिए सर्वथा अज्ञात थे[2]। अस्तु हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अपने क्षेत्र में उद्भट की विशिष्ट

१- (क) भामह काव्यालङ्कार, २।४० तथा २।८८।
(ख) रुद्रट काव्यालङ्कार नामिसाधु की टीका सहित, ११।२४।
(ग) काव्यमीमांसा, ११।१२।

२- (क) काव्यालंकारसारसंग्रह, सम्पादित डा० राममूर्ति त्रिपाठी।
(ख) History of Sanskrit Poetics: S.K. Dey.

मौलिकता है, अपनी गरिमा है और अपने प्रखर वैदुष्य की सुस्पष्ट छाप है।

इस अध्याय में हम आचार्य उद्भट और भामह की तुलना करते हुए उद्भट के प्रकाण्ड पाण्डित्य और उनकी मौलिकता की प्रतिष्ठापना करेंगे। आचार्य भामह जिन्हें अलङ्कारशास्त्र का आदि आचार्य कहा जाता है, उद्भट द्वारा प्रवर्तित नवीन अलङ्कारों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि युग के उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहने के साथ ही साथ प्रतिभाएं नवनवोन्मेषशालिनी होती जाती हैं। यह बात आचार्य उद्भट के सम्बन्ध में पूर्ण चरितार्थ होती है। नवीन अलङ्कारों की जो वैज्ञानिक विवेचना, भामह के द्वारा प्रवर्तित अलङ्कारों के सूक्ष्म स्वरूपों का जो तर्कपूर्ण प्रस्तुतीकरण उद्भट ने किया है, उससे उनकी मौलिकता एवं वैज्ञानिकता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। और सम्भवत: यही कारण है कि विद्वत्सम्प्रदाय में अलंकार के क्षेत्र में भामह का उतना सम्मान नहीं है जितना उद्भट का है।

जहां तक आचार्य उद्भट द्वारा प्रदत्त अलङ्कारों की परिभाषा का प्रश्न है, उन्होंने इस बात में संकोच नहीं किया है कि जहां उन्होंने उचित समझा है भामह द्वारा प्रदत्त परिभाषाओं को ज्यों-की-त्यों ग्रहण कर लिया है। परन्तु जहां उन्होंने भामह के विचारों को ठीक नहीं समझा है, वहां वे उनका खण्डन करने में भी नहीं चूके हैं।

अतिशयोक्ति अलङ्कार का उद्भट ने बड़ा ही विशद् एवं वैज्ञानिक वर्गीकरण किया है जोकि भामह नहीं कर सके हैं। उनका यह वर्गीकरण परवर्ती मम्मटादि आचार्यों का मार्गदर्शक बना। यद्यपि उन आचार्यों ने अतिशयोक्ति के प्राचीन रूप में संशोधन करके उसे और वैज्ञानिक बना दिया तथापि यह तो नि:-संकोच कहा जा सकता है कि उद्भट ने अतिशयोक्ति का जो वर्गीकरण किया था, परवर्ती आचार्यों ने उससे अवश्य प्रेरणा प्राप्त की। भामह[१] ने अतिशयोक्ति की

१- भामहालङ्कार, २।८० ।

परिभाषा मात्र दी है जिसे उद्भट ने भी मूलरूप में[1] अपना लिया है। परन्तु उन्होंने उसके अधोलिखित चार भेद किए हैं—

(१) भेदेऽनन्यत्वम् — अर्थात् भेद में भी अनन्यता।

(२) अन्यत्र (अभेदे) नानात्वम् — अर्थात् अभेद में नानात्व।

(३) संभाव्यमानार्थनिबन्ध — अर्थात् किसी असंभव काल्पनिक वस्तु का वर्णन।

(४) कार्यकारणयोर्यत्रपौर्वापर्यविपर्ययात्। आशुभावं समालम्ब्य बध्यते — अर्थात् परिणाम के आशुभाव को दृष्टि में रखते हुए कार्यकारण का पौर्वापर्यभाव।

अतिशयोक्ति के उक्त भेदों को आचार्य ने उचित उदाहरण देकर स्पष्ट किया है[2]।

भामह[3] ने रूपक के दो भेद तथा अनुप्रास के भी दो भेद स्वीकार किए हैं, परन्तु उद्भट इस स्थल पर भामह से भिन्न हैं। उन्होंने रूपक की परिभाषा एक भिन्न प्रकार से दी है तथा अनुप्रास के तीन भेदों का परिगणन किया है। रूपक की परिभाषा करते हुए भामह ने लिखा है—

उपमानेन यत्तत्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः॥[4]

अर्थात् उपमान से उपमेय का तादात्म्य जहाँ पर गुणों के साम्य को देखकर निरूपित

१- निमित्ततो यत्तु वचो लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया बुधाः॥
भेदे नन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते।
तथासंभाव्यमानार्थनिबन्धे तिशयोक्तिगी:॥
कार्यकारणयोर्यत्रपौर्वापर्यविपर्ययात।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत्॥—काव्यालंकारसारसंग्रह,२।११-१३।

२- काव्यालङ्कारसारसंग्रह, २।१३,१४,१५,१६।

३- अनुप्रासस्त्रिधेति रूपकं चतुरिति च पश्चात्कर्तव्यमपि विभागप्रतिपादनं यद् उद्देश एव कृतं तद् बहवलङ्कार (ग्रन्थ) दृष्टसप्रभेदालङ्काराष्टकमत्र दर्शितमिति मुख्यत एवास्योपादेयता ध्वननीय। अतएव ++++ ।—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, लघुवृत्ति, पृ० १।

४- भामहालङ्कार, २।२१।

किया जाय - वहाँ पर रूपक अलङ्कार होता है। उन्होंने रूपक के दो भेद बताए हैं— (१) समस्तवस्तुविषयक, (२) एकदेशविवर्ति। इसके विपरीत उद्भट ने रूपक को अधोलिखित परिभाषा दी है—

श्रुत्या संबन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्।
गुणावृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्॥[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्भट ने अपने पूर्ववर्ती भामह से रूपक की परिभाषा उधार नहीं लिया है। उसे उन्होंने सर्वथा नये ढंग से कहा है। भामह और उद्भट द्वारा प्रदत्त रूपक की परिभाषाओं में अन्तर है। उद्भट के अनुसार जहाँ अभिधा शक्ति से प्राप्त अर्थों का सम्बन्ध न बन सके, परिणामस्वरूप गुणावृत्ति-पद का प्रधान पद से योग हो, वहाँ रूपक अलङ्कार होता है। परन्तु उद्भट के कथन में एक त्रुटि है कि जिस पद का पदान्तर से लाक्षणिक सम्बन्ध होना बताया है, वे किस प्रकार का सम्बन्ध रखते हैं— सादृश्य या सादृश्येतर। उद्भट द्वारा प्रदत्त रूपक की उक्त परिभाषा थोड़ी उलझी हुई है। जहाँ तक प्रभेदों का प्रश्न है, इन्होंने भामह के द्वारा कथित दो प्रभेदों का परिगणन किया है। १- समस्त वस्तु विषयक तथा एक देशविवर्ति। समस्त वस्तुविषयक को उन्होंने मालारूपक भी कहा है। प्रतिहारेन्दुराज ने उसका कारण बताते हुए लिखा है— "एकस्मिन् रूप्ये समुच्चयेन अस्यन्ते क्षिप्यन्ते बहूनि रूपकाणि"। अर्थात् जहाँ एकही रूप्य पर अनेक उपमानों का आरोपात्मक क्षेपण हो। परन्तु इस स्थल पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उन्होंने इसे (मालारूपक को) समस्त वस्तुविषयक से भिन्न प्रकृति का बतलाया है। समस्त वस्तुविषयक में एक तो अङ्गीभूत उपमान तथा उपमेय हैं और शेष उनके अङ्गरूप परन्तु मालारूपक में एक ही उपमेय है और उस पर अनेक उपमानों का आरोप।

१- काव्यालङ्कारसारसंग्रह, १।११।

इसी प्रकार एकदेशविवर्ति का भी दूसरा अर्थ किया गया है। उदाहरण तो एक ही तरह का है परन्तु एकदेश का अर्थ यहां भिन्नरूप का किया गया है। 'एकदा अन्यदा ईशः प्रभविष्णुः यो वाक्यार्थस्तद्वृत्ति'। व्याख्याग्रन्थ में इसे अच्छी तरह समझाया गया है। पहले एकदेश का अर्थ 'एक भाग' किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि उद्भट ने पूर्वाचार्यों द्वारा कथित समस्त वस्तुविषयक तथा एकदेशविवर्ति, दो ही भेदों को लिया है तथापि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती भामहादि आचार्यों का अन्धानुकरण न करके उन भेदों की अन्यथा व्याख्या भी की है तथा अन्य रूपों की चर्चा की है। मालारूपक को परवर्ती आचार्यों ने निरंग रूपक के अन्तर्गत ले लिया है। इस प्रकार हम उद्भट के रूपकालङ्कार के चार विभेद[1] कर सकते हैं— (१) समस्तवस्तुविषयक, (२) एकदेशविवर्ति, (३) समस्तवस्तुविषयक मालारूपक, तथा (४) एकदेशवृत्ति।

यद्यपि उद्भट ने रूपक की सर्वथा नवीन प्रकार से परिभाषा दी और नवीन प्रकार से उसका वर्गीकरण किया है तथापि उनकी यह रूपक-विवेचना एक सीमा तक उलझी हुई है। रूपक का वर्गीकरण करते हुए उन्होंने अनायास ही एकदेशवृत्ति नामक एक अन्य प्रभेद की कल्पना की है। समस्तवस्तुविषयक को माला-रूपक मानने का उनका यह सिद्धान्त किसी भी परवर्ती आलङ्कारिक को स्वीकृत नहीं है। उन्होंने सर्वथा स्वयं को भामह से अप्रभावित सिद्ध करने की चेष्टा की है। अपने इसी प्रयास में उन्होंने न केवल रूपक अपितु अनेक अलङ्कारों की नूतन ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की है तथा अलंकारशास्त्र में अनेक अभिनव सिद्धान्तों का सूत्रपात किया, जिन्हें हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

१- तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदाः वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्। — काव्यालङ्कारसारसंग्रह-बनहट्टी।

उद्भट और भामह की अनुप्रास विवेचना

भामह ने ग्राम्यानुप्रास और लाटानुप्रास दो ही अनुप्रास-भेदों का परिगणन किया है जो कि प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार सम्भवत: दो वृत्तियों— ग्राम्या और उपनागरिका- पर आश्रित हैं। "भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्" (पृ० १)। परन्तु उद्भट का दृष्टिकोण भामह से सर्वथा भिन्न है। उन्होंने तीन प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है—

(१) छेकानुप्रास,
(२) वृत्यनुप्रास (अनुप्रास)
(३) लाटानुप्रास

छेकानुप्रास — छेकानुप्रास का विवेचन भामह तथा दण्डी ने नहीं किया है। इस अनुप्रास के प्रथम व्याख्याता उद्भट ही थे। परवर्ती आलंकारिकों ने अनुप्रास के अन्तर्गत ही छेकानुप्रास को एक भेद के रूप में रखा है। परन्तु उद्भट ने स्वतंत्ररूप से इस अलङ्कार की विवेचना की है। डा० राममूर्ति त्रिपाठी इसका कारण कुमारसम्भव के उदाहरणों का क्रम मानते हैं[१]। परन्तु यह उचित नहीं है। क्योंकि उद्भट ने स्वयं ही "अनुप्रासस्त्रिधा" कहकर अनुप्रास के भेदों का नियमन कर दिया है। इसी कारण डा० त्रिपाठी ने भी स्वयं आगे कह दिया है— यह उत्तर वजनदार नहीं है। सच तो यह कि छेकानुप्रास, जो कि छेकों (विदग्धों) का अनुप्रास है, उसको उद्भट ने स्वतंत्र रूप से व्याख्या की है। इस प्रवृत्ति के पीछे उद्भट की भामह से प्रतिद्वन्द्विता और एक नवीन अलङ्कार के प्रस्तुतीकरण की भावना ही काम कर रही थी। उद्भट के अनुसार छेकानुप्रास का स्वरूप अधोलिखित है—

"छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयो: सुसदृशोक्तिकृतौ"। -(१।३)

१- काव्यालङ्कारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या- डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ६७।

अर्थात् जहाँ दो-दो स्वरव्यंजनसमष्टियों की सुसदृश उक्ति हो वहाँ यह अलङ्कार होता है। उन्होंने छेकानुप्रास का उदाहरण देते हुए अधोलिखित श्लोक को प्रस्तुत किया है—

स देवो दिवसान्निन्ये तस्मिञ्छैलेन्द्रकन्दरे।
गरिष्ठगोष्ठीप्रथमैः प्रमथैः पर्युपासितः ।।— (१।२)

उक्त उदाहरण में छेकानुप्रासयोगी समष्टियाँ हैं— सदेव, दिवस, इन्द्र, कन्दर, गरिष्ठ, गोष्ठी, प्रथम और प्रमथ आदि। उक्त उदाहरण से तो ऐसा ध्वनित होता है कि जैसे इन समष्टियों में केवल व्यञ्जनसादृश्य ही अनिवार्य है, स्वरसादृश्य की कोई अपेक्षा नहीं। यहाँ एक बात पर ध्यान देना परमावश्यक है। जहाँ अनुपूर्वी एवं स्वरसादृश्य उपलब्ध होते हैं वहाँ पर यमक अलङ्कार का क्षेत्र होता है। यमक का उद्भट ने अभावात्मक रूप ही ग्रहण किया है। तो क्या इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि छेक की परिधि वहाँ तक चली जाती है? जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक का प्रश्न है, उसका विचार नकारात्मक नहीं है। सम्भवतः यही कारण है कि उद्भट ने यमक का उल्लेख नहीं किया है यद्यपि उनके पूर्ववर्ती भरत ने उपमा, रूपक, दीपक और यमक की चर्चा की है। प्रश्न यह है कि उद्भट ने ऐसा क्यों किया? जबकि उनके पूर्ववर्ती भरत ने यमक का उल्लेख किया है। भरत ने केवल चार अलङ्कारों का परिगणन किया है— उपमा, रूपक, दीपक तथा यमक। प्राचीन आलङ्कारिकों में उद्भट ही एक ऐसे आलङ्कारिक हैं जिन्होंने यमक की चर्चा की है। दण्डी, वामन, रुद्रट एवं मम्मट आदि प्रमुख काव्यशास्त्रियों ने यमक का परिगणन किया है। वामन ने यमक का प्रशस्त चित्रण किया है। रुद्रट ने पूरे एक अध्याय में यमक का वर्णन किया है। परन्तु क्या कारण है कि उद्भट ने यमक को छोड़ दिया? इस सन्दर्भ में हमारी धारणा यही है कि सम्भवतः उद्भट ने यमक को छेकानुप्रास के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लिया है। वस्तुतः यदि देखा जाय तो यमक का क्षेत्र भी उद्भट द्वारा निर्धारित छेकानुप्रास के ही क्षेत्र में आ जाता है।

ऐसा करके उद्भट ने अपनी मौलिकता एवं पाण्डित्य की स्थापना करने की चेष्टा की है। इसमें स्वयं को भामह से पृथक् एक सर्वतंत्र स्वतंत्र व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित करने की भी भावना मूर्त होती है।

वृत्यनुप्रास — उद्भट ने तीन प्रकार की वृत्तियों का परिगणन किया है— परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या। और इन्हीं तीन वृत्तियों के आधार पर वृत्यनुप्रास भी तीन प्रकार का होता है। उन्होंने इसका लक्षण करते हुए लिखा है—

'सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा।।'— (१।७)

अर्थात् उक्त तीनों वृत्तियों में यथासम्भव रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्णों के प्रयोग में जो समान वर्णों का पृथक्-पृथक् उपनिबन्ध होता है, ऐसे अनुप्रास की छटा को कवि सदा इच्छा करता है। वृत्ति का अर्थ है— 'रसाद्यभिव्यक्त्यनुगुणः वर्णव्यवहारः' अर्थात् रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुगुण वर्णों का व्यवहार।

यहां पर भामह और उद्भट में अन्तर यही है कि भामह ने सरूप वर्ण विन्यास को अनुप्रास बताया है। उसके ग्राम्यानुप्रास और लाटीयानुप्रास दो भेद हैं। इसके विपरीत उद्भट ने 'सरूप व्यंजनन्यास' को वृत्यानुप्रास कहा है और उसके तीन भेदों का परिगणन किया है— परुषानुप्रास, उपनागरिकानुप्रास और ग्राम्यानुप्रास।

यहां इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि उद्भट द्वारा व्याख्यात ये वृत्तियां वैदर्भी पांचाली और गौडी रीतियों से सर्वथा भिन्न हैं। दण्डी और वामनादि आचार्यों द्वारा व्याख्यात ये रीतियां वस्तुतः स्थानीय शैलियां हैं। परन्तु उद्भटाचार्य द्वारा विवेचित ये वृत्तियां वस्तुतः काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनकी देन हैं। इन शब्दवृत्तियों के प्रथम प्रवर्तक आचार्य उद्भट ही हैं।[1] उनके

---

1. These Vrittis which consist primarily of suitable sound adjustment with a view to sound alliteration appear to have been first recognised as Abhinawagupta points out by Udbhata and from him known to Anandvardhan.
—S.K. Dey: Sanskrit Poetics, p. 55.

पश्चात् आनन्दवर्धन ने इस वृत्तिव्यवहार को अपनाया। ध्वन्यालोक के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने इस ओर सङ्केत किया है।[1]

आचार्य भामह ने जिन रीतियों की चर्चा चलते-चलाते कर दिया है, उद्भट ने उनकी चर्चा करना अनावश्यक समझा। उन्होंने इन्हीं तीन वृत्तियों की चर्चा की है जो मुख्यत: अनुप्रास से सम्बन्धित हैं। उद्भट की इन तीनों वृत्तियों को रीतियों के साथ नहीं रखा जा सकता और न ही इन्हें तीनों गुणों के साथ रखा जा सकता है, जिनमें कि ये पर्यवसित हैं।[2] इसी सन्दर्भ में हमें एक बात और जान लेनी चाहिए। यह उद्भट की मौलिकता की उद्घोषणा करती है। आचार्य रुद्रट ने जिन पांच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता एवं भद्रा) का परिगणन किया है। इन पर आचार्य उद्भट की स्पष्ट छाप है। वस्तुत: वैज्ञानिक दृष्टिकोण से रुद्रट का यह वर्गीकरण ठीक नहीं है। उनके इस वर्गीकरण पर उद्भट का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।[3]

इस प्रसंग में हमें यह जान लेना चाहिए कि उद्भट द्वारा व्याख्यात इन वृत्तियों में कौन-कौन से वर्ण आते हैं। श, ष रेफ संयोग, ट वर्ग, ह्ल, ह्व, ह्य से युक्त वृत्ति को परुषा कहते हैं। विद्वानों ने उपनागरिका वृत्ति उसे माना है, जहां समान रूप वाले वर्ण संयुक्त हों तथा प्रत्येक वर्ग के अन्तिम। (अनुनासिक) वर्ण अन्य स्पर्श वर्णों के शिरोभाग पर अथवा आदि में मिले हों। समानरूप वाले वर्णों के संयोग का उदाहरण क्क, प्प, च्च आदि हैं। वर्ग के अन्तिम वर्ण जैसे ङ, न, ण, म, आदि हैं। इनसे संयुक्त वर्ण ङ्क, ञ्च, ण्ट, न्त, एवं म्प आदि हैं। इन्हीं वर्ण विन्यासों वाली वृत्ति उपनागरिका कही जाती है।

१- भट्टोद्भटादिभि:। — ध्वन्यालोक लोचन, पृ०   ।

२- "रीतिर्हि गुणेषु पर्यवसायिता" — लोचन, पृ० २३।

३- काव्यालंकारसारसंग्रह भूमिका, सम्पादित डा० राममूर्ति त्रिपाठी।

काव्य में प्रचुर आदरबुद्धि रखने वाले विद्वान यथासम्भव अवशिष्ट वर्णों से कोमला नाम द्वारा कही गयी ग्राम्या वृत्ति की प्रशंसा किया करते हैं।[1] आचार्य उद्भट ने इन तीनों वृत्तियों का समुचित उदाहरण दिया है।[2]

आचार्य भामह ने गुणों का बहुत थोड़ा विवेचन किया है। उन्होंने तीन गुण माने हैं— माधुर्य, प्रसाद और ओजस्। उनके अनुसार मधुर काव्य श्रुतिसुखाद और समासविहीन होता है। 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते'। आचार्य भामह के मतानुसार प्रसादगुण युक्त काव्य उसे कहते हैं जिसको स्त्रियां और बच्चे भी आसानी से समझ सकें। 'अविद्वदंगनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्'। भामह के मतानुसार प्रसाद और माधुर्य दोनों गुणों से युक्त काव्य बड़े-बड़े समासों से विहीन सरल प्रवाहमयी और कोमलकान्त पदावली से युक्त होता है—

'माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते।।'

जहां तक ओजगुण का प्रश्न है, भामह का दृष्टिकोण बहुत ही संकुचित है। भामह के अनुसार दीर्घ समास से युक्त पदावली ओजगुणयुक्त पदावली कहलाती है—

'केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका।।'

१- (क) शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता।।
(ख) सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः।।
(ग) शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः।।
—काव्यालङ्कारसारसंग्रह, १।४,५,६।

२- (क) तत्र तोयाशयाशेषव्याकोशितकुशेशया।
चकाशे शालिकिंशारुकपिशाशामुखा शरत्।।
(ख) सान्द्रारविन्दवृन्दोत्थमकरन्दाम्बुबिन्दुभिः।
स्यन्दिभिः सुन्दरस्यन्दं नन्दितेन्दिन्दिरा क्वचित्।।
(ग) केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित्।
कुर्वती काननारूढश्रीनूपुररवभ्रमम्।। —काव्यालंकारसारसंग्रह,

भामह द्वारा उदाहरण रूप में प्रस्तुत "मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका" ओजगुण का समुचित उदाहरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि इससे श्रृंगार रस की प्रतीति होती है। लम्बे समास से युक्त होने पर भी यह माधुर्य एवं प्रसाद गुण से ओतप्रोत हैं। कथन का अभिप्राय यह है कि आचार्य भामह ने दीर्घ समासवत्ता को ओजोगुण के लिए आवश्यक माना है, वह अपरिहार्य नहीं है। आचार्य आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक में इसे श्रृंगार के दीर्घसमाससंघटना के उदाहरण के रूप में लिया है। आनन्दवर्धन के अनुसार भामह ने ओजोगुण का जो यह उदाहरण दिया है वह वस्तुत: उचित नहीं है। इस प्रकार की कोमलकान्त पदावली कदापि ओजोगुण के लिए उद्धृत नहीं की जा सकती। अधिक से अधिक इसे श्रृंगार के दीर्घसमास संघटना के उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इस प्रकार की पदावली ओजोगुण के उदाहरण के रूप में नहीं ली जा सकती।

रीतियों की व्याख्या के सन्दर्भ में भामह ने कुछ गुणों का नाम लिया है। उन्होंने गुणों को रीतियों से सम्बद्ध बताया है। परन्तु इस सम्बद्धता की समुचित व्याख्या करने में भामह ने स्वयं को असमर्थ पाया है—

"अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम् ।
भिन्नगेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।।
अलङ्कारवदग्राम्यं अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीय: वैदर्भमपि नान्यथा।।"[1] — १।३४-३५ ।

उपरोक्त सन्दर्भ में वे प्रसाद, ऋजुता, कोमलत्व और श्रुतिपेशल को वैदर्भी के साथ वर्णन करते हैं तथा अनाकुलत्व और अग्राम्यत्व को गौडी के साथ वर्णन करते हैं। प्रसाद और ऋजुता को हम एक ही प्रकार का कह सकते हैं।[2]

१- काव्यालङ्कार, १।३४-३५ ।

२- The later is straight statement with least vakrokti. An over-emphasis on this leads to the fault of अपुष्टार्थत्व and अवक्रता Vakrokti is what nourishes beauty of expression. It is alamkara and by that alone idea can be made beautiful.—Dr. Raghavan,p.

किसी वस्तु को कह दिया जाय कि वह अत्यन्त सुन्दर है तो यह समीचीन नहीं है क्योंकि इस प्रकार तो सौन्दर्य की स्वशब्दवाच्यता हो जायेगी । परन्तु वक्रोक्ति जो श्रुतता और प्रसादादि से भरपूर होती है, स्वाभाविक सौन्दर्य का प्रतिपादक होता है ।

"न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति: ।।"— (१।३६)

यमक की विवेचना करते हुए भामह ने कुछ अन्य गुणों को भी गिनाया है । इस स्थल पर हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि भामह ने कुछ अन्य गुणों को भी गिनाया है फिर भी वे मुख्यत: तीन ही गुणों को मानते हैं ।

डा० कीथ ने दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानते हुए भामह को उनका आलोचक सिद्ध करने का प्रयास किया है । कीथ के अनुसार भामह ने दण्डी के दश-गुणों को कम कर दिया है और इससे परवर्ती समस्त काव्यशास्त्री प्रभावित हुए हैं । परन्तु मैं इस कथन से सहमत नहीं हूं क्योंकि जबतक दण्डी की पूर्ववर्तिता निर्विवाद रूप से निर्णीत नहीं हो जाती तबतक भामह को दण्डी का आलोचक मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता । भामह ने भरत के दशों गुणों का अल्पीकरण किया है । भामह ने स्पष्टरूप से गुणों का तीन प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया है । दण्डी का गुणों का वर्गीकरण अत्यन्त विशद् एवं वैज्ञानिक है । भामह ने प्रधानता मात्र तीन ही गुणों की मानी है । शेष का परिगणन मात्र ही किया है । परन्तु इसके विपरीत दण्डी ने दश गुणों का परिगणन किया है जैसा कि हम अगले अध्याय में विस्तृत रूप से विवेचित करेंगे । भामह ने केवल तीन गुणों को प्रधानता देते हुए अन्य गुणों को गिना दिया है । इस बात को स्वीकार करते हुए कीथ महोदय यह कह बैठते हैं कि दण्डी के दशगुणों को भामह ने तीन गुणों में संक्षिप्त किया । दूसरी बात यह भी कि भामह ने गुणों को जो परिभाषाएं दी हैं, वे

नितान्त ही सामान्य व हल्की-फुल्की हैं। इस बात से भी इस तथ्य का द्योतन होता है कि गुणों की सुगठित और तर्कसम्मत परिभाषा देने वाले दण्डी वस्तुत: भामह के परवर्ती हैं। अत: इस तथ्य के आधार पर भी डा० कीथ का उक्त मत स्वयमेव निरस्त होता प्रतीत होता है।

अस्तु, सामान्यत: हम यही कह सकते हैं कि भामह ने दशगुणों को क्रमबद्ध न गिना कर तीन ही प्रमुख गुणों को गिनाया है और इसका समीचीन कारण देने में वे स्वयं को असमर्थ पाते हैं। परन्तु भामह ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से जिस त्रिगुणवाद की स्थापना की वह आगे चलकर और वैज्ञानिक हो उठा। अनेक काव्यशास्त्रियों ने दशों गुणों का किसी न किसी प्रकार इन्हीं में अन्तर्भाव करके तीन ही गुणों की प्रतिष्ठापना की।

इसी प्रसंग में आचार्य भामह से उद्भट की तुलना करते हुए उनके गुण-विवेचन पर हम विहंगम दृष्टिपात करेंगे। कतिपय विद्वानों का मत है कि आचार्य उद्भट द्वारा रचित ग्रन्थ "काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह" में मात्र अलङ्कारों का ही विवेचन है, उसमें गुणों का विवेचन नहीं है। परन्तु यह मत ठीक नहीं है। वस्तुत: आचार्य उद्भट ने "भामहविवरण" में गुणों की विवेचना की है जिसका उल्लेख विभिन्न स्थलों पर सन्दर्भ के रूप में प्राप्य है। उनके विचार ध्वन्यालोक के द्वितीय और तृतीय उद्योतों में प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन[1] में तथा माणिक्यचन्द्र ने अपनी काव्यप्रकाश की "संकेत"[2] नामक टीका में इस बात का उल्लेख किया है। "भामह विवरण" जोकि आचार्य उद्भट की भामह के "काव्यालंकार" पर प्रख्यात टीका है, वह सम्प्रति अप्राप्त है, इसलिए आचार्य उद्भट के गुणविवेचन के विस्तृत रूप को जानने में हम असमर्थ रह जाते हैं लेकिन फिर भी यत्र-तत्र विकीर्ण सन्दर्भों के आधार पर इस स्थल पर उनकी गुण विवेचना पर संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

१- काव्यानुशासन, पृ० १७।

२- काव्यप्रकाशसंकेत, टीका मैसूर एडीशन, पृ० २८६।

प्रश्न यह है कि यदि उद्भट ने गुणों की विवेचना की है तो किस रूप में? वस्तुत: उद्भट ने काव्य के शोभाधायक यदि किसी भी तत्व को वरीयता दी है तो वह है- अलङ्कार। काव्यशास्त्र के समस्त पहलुओं पर उनके आलङ्कारिक व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। अत: उनका गुण विवेचन इस तथ्य का अपवाद कैसे हो सकता है? उन्होंने गुणों का विवेचन किया है लेकिन उक्त विवेचन में उनके पाण्डित्य की स्पष्ट छाप है तथा उनका अपना अलग व्यक्तित्व है। उनके अनुसार गुणों और अलंकारों में कोई भेद नहीं है। उनके अनुसार अलङ्कार काव्य के शोभा-व्यापक तत्व हैं। यही बात उनके अनुसार गुणों के प्रसंग में भी कही जाती है तो फिर गुणों और अलङ्कारों में भेद क्या है? लोक में गुणों की समवाय और अलङ्कारों की संयोग सम्बन्ध से स्थिति होती है। परन्तु काव्यजगत् में ऐसी बात नहीं होती। काव्यजगत् में दोनों की समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है। इसीलिए भले ही लोक में शौर्यादि गुणों और कटकादि अलङ्कारों में भेद हो परन्तु काव्य के शोभा-धायक धर्म होने के कारण तथा समवेत रूप से स्थित होने के कारण काव्यजगत् में उनकी पृथक् सत्ता मानना गड्डरिका प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् भट्टोद्भट का कथन है कि— इह (काव्यजगति) तु उभयेषां समवायेन स्थिति: इसीलिए उन्होंने आगे कहा है— तस्माद् गड्डरिकाप्रवाहेण गुणालङ्कार भेद:।

उक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि उद्भट से पूर्व कुछ ऐसे आलङ्कारिक थे, जो गुणों और अलङ्कारों को अलग-अलग मानते थे और उद्भट के समकालीन भी कुछ ऐसे थे जो इस बात को मानते थे। भरत के बाद मुख्य रूप से भामह का नाम आता है। परन्तु भामह और भरत के बीच पाँच-छ: सौ वर्षों का अन्तर है। इतना लम्बा काल काव्यशास्त्रियों से शून्य नहीं कहा जा सकता। इसी बीच मेधाविन् या मेधाविरुद्र नामक आचार्य हो चुके हैं जिनका पता भामह, नामिसाधु, रुद्रट तथा राजशेखर आदि से लगता है। मेधाविन् के बाद भामह ही एक ऐसे आलङ्कारिक हैं जो प्रमुख हैं। भामह के बाद दण्डी आते हैं। दण्डी को भी उद्भट से पूर्ववर्ती माना गया है। उद्भट के समसामयिक आचार्य वामन हैं।

राजतरंगिणी में जहाँ उद्भट के सभापति होने की बात कही गयी है, वहीं वामन के मंत्री होने की भी बात कही गयी है। रीतिवाद के प्रवर्तक वामन का भी अपना स्वच्छन्द व्यक्तित्व है। आलङ्कारिक उद्भट से वे किसी भी मायने में कम नहीं हैं। उनका गुण विवेचन कुछ इस प्रकार का है, जिस पर उनकी मौलिकता की स्पष्ट छाप है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें दोनों आचार्यों की विचारधारा में थोड़ा अन्तर दिखायी देता है। वामन के अनुसार काव्य की शोभा के हेतु गुण है और उस सौन्दर्य को बढ़ाने वाले धर्म को अलङ्कार कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन का गुणों और अलङ्कारों का विवेचन उद्भट से एक पग आगे है। वामन के गुणों और अलङ्कारों में थोड़ा सा भेद है अर्थात् काव्य के शोभा उत्पादक धर्म गुण हैं और उसमें अतिशयता की वृद्धि करने वाले अलंकार हैं। सम्भवत: वामन के इसी भेद-विवेचन पर उद्भट ने 'गड्डरिका प्रवाह' कह कर कटाक्ष किया है। उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने भी वामन का ही समर्थन किया है। वामन द्वारा प्रतिपादित इस गुण विवेचन में उद्भट से थोड़ा भेद है। सम्भवत: इस भेद की परवाह न करते हुए व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने वामन का समर्थन किया है। भोज भी इसी विचारधारा के अनुगामी हैं।

अब प्रश्न यह है कि उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों के विषय में क्या विचारधारा व्यक्त की है? उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों में भामह और दण्डी आते हैं। मेधाविन् की किसी भी कृति का आजतक कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य दण्डी ने इस बात को स्वीकार किया है कि प्राचीनकाल के विद्वानों शब्दार्थ से संयुक्त काव्य तथा अलङ्कारों का वर्णन[१] किया है और अलंकारों के वर्णन का उनका यह प्रयास पूर्वानुकृति मात्र है। इससे यह स्पष्ट द्योतित होता है कि अवश्य ही आचार्य दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य गुणों और

१- तैः शरीरञ्च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।। — काव्यादर्श, १।१० ।

अलङ्कारों में भेद मानते थे क्योंकि दण्डी ने ऐसा ही किया है। दण्डी के अनुसार काव्य के शोभाधायक धर्म को अलङ्कार कहते हैं। जहां तक भामह का प्रश्न है आचार्य दण्डी की तरह उन्होंने भी गुणों और अलङ्कारों में भेद का स्पष्ट निरूपण नहीं किया है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भामह भी गुणों और अलङ्कारों में भेद मानते हैं—

तदेतदाहु सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टा द्वयं तु नः ।।

भामह ने तीनों गुणों— प्रसाद, माधुर्य और ओजस्- का वर्णन किया है, मगर उन्होंने कहीं भी गुणों को अलङ्कार नहीं कहा है। उनके ग्रन्थ में कहीं भी गुण शब्द का नाम नहीं है। उन्होंने दोनों का विवेचन प्रथम अध्याय के अन्तमें और चतुर्थ तथा पंचम अध्याय में किया है। उनके अनुसार कभी-कभी कोई दोष समाप्त हो-जाता है और वह शोभाधायक बन जाता है (शोभाधत्ते) गुण का उन्होंने केवल एक स्थान पर प्रयोग किया है (भाविकत्वमीतिप्राहु: प्रबन्ध विषयं गुणम्)।

परन्तु आचार्य उद्भट की मान्यता 'गुणालङ्कारैक्य' की है। यद्यपि उद्भट के इस गुणालङ्कारैक्य की परवर्ती अनेक आचार्यों ने आलोचना की है लेकिन इतना अवश्य कहा जा सकता है कि गुणालङ्कारैक्य की इस सर्वतंत्रस्वतंत्र विवेचना में उद्भट का अगाध पाण्डित्य, उनका अहंभाव तथा उनकी स्वतंत्र मनोवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि जब सभी आचार्यों ने गुणों और अलंकारों में भेद माना है तो उद्भट की यह अभेद दृष्टि क्यों है? यह प्रश्न वस्तुत: प्रमुख स्थान रखता है और अपना समाधान चाहता है। इस प्रश्न का उत्तर सम्भवत: यही हो सकता है कि उद्भट की इस अभेद दृष्टि के पीछे उनका अहंभाव ही था। उद्भट की यह अभेद दृष्टि भामह तथा अन्य आचार्यों से सर्वथा पृथक् है और अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। इसका उद्देश्य आचार्य उद्भट की अहम्मन्यता और उनका पाण्डित्य प्रदर्शन है। दण्डी और वामन की भी विचार-

धाराएं आचार्य उद्भट को अच्छी नहीं लगीं। चूंकि दण्डी ने अलङ्कारों को काव्य-शोभा का उत्पादक माना था इसीलिए हो सकता है कि उद्भट ने अपने अहंभाव की तुष्टि के लिए यह कह दिया हो कि जब काव्यशोभाधायक धर्म गुण और अलङ्कार दोनों हैं तो दोनों में अन्तर मात्र गड्डरिका प्रवाह ही है। यह बात सम्भवत: वामन और दण्डी के ऊपर कटाक्ष थी। वस्तुत: उद्भट के इस गुणालङ्कारैक्य में उनकी अहम्मन्यता और पाण्डित्य प्रदर्शन के अलावा कोई वैज्ञानिकता दृष्टिगोचर नहीं होती।

इस प्रकार आचार्य भामह तथा आचार्य उद्भट की विवेचना में अन्तर यही है कि भामह के अनुसार गुणों और अलङ्कारों का वैधर्म्य मुश्किल से सैद्धान्तिक महत्व रखता है। परन्तु आचार्य उद्भट में यही बात थोड़ी भिन्नता लिए हुए है। जैसा कि रुय्यक (पृ० ७) ने कहा है, "उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशो साम्यमेव सूचितम्"।

आचार्य भामह ने यमक, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षावयव का वर्णन किया है परन्तु आचार्य उद्भट ने इन अलङ्कारों को छोड़ दिया है। यमक को तो आचार्य ने छेकानुप्रास की ही परिधि में ले लिया है। आचार्य उद्भट ने ऐसे अलङ्कारों का भी वर्णन किया है जिनको आचार्य भामह ने या तो पारिभाषित किया है या तो उद्धृत किया है। उन्होंने 'निदर्शना' के स्थान पर विदर्शना का प्रयोग किया है। यह प्रतीत होता है कि आचार्य उद्भट ने 'निदर्शना' और 'विदर्शना' को एक ही माना है क्योंकि उन्होंने 'विदर्शना' के लिए उसी उदाहरण को रखा है जो भामह ने 'निदर्शना' के लिए रखा था। उनके व्याख्याकार इन्दुराज का कहना है— "यत्र तु पदार्थ समन्वय उपमानोपमेयभावकल्पया स्वात्मानमुत्पादयति तस्य विदर्शनाभेदस्य उदाहरणमुद्भट पुस्तके न दृश्यते। तस्य तु भामहोदितमिदमुदाहरणम्"—

"अयं मन्दद्युति:भास्वान् अस्तं प्रतिपियासति।
उदय: पतनायेतिश्रीमतो बोधयन्नरान् ।।"

उद्भट के द्वितीय टीकाकार राजानक तिलक का भी कथन है कि उन्होंने विदर्शना के द्वितीय प्रकार के लिए कोई उदाहरण नहीं दिया है, आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय आदि अलङ्कारों की परिभाषाएं दोनों आचार्यों की समान हैं। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् और भाविक आदि की परिभाषाओं की शब्दावलियां समान हैं। भामह ने गुरु, नृपति और पुत्र विषयक प्रीति के वर्णन को ही प्रेयोलङ्कार कहा है परन्तु उद्भट ने भावालङ्कार को ही प्रेय कहा है। "भामहेन हि गुरुनृपतिपुत्र विषय प्रीति वर्णनं प्रयोलङ्कार इत्युक्तं + ++ + उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्त: "।

जहां तक रस का प्रश्न है, आचार्य उद्भट ने भामह के इस मत का समर्थन किया है कि रस कुछ अलंकारों में सहायक तत्व होता है जैसे रसवत, प्रेय और ऊर्जस्वि आदि। कर्नल जैकब ने तो यहां तक कहा है कि आचार्य उद्भट ने रस को काव्य की आत्मा माना है[1]। परन्तु यह कर्नल जैकब की भ्रान्ति है, जिसका विस्तृत विवेचन हम अगले अध्याय में करेंगे। उद्भट ने विभाव, अनुभाव आदि का उपयोग किया है। परन्तु उन्होंने इन सभी बातों को रसवत् आदि अलङ्कारों के सहायक तत्व के रूप में माना है। उद्भट की रसवत् की परिभाषा भामह व दण्डी की परिभाषा से भिन्न है और उन्होंने समाहित नामक एक अन्य अलङ्कार की परिकल्पना की है। आचार्य उद्भट ने रस को उसकी निजी विशेषता के आधार पर नहीं स्वीकार किया है अपितु इस तथ्य के आधार पर कि रस परिस्थितियवश किसी विशेष अलंकार की शोभा में श्रीवृद्धि कर दिया करता है। इसीलिए टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का मत है कि आचार्य उद्भट ने रस और भाव के स्वरूप पर तथा भाव और अनुभाव पर विशेष जोर नहीं दिया है। उद्भट की रस की व्याख्या अपने ढंग की विचित्र है, उन्होंने रस को स्वशब्दवाच्य बताया है। प्रो० वी० राघवन ने इसे "Serious Flow" बताया है[2]। और कहा है कि यह एक प्राचीन विश्वास था।

---

1. Journal of Royal Asiatic Society 1897, p. 837.

2. Some Concepts of Alankar Shastra, p. 149.

आचार्य उद्‌भट ने रसवत् की परिभाषा में कहा है कि रस का आस्पद स्वशब्द है, इसका नाम है तथा इसके विभावानुभाव एवं संचारिभावादि हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसका खण्डन ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में किया है और अभिनव ने लोचन तथा अभिनवभारती में किया है। आचार्य मम्मट ने रस की स्वशब्दवाच्यता को रस का प्रमुख दोष माना है।

इस प्रकार जहाँ तक रस विवेचना का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में आचार्य उद्‌भट और भामह दोनों के विचार यही हैं कि रस एक अलङ्कार विशेष की शोभा में श्रीमण्डित करता है।

आचार्य उद्‌भट की रस की स्वशब्द वाच्यता अधोलिखित कारिका से स्पष्ट होती है—

'रसवद्दर्शित स्पष्ट श्रृंगारादि रसोदयम्।
स्वशब्दस्थायि संचारिविभावाभिनयास्पदम्।'— ४।३।

कथन का तात्पर्य यह है कि रसवत् अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ श्रृंगारादि रस स्पष्ट (प्रधान अथवा अंगी) रूप से दिखाये गये हों तथा साथ ही साथ स्थायीभाव संचारीभाव, विभाव तथा अभिनय (अनुभाव और स्थायी भाव के विभिन्न प्रकारों) का स्वभाव से आस्पद अर्थात् कथन हो। तात्पर्य यह है कि उद्‌भट और भामह दोनों आचार्यों ने रस का वर्णन किया है परन्तु अपने ढंग से। उन्होंने रस की विवेचना में अपने अलङ्कारवादी व्यक्तित्व की छाप लगा दी है तथा अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से एक नये अलङ्कार 'रसवत्' का आविष्कार किया है जिसे कि परवर्ती आचार्यों, यहाँ तक कि आनन्दवर्धन और मम्मट ने अपनी प्रज्ञा के अनुरूप ढाला। बाद में आचार्य कुन्तक ने उद्‌भट की रसवत् की इस परिभाषा की तीव्र आलोचना की[१]। परन्तु आचार्य उद्‌भट की परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने विभाव, अनुभाव और संचारीभावों को स्वशब्दवाच्य बताया है।

१- वक्रोक्तिजीवित, ३।११।

रस की इस स्वशब्दवाच्यता का परवर्ती अनेक आचार्यों ने खण्डन किया है। आनन्दवर्धन ने यद्यपि इसे दोष नहीं माना है तथापि इतना अवश्य कहा है कि रसवाच्य पर आश्रित न होकर व्यङ्ग्य पर आधृत होता है। ध्वन्यालोककार, का यह तात्पर्य है कि रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुभव मात्र होता है। उन शब्दों द्वारा रस की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती क्योंकि दूसरे विषयों में जहां विभाव आदि का अभाव होता है, केवल रस आदि शब्दों का ही प्रयोजन होता है। वह रसास्वादन देखा ही नहीं जा सकता है। केवल शृंगारादि शब्दों के होने पर और विभाव आदि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में रंचमात्र भी रसवत्ता नहीं देखी जा सकती। श्रीमदाभिनवगुप्त पादाचार्य ने लोचन में कहा है—

> शृंगारहास्य करुणावीर रौद्रभयानका:।
> वीभत्साद्भुत संज्ञौचेत्यष्टौनाट्ये रसा स्मृता:।।

इत्यादि कारिका में जितने रस हैं, तब तो उनके नाम मात्र से ही रसों की प्रतीती हो जाय अगर रस को स्वशब्दवाच्यता स्वीकार कर ली जाय[1]। इस प्रकार आनन्दवर्धन और उनके टीकाकार अभिनवगुप्त दोनों के मतानुसार रस की स्वशब्दवाच्यता स्वीकार नहीं की जा सकती।

रस की स्वशब्दवाच्यता की आचार्य कुन्तक ने अत्यन्त कटु आलोचना की है। उन्होंने आचार्य उद्भट की रस की स्वशब्दवाच्यता का उपहास करते हुए कहा है कि अगर घृतपूर आदि पदार्थ अपने नाम मात्र से ही आनन्द देने लगे तो फिर इन उदारचरित महोदयों ने किसी भी पदार्थ की इच्छा रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए उस पदार्थ का नाम लेने मात्र से ही त्रैलोक्य के राज्य प्राप्ति तक के सुख की[2] प्राप्ति बिना प्रयास के ही सिद्ध कर दी है। ऐसे महापुरुषों को नमस्कार है।

१- लोचन (ध्वन्यालोकस्य टीका), पृ० १५२।

२- वक्रोक्तिजीवित (३।११), सम्पादित डा० नगेन्द्र, पृ० ३४४।

आचार्य मम्मट ने रस की स्वशब्दवाच्यता को एक दोष के रूप में माना है। मम्मट के बाद आचार्य विश्वनाथ ने स्वशब्दवाच्यता को रस दोष के रूप में स्वीकार किया है[१]।

वस्तुत: आचार्य उद्भट ने स्वशब्दवाच्यता का जो बीजन्यास किया है, वह अनुचित भले हो हो परन्तु इतना अवश्य है कि जहां कहीं इन शब्दों के प्रयोग के बिना काम नहीं चल सकता, वहां भी रस की प्रतीति अबाधगति से होगी। माना कि यह एक दोष है परन्तु अगर समुचित शब्दों के अभाव में कवि ने रसादि का प्रयोग कर ही दिया है तो उससे रस की प्रतीती में कोई व्याघात नहीं होता, ऐसा एक सहृदय सामाजिक के रूप में मेरा दृढ़ विश्वास है।

इस प्रकार आचार्य उद्भट तथा भामह दोनों ने रस को स्वशब्दवाच्य बताकर उस पर अपने आलङ्कारिक व्यक्तित्व की छाप छोड़ दी है।

इसी प्रसङ्ग में आचार्य उद्भट तथा भामह की वृत्ति विवेचना पर भी संक्षिप्त टिप्पणी दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा। आचार्य उद्भट ने शब्द एवं अर्थ दोनों प्रकार की वृत्तियों का विवेचन किया है। वृत्ति विवेचन का सर्वप्रथम इतिहास आचार्य भामह के युग से प्रारम्भ होता है। भामह ने अपने काव्यालङ्कार में वृत्ति विवेचनानुसार दो परन्तु वैसे तीन प्रकार के अनुप्रासों का वर्णन किया है—

(१) सरूपवर्णविन्यास (वृत्तिविवेचनानुसार)- इसका कोई विशेष नाम नहीं है। यह 'न' वर्ण की आवृत्ति से होता है।

(२) ग्राम्यानुप्रास (वृत्तिविवेचनानुसार) इसमें 'त्र' वर्ण की आवृत्ति होती है।

(३) लाटीयानुप्रास : इसमें शब्दों की आवृत्ति होती है।

१- साहित्यदर्पण व्याख्यात डा० सत्यव्रत, पृ० ६११-१२।

भामह के बाद उद्भट एक प्रख्यात अलङ्कारवादी थे। उन्होंने अनुप्रासों के विवेचन में वृत्तियों को आधार बनाया है। उनके व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है—"भामहो हि ग्राम्योपनागरिका वृत्ति भेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्"। तिलक का कथन है— "भामहो हि द्विविधं रूपकं चानुप्रासं च अवादीत्"। आचार्य उद्भट ने अपनी प्रज्ञा के अनुसार तीन प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है—

(१) छेकानुप्रास
(२) वृत्त्यनुप्रास
(३) लाटानुप्रास

इन अनुप्रासों में लाटानुप्रास का परिगणन भामह ने भी किया है। वस्तुतः छेकानुप्रास आचार्य उद्भट की बुद्धि का नवीन आविष्कार है। यद्यपि वृत्त्यनुप्रास का विवरण भामह ने भी दिया है लेकिन अन्तर केवल इतना है कि भामह ने दो वृत्तियां मानी है और उद्भट ने तीन प्रकार की वृत्तियों— परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या का परिगणन किया है। उद्भट की अन्तिम वृत्ति का अनुप्रास भामह के ग्राम्यानुप्रास से मिलता है अर्थात् उसमें 'ल' वर्ण की आवृत्ति होती है। उपनागरिका में 'न्द' वर्ण की आवृत्ति आती है। यह भामह के 'न्त' वर्ण की आवृत्ति से मिलती-जुलती है। परुषा वृत्ति का आविष्कारक आचार्य उद्भट ही हैं। इस सम्बन्ध में उनकी स्वतंत्र चिन्तनधारा तथा प्रगाढ़ पाण्डित्य एवं मौलिकता के दर्शन होते हैं। परुषा वृत्ति परुष वर्णों की होती है। इन वृत्तियों द्वारा निर्मित अनुप्रासों से इसकी प्रतीति सम्यक् प्रकार से हो जाती है। ऐसा परवर्ती आचार्यों का मत रहा है। परुषा वृत्ति वीर, रौद्र और वीभत्स रसों की प्रतीति कराती है। प्रतिहारेन्दुराज का कथन है—"अत्रास्तावद् वृत्त्यो रसाभिव्यक्तानुगुण वर्णव्यवहारात्मिकाः प्रथम मभिधीयन्ते। ताश्च ति स्मः परुषोपनागरिकाग्राम्यत्व भेदात"।

डा० राघवन ने इस सम्बन्ध में टिप्पणी किया है कि प्रथम वृत्ति अपनी परुषता के कारण आकर्षक होती है तथा द्वितीय अपने सौष्ठव के कारण एक नागरिका कामिनी के समान आकर्षक होती है तथा तृतीय वृत्ति अपने माधुर्य एवं सारल्य के कारण एक ग्राम्या नायिका के समान चित्ताकर्षक होती है[1]।

जहां तक आचार्य उद्भट द्वारा विवेचित वृत्तियों के परवर्ती स्वरूप का प्रश्न है, आनन्दवर्धन इन वृत्तियों के विषय में भलीभांति जानते हैं। उनके अनुसार वृत्तियां गुणों के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। (प्रथम उद्योत, पृ० ५-६) तृतीय उद्योत में उन्होंने पुन: उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन किया है। आनन्द-वर्धन ने वृत्तियों का दो अर्थों में विवेचन किया है— (१) नाट्य वृत्तियां अर्थात् कैशिकी आदि, और (२) काव्यवृत्तियां अर्थात् उपनागरिका आदि (ध्वन्यालोक, पृ० ६८२)। उद्भट ने इन्हें रसानुगुण वर्ण व्यवहार कहा था परन्तु आनन्दवर्धन ने इन्हें रसानुगुण शब्द व्यवहार कहा है। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने भी वृत्तियों का परिगणन गुणों से भिन्न रूप में नहीं किया है। उन्होंने दोनों प्रकार की वृत्तियों को रसौचित्य व्यवहार की संज्ञा दी है।

जहां तक नाट्यवृत्तियों का प्रश्न है, उनके विवेचन में भी उद्भट ने नाट्यशास्त्र के व्याख्या आदि के रूप में अपनी प्रखर मौलिकता का परिचय दिया है। भोज ने चार वृत्तियों के साथ ही साथ एक वृत्ति और भी मानी है[2]। इस बात

---

1. "The first Vritti is so called because of its harshness, the second because of its being refined like the city bred damsel, and third because it is soft like an unsophisticated country lered. The third Vritti gramya is also called Komala signifying the other extreme of the first viz. Parusha.

-Raghawan, p. 203.

2.

का उल्लेख सिंहभूपाल ने किया है। सिंहभूपाल से बहुत पूर्व शारदातनय ने भी उद्भट की पांचवीं वृत्ति- अर्थवृत्ति का उल्लेख किया है। शारदातनय ने लिखा है कि कुछ आचार्य ऐसे हैं जो उद्भट की अर्थवृत्ति को नहीं मानते। उन्होंने एक अन्य (मिश्र) नाम की वृत्ति स्वीकार की है।

भारती सात्वती चैव कैशिक्यारभटी तिच।
औद्भटाः पंचमीं अर्थवृत्तिं च परिजानते ।।
अर्थवृत्तेरभावात्तु विमिश्रां तां पंचमी परे।

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने भरत की चारों वृत्तियों के लिए उनकी आलोचना की है। भरत ने उत्सृष्टिकांक की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह स्त्रियों के करुण-क्रन्दनों से युक्त होता है परन्तु उद्भट का कथन है कि करुण रस में जब मूर्च्छा या मृत्यु होती है तो न तो उसमें किसी प्रकार का कथन होता है और न ही भारतीय वृत्ति। इसी कारण से और अन्यान्य कारणों से आचार्य उद्भट ने चार के स्थान पर तीन वृत्तियां ग्रहण की हैं—

(१) न्याय चेष्टा,
(२) अन्यायचेष्टा, तथा
(३) फलसंवित्ति।

अभिनवगुप्त ने उद्भट के उक्त मत का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने यह भी कहा है कि शक्लीगर्भ नामक आचार्य के अनुयायीगण पांच वृत्ति मानते हैं। चार भरत की और पांचवीं आचार्य उद्भट की- फलसंवित्ति वृत्ति। वस्तुतः इस वृत्ति की व्याख्या करने से उद्भट का प्रभाव इतना बढ़ गया कि परवर्ती आचार्यों धनंजय आदि ने इन अनुयायियों को उद्भटानुयायी माना है। इस प्रकार आचार्य उद्भट और भामह की तुलना करने पर मात्र इतना ही कह देना अलम् नहीं है कि उद्भट ने भामह पर टीका लिखी थी। वस्तुतः काव्यशास्त्र में उद्भट का अपना स्वतंत्र एवं मौलिक व्यक्तित्व है। काव्यशास्त्र के हर पहलू पर इस आचार्य की प्रतिभा एवं पाण्डित्य की प्रखर छाप मौजूद है।

तृतीय अध्याय

आचार्य उद्भट और गुण विवेचन

आचार्य उद्भट और गुण विवेचन

गुणों का आदि स्वरूप

आचार्य उद्भट की गुणों के प्रति क्या विचारधारा थी, इस प्रश्न का निरूपण करने से पूर्व इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि वस्तुत: गुणों का आदिस्वरूप क्या था? प्राचीनकाल में गुणों का स्वरूप न तो उतना विकसित था और न ही उतना वैज्ञानिक था जितना कि बाद में परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से बना दिया। वस्तुत: आदिकाल में गुणों का प्रयोग प्रशंसा के लिए होता था। डा० राघवन ने लिखा है कि काव्य में गुणों का स्वरूप अति प्राचीन है। गुण काव्य-प्रशंसा की निरन्तर अभिव्यक्ति है। संगीत तथा काव्य का आनन्द प्राप्त करने वाले सहृदय सामाजिक के लिए माधुर्य एक प्राथमिक गुण है[१]। वैदिक साहित्य में माधुर्य, ओज आदि गुणों का प्रयोग प्रशंसा

---

1. "The Guna mode of literary appreciation is the most ancient, the extrolling of a good thing through a Guna having the most spontaneous expression of appreciation. Madhurya or sweetness is the earliest Guna for when one enjoys music or poetry, the first expression of his joys takes the form of precising what has enthralled him as sweet". p. 249.

परक है[1]। आदिकाव्य रामायण में जब लव-कुश दोनों बालक रामायण का गान करते हैं तो उस समय उपस्थित समस्त ऋषिगण अलौकिक आनन्द से झूम उठते हैं—

"अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकानांच विशेषत: ।
चिरनिर्वृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ।।"—रामायण, १।४।१७ ।

रामायण जोकि आदि काव्य है, उसमें माधुर्य, ओज और प्रसाद की मधुर त्रिवेणी प्रवह्मान है। रामायण की कविताएं अत्यन्त सुन्दर एवं मनोरम हैं[2]। महाभारत

१- (क) न्याविध्यदिलीविशस्य दृष्ट्वा विशृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्र: ।
यावत्तरो मघवन् यावदोजो वज्रेण शत्रुमवधी: पृतन्युम् ।।-१।३३।१२ ।

(ख) आत्मा पितुस्तनूर्वास: ओजोदा अभ्यञ्जनम् ।
तुरीयमिद्रोहितस्य पाकस्थानं भोजं दातारमब्रवम् ।।-८।३।२४ ।

(ग) त्वमस्य पारे रजसो व्योमन् स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मन: ।
चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसो य: स्व: परिभूरेष्या दिवम् ।।-१।५२।१२ ।

(ङ) भूरि त इन्द्र वीर्यं तव स्मस्य स्तोतुर्मघवन् काममापृण ।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च पृथिवी नेम ओजसे ।।-१।५७।५ ।

(च) विश्वेभि: सोम्यं मध्व ग्न इन्द्रेण वायुना पिबा मित्रस्य धामभि:।
-१।१४।१० ।

(छ) या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ।-१।२२।३ ।

(ज) अश्मास्यमवतं ब्रह्मणस्पतिर्मधुधारमभि यमोजसातृणत् ।
तमेव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहुसाकं सिसिचुरुत्समुद्रिणम् ।।-२।२४।४ ।

२- (क) उदारवृत्तार्थपदै: मनोरमै: ततस्स रामस्य चकार कीर्तिमान् ।
समाक्षरै: श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारधीर्मुनि: ।।-१।२।४२ ।

(ख) तदुपगतसमाससन्धियोगं सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ।।- १।२।४३ ।

(ग) चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रं पदमात्मवान् — १।४।१ ।

(घ) श्रूयतामिदमाख्यानं अनपायैर्वचसो: ।
विचित्रार्थपदं सम्यक् गायकौ समचोदयत्।।— १।४।२६ ।

में भी इन माधुर्यादि शब्दों का प्रयोग उसी अर्थ में किया गया है जिसमें कि रामायण में हुआ है। महाभारत में मधुर आदि शब्दों के साथ विचित्र श्लक्ष्ण, लघु, श्रुतिसुख, विस्तर, समास आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है जोकि परोक्ष रूप से इन गुणों से सम्बन्ध रखते हैं[१]। इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिकाल में गुणों का स्वरूप प्रशंसापरक था।

१- (१) श्रुत्वात्विदमाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते — आदि०, २।३८५।

(२) श्राव्यं श्रुति सुखं चैव पावनं शीलवर्धनं — आदि०, ६२।५२।

(३) इदं होवाच वचनं मधुरं मधुसूदनः। — उद्योग०, ६३।१।

(४) निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य धर्मार्थयुक्तं मधुरं समं च — उद्योग०, १।२५।

(५) तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्र पदपर्वणः — आदि०, १।२४।

(६) अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः — आदि०, १।२७ ।

(७) वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् — आदि०, २००।५६।

(८) इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम् — आदि०, १।६५।

(९) अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघुयुक्तमनुत्तमम्।
उवाच भगवान् वाक्यं सुभद्रां भद्रभाषिणीम्॥ — सभा०, २।५।

(१०) पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा — सभा०, ८।६।

(११) उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः — सभा, ४१।१।

(१२) उवाच वाक्यं मधुराभिधानं मनोहरंचन्द्रमुखी प्रसन्न। — अनु०, ३२।५।

(१३) द्रौपद्या वचनं श्रुत्वा श्लक्ष्णाक्षरपदं शुभम्। — वन०, २६।१।

(१४) वल्गुचित्रपदं श्लक्ष्णं याज्ञसेनी त्वया वचः। — वन०, ३७।१।

आचार्य भरत और गुण

नाटक चूंकि काव्य का अङ्ग है, इस दृष्टि से काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत को माना जा सकता है। गुणों का वह स्वरूप जो अपनी शैशवावस्था में मात्र स्तुतिपरक था, शनैः शनैः काव्य और नाट्य का लालित्य विधायक बनने लगा। भरत के अनुसार नाटक में उस कमनीयता और माधुर्य का सम्मिश्रण होना चाहिए जो सहृदयजनों को रस से आप्यायित कर दे। उनके अनुसार शब्द-चयन उदार, मधुर एवं रस पुष्ट होना चाहिए।[1] इन समस्त गुणों से युक्त शब्द काव्य-बन्ध को उसी प्रकार सुशोभित करते हैं जैसे विकसित पद्मसर को राजहंस।[2] उनके अनुसार कवि को अधोलिखित गुणों से युक्त नाटक की रचना करनी चाहिए—

> "सुश्लिष्टसंधि संयोगं सुप्रयोगं सुखाश्रयम्।
> मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम्॥"[3]
> "तदेव लोकभावानां प्रसमीक्ष्य बलाबलम्।
> मृदुशब्दं सुखार्थं च कविः कुर्याच्चु नाटकम्॥"[4]

भरत के अनुसार इन गुणों के प्रयोग से भाषा, सरल, ललित, बोधगम्य और अभिनेय हो जायेगी। अभिनेयता ही नाटक का प्राणतत्व है। इन गुणों से समन्वित भाषा की अभिनेयता में चार चांद लग जायेगा। माधुर्य, लालित्य मार्दव और औदार्य से भरत का तात्पर्य यह है कि भाषा श्रवणेन्द्रिय को तृप्त करने

१- ये बन्धाः पूर्वमुत्कृष्टाः विषमार्थसमागमाः।
उदार मधुरैः शब्दैः कार्यास्ते स्युः रसानुगाः॥— १६।१२।

२- शब्दानुदारमधुरान् प्रमदभिनेयानक,
नाट्याश्रयान्नु कृतिषु प्रयतेत कर्तुम्।
तैर्भूषिता बहुविभान्ति हि काव्यबन्धा,
पद्माकरा विकसिताइव राजहंसैः॥— १६।१२२।

३- नाट्यशास्त्र, ६।१२०।

४- तदेव, ६।१२१।

वाली हो। इसीलिए उन्होंने बार-बार 'सुत्तार्थ' शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार शैली का प्रधान गुण मार्दव है। 'तस्या: शरीरमपदायमशेष कान्ति-माधुर्य मार्दव सुखैश्वगुणैर्गेयः'। यदि शब्दचयन कठिन है और भावनाएं गम्भीर हैं तो शैली को अभिनेय नहीं कहा जा सकता। इसीलिए भरत का विचार है कि काव्य गूढ़ शब्दार्थहीन होना चाहिए। गूढ़ शब्द और गूढ़ अर्थ नामक दोष से यथासम्भव बचने का प्रयास करना चाहिए। अर्थात् काव्य को प्रसाद गुणयुक्त होना चाहिए। उनके अनुसार शब्दावली कमनीय और हृदयस्पर्शी हो। चेक्रीडितादि शब्दों के प्रयोग नाटक के समस्त सौन्दर्य तथा आकर्षण के विघातक हो जाते हैं।[1] कथन का तात्पर्य यह है कि भरत ने प्रसादगुणयुक्त रचना को मधुर तथा सुन्दर माना है। वास्तव में भरत की यही विशेषता है और इन विशेषताओं से विहीन नाटक की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। नाट्यशास्त्र के सत्रहवें अध्याय में भरत ने काव्यगुणों का परिगणन किया है।[2] उनके अनुसार श्लेष प्रसादादि गुणों से विपरीत तत्व ही दोष हैं।[3] इस प्रकार आचार्य भरत ने शब्द और अर्थगुणों का मात्र परिगणन ही किया है। काव्यशास्त्र के उस आदिकाल में उन्होंने गुणों के लक्षण तथा अलंकारों से उनका क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर विशद् विवेचन नहीं किया है। भरत ने गुणों का शब्द और अर्थ के गुणों में विवेचन भी नहीं किया है। किसी विशेष गुण के विवेचन में शब्द और अर्थादि शब्दों का प्रयोग

१- चेक्रीडित प्रभृतिभिर्विकृतैस्तु शब्दैः।
युक्ता न भान्ति ललिता भरत प्रयोगाः।।
यज्ञक्रियेव शरवर्म घरैर्घृताक्तैः।
वेश्या द्विजैरिव कमण्डलुदण्डहस्तैः ।।—१६।१२३।

२- श्लेष प्रसाद समता समाधि-
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यार्थगुणादशैते ।।— १६।६७।

३- एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिर्नाटकाश्रयाः।
एतएव विपर्यस्ताः गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ।।—१६।६२।

किया गया है। परन्तु सामान्यत: वे काव्य के गुण ही कहे गये हैं। यहां हमें भरत के द्वारा गिनाये गये दस गुणों में से पद सौकुमार्य और अर्थव्यक्ति पर ध्यान देना चाहिए। सौकुमार्य शब्द का गुण है। जहां तक अर्थ का प्रश्न है, इसे विशेष अर्थ में काव्यगुण मानना चाहिए अर्थात् यह उद्धृत दोष का विपर्यय है। अर्थ सौकुमार्य कैशिकी वृत्ति के नाटकों से सम्बन्धित है। जहां तक गुणों की परिभाषा का प्रश्न है, भरत ने उनको तकनीकी ढंग से परिभाषा देने का प्रयास नहीं किया है। फिर भी उनके द्वारा दी गयी गुणों की परिभाषा बाद में दण्डी आदि आचार्यों की पथप्रदर्शिका बनी, जो अधोलिखित है—

(१) श्लेष: ईप्सितेनार्थजातेन समबद्धानुपरस्परम्।
शिलष्टता या पदानां हि श्लेष इत्यभिधीयते।।— १६।९८
यह पद्य काशी संस्करण
विचारगहनं सत्स्यात्स्फुटं चैव स्वभावत:। में नहीं है।
स्वत: सुप्रतिबद्धं च शिलष्टं तत्परिकीर्तितम् ।।९९।।
(विचार्यग्रहणं - का० सं०)

(२) प्रसाद: अथानुपयुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थ: प्रतीयते ।
मुख्य शब्दार्थ संयोगात्प्रसाद: परिकीर्त्यते ।।१००।।
इसे काशी संस्करण में निम्न प्रकार से लिखा गया है—
अप्यनुपयुक्तो बुधैर्यत्र शब्दार्थो वा प्रतीयते ।
सुखशब्दार्थसंबोधात् प्रसाद: परिकीर्त्यते ।।

(३) समता: नातिचूर्णपदैर्युक्ता न च व्यर्थाभिधायिभि: ।
न दुर्बोधा तैश्च कृता समत्वात्समतामता ।।१०१।।
काशी संस्करण में इसे निम्न प्रकार लिया है—
अन्योन्यसदृशं यत्र तथा ह्यन्योन्यभूषणम् ।
अलङ्कारागुणाश्चैव समतात्समता यथा ।।

(४) समाधि: अभियुक्तैर्विशेषस्तु यो र्थस्यैवोपलभ्यते ।
तेन चार्थेन सम्पन्न: समाधि: परिकीर्त्यते ।।१०२।।
उपमा स्वियदिष्टानां अर्थानां यन्नतस्तथा।
प्राप्तानां चातिसंयोग: समाधि: परिकीर्त्यते।।का० सं०।।

(५) माधुर्य: बहशो यत्कृतं काव्यमुक्तं वापि पुना पुन: ।
नोद्वेजयति तस्मादि्ध तन्माधुर्यमुदाहृतम् ।।१०३।।
१- यस्मादि्ध- का०सं० -इति स्मृतम्

(६) ओज : समासवद्भिर्विविधै: विचित्रैश्च पदैर्युतम् ।
सा तु (?) स्वरैरुदारैश्च तदोज: परिकीर्त्यते।।१०४।।
अवगीताविहीनोऽपि स्यादुदस्तावभावक: ।
यत्र शब्दार्थ संपत्तिस्तदोज: परिकीर्तितम् ।।का०सं०।।

(७) सौकुमार्य: सुखप्रयोज्यैर्यच्छब्दैर्युक्तं सुश्लिष्ट संधिभि: ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सौकुमार्यं तदुच्यते ।।१०५।।
सुखप्रयोज्यैर्यच्छन्दैर्युक्तं प्रश्लिष्टसंधिभि: ।
सुकुमारार्थसंयुक्तं सुकुमारं तदुच्यते ।।का०सं०।।

(८) अर्थव्यक्ति: सुप्रसिद्धा धातुना तु लोके कर्मव्यवस्थिता ।
या क्रिया क्रियते काव्ये सार्थ व्यक्ति: प्रकीर्त्यते।।१०६।।
यस्यार्थानुप्रवेशेन मनसा परिकल्प्यते ।
अनन्तरं प्रयोगस्य सार्थव्यक्तिरुदाहृता ।।का०सं०।।

(९) उदात्तता: दिव्यभाव परीतं यच्छृंगाराद्भुतयोजितम् ।
अनेक भाव संयुक्तं उदारं तं प्रकीर्तितम् ।।१०७।।
अनेकार्थविशेषैर्यत् सूक्तै सौष्ठवसंयुतै: ।
उपेतमतिचित्रार्थैरुदात्तं तच्च कीर्त्यते ।।का०सं०।।

(१०) कान्ति : यन्मन:श्रोत्रविषयमाह्लादयति हीन्दुवत् ।
लीलाद्यर्थोपपन्नं वा तां कान्तिं कवयो विदु:।।१०८।।
यो मन: श्रोत्रविषय: प्रसाद जनको भवेत् ।
शब्दबन्ध: प्रयोगेण स कान्त इति भण्यते ।।का०सं०।।

भरत के व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने लक्षण की व्याख्या करते हुए गुणों को दो भागों में बाँटा है। प्रथम रसगुण, जिसमें माधुर्य, प्रसाद और ओजगुण आते हैं तथा द्वितीय, श्लेषादि दशगुण[1]। उनके अनुसार अलङ्कार और गुण का निवेशन चित्रकर्म के समान होता है[2]। उनका कथन है कि गुण का सम्बन्ध रस से अलङ्कार की अपेक्षा कहीं ज्यादा होता है[3]। ध्वनिवादी होने के कारण अभिनवगुप्त ने गुणों को रस के साथ समवाय सम्बन्ध से संयुक्त माना है। अलङ्कार तो मात्र वाह्य चाकचिक्यविधायक हुआ करते हैं[4]। इस प्रकार आचार्य भरत ने गुणों का जो प्रतिपादन किया था, धीरे-धीरे उसका विकास हुआ। परवर्ती आचार्यों ने गुणों का बहुत ही वैज्ञानिक विश्लेषण किया। ध्वनिवादी आचार्यों की दृष्टि में तो गुण काव्य की आत्मा के ही धर्म हो गये जैसे शौर्यादि आत्मा के धर्म हैं। इस तथ्य का निरूपण प्रसङ्गानुसार हम आगे करेंगे।

भामह का त्रिगुणवाद

आचार्य भरत के बाद काव्यशास्त्र में मुख्यरूप से भामह का नाम आता है। इन दोनों आचार्यों के बीच में जो काव्यशास्त्री हो चुके हैं उनके विषय में कुछ पता नहीं है। केवल मेधाविन का उल्लेख मात्र आता है। अस्तु सामान्यत:

१- (क) अभिनवभारती, द्वितीय वाल्यूम, पृ० ३८० ।
   (ख) Some Concept of Alankarshastra, pp. 8-9.

२- अभिनवभारती, द्वितीय वाल्यूम, पृ० ३७७ ।

३- (क) एकमर्थस्यापि यद् रसाभिव्यक्ति हेतुत्वं सो ऽर्थ गुण: ।
— अ०भा०द्वि०वा०, ३८५ ।
   (ख) यस्तु वस्त्वन्तरं वदनस्येवचन्द्र:सो लङ्कार: ।— अ०भा०द्वि०वा०, ३८५ ।

४- "When we come to Guna prakaran itself, we see that in the exposition of ten Gunas, Abhinavgupta to completely follows Vaman.

भामह को ही काव्यशास्त्र का आदि आचार्य माना जाता है । इस प्रसङ्ग में भामह द्वारा कृत गुण विवेचना पर भी विहंगम दृष्टिपात अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है । भामह ने गुणों का बहुत थोड़ा विवेचन किया है । उन्होंने तीन ही गुण माने हैं— माधुर्य, प्रसाद और ओजस् ।

उनके अनुसार मधुर काव्य श्रुतिसुखद और समासविहीन होता है । "श्रव्यं नातिसमस्तार्थं काव्यं मधुरमिष्यते"। भामह के मतानुसार प्रसाद गुणयुक्त काव्य उसे कहते हैं जिसको स्त्रियां और बच्चे भी आसानी से समझ सकें । "अविद्वदङ्गनाबालप्रतीतार्थं प्रसादवत्"। उनके प्रसाद और माधुर्य दोनों गुणों से समवेत काव्य बड़े-बड़े समासों से विहीन, सरल, प्रवाहमय तथा कोमलकान्त पदावली से युक्त होता है ।

"माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादं च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ।।"

जहां तक ओजगुण का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में भामह का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है । भामह के मतानुसार दीर्घसमास से युक्त पदावली ओजगुण युक्त पदावली कहलाती है ।

"केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ।
यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ।।"

भामह ने ओजगुण का दृष्टान्त भी जो दिया है, उसे ओजगुणयुक्त कहना कठिन प्रतीत होता है । किसी भी सहृदय सामाजिक के दृष्टिकोण से "मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका" ओजगुण का समुचित उदाहरण नहीं कहा जा सकता । इससे तो शृङ्गार रस की ही प्रतीति होती है । लम्बे समास से युक्त होने पर भी यह उदाहरण माधुर्य एवं प्रसादगुण से ओतप्रोत है । तात्पर्य यह है कि भामह ने जो दीर्घसमासकता को ओजगुण के लिए आवश्यक माना है, वह अपरिहार्य नहीं है । आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में इसे शृङ्गार में दीर्घ समास संघटना के उदाहरण के रूप में दिया है ।

रीतियों की व्याख्या के सन्दर्भ में भामह ने कतिपय गुणों का नाम लिया है। उन्होंने गुणों को रीतियों से सम्बद्ध बताया है। परन्तु इस सम्बन्ध की समुचित व्याख्या करने में भामह असमर्थ रहे हैं। इस सम्बन्ध में भामह का दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण हो उठा है[1]। इस सन्दर्भ में वे प्रसाद ऋजुता, कोमलत्व और श्रुतिपेशल को वैदर्भी के साथ वर्णित करते हैं तथा अनाकुलत्व और अग्राम्यत्व को गौडी के साथ वर्णित करते हैं। प्रसाद और ऋजुता को हम एक ही प्रकार का कह सकते हैं। इस प्रकार यदि किसी वस्तु को कह दिया जाय कि वह अत्यन्त सुन्दर है तो यह समीचीन नहीं होगा क्योंकि इस प्रकार तो सौन्दर्य की स्वशब्दवाच्यता हो जायेगी। परन्तु वक्रोक्ति जो ऋजुता और प्रसादादि से भरपूर होती है, स्वाभाविक सौन्दर्य का प्रतिपादक होता है[2]। आचार्य भामह ने यमक विवेचन करते समय भी कतिपय गुणों का परिगणन किया है। परन्तु इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि भामह ने इन गुणों को गिनाया है परन्तु वे मुख्यतः तीन ही गुण मानते हैं।

इस स्थल पर डा० कीथ द्वारा प्रतिपादित मत का उल्लेख कर देना आवश्यक है। उन्होंने दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानते हुए भामह को उनका आलोचक सिद्ध करने का प्रयास किया। उनके अनुसार भामह ने दण्डी के दशगुणों

१- अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम् ।
भिन्नगेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ।।
अलङ्कारवदग्राम्यं अर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ।
गौडीयमपि साधीय: वैदर्भमपि नान्यथा ।।— १-३४।३५ ।

२- न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृति: ।।— १।३६ ।

को कम कर दिया है, इससे परवर्ती समस्त काव्यशास्त्री प्रभावित हुए थे। डा० कीथ ने लिखा है—

"Bhamaha found a solution by reducing the number of Gunas to three; which though not stated in Bhamaha rest on fundamental distinction of the manner in which the mind was affected x x x x x. We need not claim for Bhamaha's precise appreciation of the emotional states to which his gunas were to correspond; but the reduction to three must clearly have been based on the principle of this kind and in any event the advance on Dandin is enormous.

परन्तु मात्र इसी आधार पर दण्डी की पूर्ववर्तिता मानना उचित न होगा। तात्पर्य यह है कि जब तक दण्डी की पूर्ववर्तिता निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं हो जाती तब तक भामह को दण्डी का आलोचक मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता। हो सकता है भामह ने भरत के दशगुणों का ही अल्पीकरण किया हो। भामह ने स्पष्ट रूप से तीन गुणों का वर्गीकरण नहीं किया है। उन्होंने केवल तीनों गुणों को प्रधानता देते हुए अन्य गुणों का मात्र परिगणन ही किया है। सम्भवत: इसी बात को स्वीकार करते हुए डा० कीथ यह कह बैठते हैं कि दण्डी के दशगुणों को भामह ने तीन गुणों में संक्षिप्त किया है। दूसरी बात यह है कि भामह ने गुणों की जो परिभाषा दी है, वे नितान्त ही सामान्य व हल्की-फुल्की हैं। अत: दण्डी की सुगठित परिभाषाओं की तुलना में यह बात भामह की पूर्ववर्तिता ही साबित करती है।

अत: सामान्यत: हम यही कह सकते हैं कि भामह ने दशगुणों को क्रमबद्ध न गिनाकर तीन ही प्रमुख गुणों का परिगणन किया है और इसकी विशद् व्याख्या करने में वे स्वयं को असमर्थ पाते हैं। परन्तु भामह ने परोक्ष या अपरोक्ष

रूप से जिस त्रिगुणवाद की स्थापना की वहआगे चलकर परवर्ती आचार्यों के द्वारा और भी निश्चित रूप से विवेचित हुई अनेक काव्यशास्त्रियों ने तो दशगुणों का किसी न किसी प्रकार इन्हीं में अन्तर्विष्ट करके तीन ही गुणों की प्रतिष्ठापना की है ।

आचार्य दण्डी और उनकी गुण विवेचना

काव्य की विवेचना करते हुए आचार्य दण्डी ने सामान्यतया काव्य को शरीर और आत्मा से युक्त एक पुरुष माना है । जहां तक काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में दण्डी के दृष्टिकोण का प्रश्न है वह भावना से सम्बन्धित है । परन्तु जहां तक काव्य शरीर का प्रश्न है, उसके लिए दण्डी ने रीति को प्रमुख माना है । रीति के भेदों की गणना नहीं की जा सकती । "तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थित"। वामन के अनुसार रीति की विशेषता इसका गुण है । "विशिष्टा-पदरचना रीति: । विशेषो गुणात्मा"। वस्तुत: वामन का रीति विवेचन दण्डी के काव्यादर्श के प्रथम अध्याय से एक पग आगे है ।

दण्डी का गुण विवेचन आचार्य भरत से मिलता-जुलता है । भरत की भांति दण्डी ने भी दशगुणों को माना है । उन्होंने उन्हें रीति (मार्ग) का प्राण तत्व बताया है । आचार्य दण्डी के अनुसार ये गुण वैदर्भी रीति के प्राण-तत्व हैं । परन्तु इसके विपरीत गौडी रीति सामान्यत: इन गुणों से हीन होती है (एषां विपर्ययो प्राण: दृश्यते गौडवर्त्मनि) आचार्य दण्डी ने माधुर्य को एक प्रमुख गुण माना है । दण्डी ने दो प्रकार के रस माना है । एक माधुर्य और दूसरा श्रृङ्गारादि आठ रस । आचार्य दण्डी के अनुसार माधुर्य गुण अग्राम्यता का दूसरा नाम है । जिस गुण से वाक्य में माधुर्य का आप्यायन होता है, उसे माधुर्य गुण कहते हैं । वस्तुत: माधुर्य आचार्य दण्डी के द्वारा प्रोक्त दशगुणों में से एक गुण है । यह वैदर्भी का प्राणतत्व है । दण्डी के अनुसार यह माधुर्य

दो प्रकार का होता है—

(१) अग्राम्यता

(२) श्रुत्यनुप्रास

श्रुत्यनुप्रास विशुद्ध शब्द गुण है। अग्राम्यता अनुप्रास के दो पक्ष होते हैं— एक शब्द से सम्बन्धित होता है और दूसरा अर्थ से। जहां तक शब्द माधुर्य जो कि अनुप्रास से सम्बद्ध है, का प्रश्न है, वह वैदर्भी रीति में सीमित मात्रा में होता है। गौड़ी रीति में अनुप्रासों की भरमार दिखायी पड़ती है। दण्डी के कथन का तात्पर्य यह है कि माधुर्य वैदर्भी और गौड़ी दोनों रीतियों में किसी न किसी प्रकार विद्यमान रहता है। अग्राम्यता नामक गुण दोनों रीतियों में प्राप्त होता है। ग्राम्यता एक ऐसा दोष है जिसका परिहार दण्डी ने दोनों रीतियों में किया है। "एवमादि न शंसति मार्गयोरुभयोरपि"।

इसी प्रकार आचार्य दण्डी के मतानुसार अर्थव्यक्ति भी दोनों रीतियों का गुण है। वह नेयार्थ दोष का विपर्यय है। दण्डी ने उक्त दोष का दोनों रीतियों में परिहार किया है। "नेदृशं बहुमन्यते मार्गयोरुभयोरपि"। आचार्य दण्डी के अनुसार उदारता नामक गुण सभी रीतियों में उपस्थित रहना चाहिए। "तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः"। जहां तक समता का प्रश्न है, वह तीन प्रकार की होती है—

(१) मृदुबन्ध

(२) स्फुटबन्ध

(३) मध्यमबन्ध

मृदुबन्ध कमनीयता से परिपूर्ण होता है। स्फुटबन्ध में कठोरता होती है तथा मध्यमबन्ध में दोनों का सामंजस्य होता है[१]।

१- काव्यादर्श, १।४७-५० ।

इसी प्रकार ओजस् भी एक ऐसा गुण है जो वैदर्भी का प्राण है। परन्तु वस्तुत: ऐसी बात नहीं है। ओजोगुण प्रवाह से युक्त होता है। यह प्रवाह ही गौड़ी रीति का प्राण है। गुण के रूप में ओजस् को वैदर्भी का प्राण नहीं कहा जा सकता। वस्तुत: यह तो उनके मतानुसार गद्य का प्राण है। "ओज: समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"।

वैदर्भ लोग कविता में ओजोगुण का प्रयोग नहीं करते। परन्तु वैदर्भी रीति के गद्य में ओजोगुण का सामान्यत: प्रयोग होता है। परन्तु यह बात कोई विशेष स्पष्ट नहीं है क्योंकि दण्डी के अनुसार वैदर्भ लोग अनाकुल और हृद नामक ओज प्रयोग करते हैं[१]। इस प्रकार अनाकुल तथा हृद नामक ओजस् वैदर्भी के प्राण के प्रतिपादित किए गये हैं।

जहां तक समाधि गुण का प्रश्न है, वह केवल वैदर्भी की ही विशेषता नहीं है। इसका अपना कोई निश्चित विपर्यय नहीं है। गौड़ी रीति से इसकी अनुपस्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। यह बात दण्डी द्वारा स्वीकार नहीं की जा सकती। यह बात दण्डी ने स्वीकार की है। दण्डी ने यह माना है कि इन गुणों का विपर्यय प्राय: गौड़ी रीति में दृष्टिगोचर होता है। "एषां विपर्ययो प्राय: दृश्यते गौड़वर्त्मनि"। दण्डी के व्याख्याकारों ने 'प्राय:' शब्द की अधोलिखित व्याख्या की है। तरुणवाचस्पति (पृ० २८) ने लिखा है "प्राय: शब्द: अर्थव्यक्त्योदार्यसमाध्यादयो गुणा उभयसाधारणा इति दर्शयति"। हृदयंगमा के टीकाकार (पृ० २९) ने लिखा है "प्रायोग्रहणं साकल्यनिवृत्त्यर्थम्। तेन अर्थव्यक्त्यौदार्यं समाधि गुणा उभयमार्गतुल्या इति गम्यते"।

उदारगुण के द्वारा हम कवि के मनोभावों को जान सकते हैं— "श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते। यथा लीलाम्बुजक्रीडा सरोहेमाङ्गदादय:

१- अन्ये त्वनाकुलं हृद्यं इच्छन्त्योजो गिरां यथा, १।८३।

यहाँ पर उदार गुण धर और क्रीडादि विशेषणों में है। यह भामह और दण्डी जैसे आचार्यों के द्वारा दी गयी उदात्तालङ्कार की परिभाषा है। इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि दोनों आचार्यों के द्वारा दी गयी उदात्तालङ्कार की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। उक्त दोनों आचार्यों की परिभाषा 'रत्न' शब्द के इतस्तत: घूमती रहती है। वस्तुत: परवर्ती आलङ्कारिकों के द्वारा दी गयी उदात्त की परिभाषा ही इस स्थल पर मान्य है। 'उदात्तं ऋद्धिमद्वस्तुवर्णनम्'। द्वितीय प्रकार के उदात्तालङ्कार के उदाहरण में भामह ने क्रीडागृह और शशिकान्तोपल का उल्लेख किया है और दण्डी ने रत्नभित्ति का उल्लेख किया है। ये तथ्य द्वितीय प्रकार के उदारगुण में विद्यमान् रहते हैं। दण्डी ने इन्हें श्लाघ्य विशेषण की संज्ञा दी है। चौथे अध्याय के अन्त में भामह ने बिना नामोल्लेख किए इसी प्रकार की बात कही है और कहा है कि कुछ लेखकगण इस प्रकार के भावों की प्रशंसा करते हैं।

"अंशुमद्भि: मणिभि: फलनम्रैश्च शाखिभि: ।
फुल्लैश्च कुसुमैरन्यो वाचोऽलङ्कुरुते यथा ।।"

जहाँ तक दण्डी के उदारगुण का प्रश्न है, उन्होंने वही बातों का पिष्टपेषण किया है जो उन्होंने अपने उदात्तालङ्कार में कही है। दण्डी ने उदात्तालङ्कार का दो प्रकार से वर्णन किया है— 'आशयोत्कर्ष' तथा 'वस्तूत्कर्ष'[1]। इस प्रकार आचार्य दण्डी के उदारगुण तथा उदात्तालङ्कार में काफी सीमा तक समानता पायी जाती है।

दण्डी के अन्य गुण बन्ध गुण हैं। श्लेष एक ऐसा गुण है जिसका विपर्यय शैथिल्य दोष है। पूर्ण गुम्फित एवं लच्छेदार शैली श्लिष्ट शैली कहलाती है। जो शैली शिथिल होती है, उसमें शैथिल्य दोष होता है। गौड़ लोग इस दोष की चिन्ता नहीं करते क्योंकि उनके अनुप्रास के प्रति प्रेम के कारण यह दोष आ ही जाता है। यह स्पष्ट है कि दण्डी का श्लिष्ट गुण शब्द गुण है। दण्डी

१- काव्यादर्श, २।३००-३०३ ।

के अनुसार प्रसाद ऐसा गुण है जो आसानी से समझा जा सके— 'प्रतीति सुभग वचः'।

इसका विपर्यय अनतिरुढ़ है। समता परवर्ती लेखकों की भाषा में पायी जाती है। इसे आरब्ध रीति निर्वाह भी कहते हैं। समता तीन प्रकार की होती है— मृदु, स्फुट और मिश्र। यह स्पष्टतः एक शब्दगुण है। माधुर्य का विवेचन आगे किया जा चुका है। सुकुमारता कमनीय ध्वनि का गुण है। इसका विपर्यय निष्ठुरता है। आचार्य दण्डी के अनुसार ज्यादा कमनीयता का भी परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि इससे शैथिल्य दोष के आ जाने की संभावना रहती है—

'अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहोच्यते ।
बन्ध शैथिल्यदोषस्तु दर्शितः सर्वकोमले ॥'[1]

आचार्य दण्डी का यह सौकुमार्य शब्द सौकुमार्य है। दण्डी ने अर्थ सौकुमार्य का उदाहरण स्वभावोक्ति के उसी उदाहरण में दिया है, जिसे कि उन्होंने शब्द सौकुमार्य के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। आत्माभिव्यक्ति के अत्यन्त सुलझे हुए ढंग को अर्थसौकुमार्य कहते हैं। यह ढंग सर्वथा आडम्बरविहीन होता है। दण्डी ने इसे अनूर्जित अर्थ की संज्ञा दी है। उनके अनुसार अर्थ सौकुमार्य में वह लालित्य होता है जिसका विधान करने में तमाम अलङ्कार असमर्थ रहते हैं।[2]

इस अर्थ सौकुमार्य एवं शब्द सौकुमार्य का विपर्यय दीप्त है जो वस्तुतः दोष है। दीप्ति शब्द एवं अर्थ दोनों की होती है। दीप्त शब्द को आचार्य दण्डी ने कृच्छ्रोद्य कहा है अर्थात् जिसका उच्चारण कठिनाई से हो सके। इसके

१- काव्यादर्श, १।६९।

२- इत्यनूर्जित एवार्थो नालङ्कारोऽपि तादृशः।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः ॥— काव्यादर्श, ३।७१।

उदाहरण में दण्डी ने "न्यक्षेण क्षपित: पक्ष: क्षत्रियाणां क्षणादिति"। आदि पंक्तियाँ उद्धृत किया है। अर्थव्यक्ति का विपर्यय नेयार्थत्व है। अर्थव्यक्ति गुण का तात्पर्य शब्दन्याय से है। अर्थात् कवि को अपनी विचारधारा के व्यक्तीकरण हेतु यथासम्भव अनुकूल शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। इस गुण का विश्लेषण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस गुण का अन्तर्भाव प्रसाद गुण में हो सकता है।

दो प्रकार के उदार गुणों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दण्डी के द्वारा इन गुणों के किसी भी विपर्यय का उल्लेख नहीं किया गया है। सामान्यत: सीधे और रूखे व्यक्तीकरण को हम इसके विपर्यय की संज्ञा दे सकते हैं। ओजस् का भी हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। कान्ति का विपर्यय अत्युक्ति है। दण्डी के अनुसार कांति एक अर्थगुण है। समाधिगुण की चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है। समाधि भी एक अर्थगुण है।

गुणालङ्कारैक्य और उद्भट का अभिमत

आचार्य उद्भट द्वारा प्रणीत ग्रन्थ काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह में अलङ्कारों का विवेचन है और वह गुणों से हीन है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आचार्य उद्भट ने गुणों का विवेचन नहीं किया है। उन्होंने गुणों का विवेचन भामह विवरण में किया है जिसका उल्लेख सन्दर्भ के रूप में प्राप्य है। उनके विचार हमें ध्वन्यालोक के द्वितीय और तृतीय उद्योतों में प्राप्त होते हैं। हेमचन्द्र[1] ने अपने काव्यानुशासन तथा माणिक्यचन्द्र[2] ने अपनी काव्यप्रकाश की सङ्केत नाम की टीका

१- "इह तु उभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय तस्माद् गड्डलिका प्रवाहेण गुणालङ्कारभेद" इति भामह विवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्"।
— काव्यानुशासन, पृ० १७।

२- "शब्दार्थालङ्काराणां गुणवत्समवायेन स्थिति भामहवृत्तौ भट्टोद्भटेन भणनमसत्"।
— का० प्र० सङ्केतटीका, मैसूर एडीशन, पृ० २८६।

में इस बात का उल्लेख किया है कि आचार्य उद्भट ने 'भामह विवरण' में गुणों का विवेचन किया है। 'भामह विवरण' जोकि आचार्य उद्भट की भामह के काव्यालङ्कार पर प्रख्यात टीका है, वह सम्प्रति अप्राप्त है इसलिए उद्भट के विस्तृत गुण विवेचन को जानने में हम असमर्थ रह जाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि अगर उद्भट ने गुणों का विवेचन किया है तो किस रूप में? जैसा कि हमें ज्ञात है कि उद्भट ने काव्य के शोभाधायक किसी भी तत्व को वरीयता दी है, तो वह है— अलङ्कार। काव्यशास्त्र के समस्त पहलुओं पर उनके आलङ्कारिक व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आचार्य आनन्दवर्धन जैसा काव्यशास्त्र का मौलिक चिन्तक काव्य के वाच्यपक्ष के व्याख्यान के प्रति विमुख इसलिए है कि उसका तो आचार्य उद्भट ने अलङ्कारों के माध्यम से साकल्येन विवेचन कर ही दिया है। 'तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः बहुधा व्याकृतः सो न्यैस्ततो नेह प्रतन्यते।। अन्यैः काव्यलक्षणविविधायिभिः भट्टोद्भटप्रभृतिभिः'[1] अतः उनका गुण विवेचन भी इस तथ्य का अपवाद नहीं हो सकता। उन्होंने गुणों का विवेचन किया है तथा साथ ही साथ यह कहने से नहीं चूके हैं कि गुणों और अलंकारों में कोई भेद नहीं है। उनके अनुसार अलङ्कार काव्य के शोभाधायक तत्व हैं। यही बात उनके अनुसार गुणों के प्रसङ्ग में कही जा सकती है। तो फिर गुणों एवं अलंकारों में भेद क्या है? लोक में गुणों और अलंकारों की संयोग सम्बन्ध से स्थिति होती है परन्तु काव्यजगत में ऐसी बात नहीं है। काव्यजगत में तो दोनों की समवाय सम्बन्ध से स्थिति होती है। इसलिए भले ही लोक में शौर्यादि गुण और कटकादि आभूषणों में भेद है परन्तु काव्य के शोभाधायक धर्म होने के कारण तथा समवेत रूप में स्थित होने के कारण काव्यजगत में उनकी पृथक् सत्ता मानना गड्डलिका प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। अर्थात् भट्टोद्भटेन का कथन है कि— इह (काव्यजगति) तु उभयेषां

१- ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत्।

समवायेन स्थिति: "। इसी लिए आगे उन्होंने कहा— "तस्माद् गड्डरिका प्रवाहेण गुणालङ्कार भेद: "।

गड्डरिका प्रवाह की व्याख्या करते हुए विविध टीकाओं का गहन अध्ययन तथा यथावत् अनुशीलन करने वाले झलकीकर वामन ने लिखा है— "गड्डरिका-मेषी । कश्चिदेका केनचिद्धेतुना पुरो गच्छति, इतरास्तु विनैव निमित्त विचारं तामनुगच्छन्ति, अग्रिमाया: कूपादिपातेसति इतरा अपि कूपा दौ पतन्ति च तथा केनापि प्राक्तनेना लंकारिकेण गुणालंकारौ क्याचिद्भ्रान्त्या भिन्नत्वेनोक्तौ इतरे आधुनिकास्तु विनैव हेतु विचारं तदनुसारेण तद्भेदं वदन्ति तदसम्यग्वेदितव्यम्[1]"।

अर्थात् गड्डरिका भेंड़ को कहते हैं। जैसे कोई एक भेंड़ एक तरफ निकली तो उसी के पीछे-पीछे अनेक भेंड़े चल पड़ती हैं, ठीक उसी प्रकार किसी प्राचीन आलङ्कारिक ने अगर किसी भ्रान्ति से गुणों और अलङ्कारों में भेद बताया है तो अन्य आधुनिक लोग भी भेड़ों की तरह उनका अनुकरण करने लगे जोकि आचार्य उद्भट के अनुसार सर्वथा अनुपयुक्त है।

उपर्युक्त कारणों से यह तात्पर्य ध्वनित होता है कि उद्भट से पूर्व होता है कि उद्भट से पूर्व कुछ ऐसे आलंकारिक अवश्य थे जो गुणों और अलङ्कारों को अलग-अलग मानते थे। और उद्भट के समसामयिक भी कुछ ऐसे आलङ्कारिक थे जो इस बात को मानते थे। अब हमें इस बात पर ध्यान देना है कि उद्भट के पूर्व कौन-कौन आलङ्कारिक हो चुके हैं। भरत के बाद मुख्यरूप से भामह का नाम आता है। परन्तु भरत और भामह के बीच पाँच-छ: सौ वर्षों का अन्तर है। इतना लम्बा काल काव्यशास्त्रियों से शून्य नहीं हो सकता। इस बीच अनेक काव्य-शास्त्री हुए होंगे परन्तु दुर्भाग्य से किसी के बारे में पता नहीं चलता। इन्हीं के

१- काव्यप्रकाश झलकीकर वामन की टीका, पृ० ४७१।

बीच मेधाविन् या मेधाविरुद्र नामक आचार्य हो चुके हैं जिनका पता हमें भामह, नामिसाधु, रुद्रट तथा राजशेखर से चलता है[1]।

मेधाविन् के बाद भामह ही एक ऐसे आलङ्कारिक हैं जो प्रमुख हैं। भामह के बाद दण्डी आते हैं। दण्डी को भी उद्भट से पूर्ववर्ती माना गया है। उद्भट के समसामयिक आचार्य वामन थे। राजतरङ्गिणी में जहां उद्भट के सभापति होने की बात कही गयी है, वहीं वामन के मंत्री होने की बात कही गयी है[2]।

१- (१) त एव उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। — भामहकाव्यालङ्कार, २।४० ।

(२) अन्यच्च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणात् मेधावि प्रभृतिभिरुक्तं यथा लिङ्गवचनभेदौ हीनताधिक्य सम्भवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तायिमा दोषाः। — रुद्रट काव्यालङ्कार, ११।२४ (नामिसाधु की टीका)।

(३) यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलङ्कार द्वयं विदुः। संख्यानमितिमेधाविनोत्प्रेक्षा भिहिता क्वचित्।। — काव्यालङ्कार, २।८८ ।

(४) एतन्देव चत्वारः शब्दविधा इति येषां सम्यङ्मत तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्र प्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः।
— रुद्रट काव्यालङ्कार की टीका, २।२, पृ० ६ ।

(५) प्रत्यक्ष प्रतिभावतः पुनरपश्यतो ति प्रत्यक्षइव। यतो मेधाविरुद्र कुमारदासादयः जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते। — काव्यमीमांसा, पृ० ११-१२ ।

२- मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः।।

— राजतरङ्गिणी, ४।४९७ ।

रीतिवाद के प्रवर्तक वामन का भी अपना स्वच्छन्द व्यक्तित्व है। आचार्य उद्भट से वे किसी भी माने में कम नहीं हैं। उनके गुण विवेचन पर उनकी मौलिकता की स्पष्ट छाप विद्यमान् है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर हमें दोनों आचार्यों की विचार-धारा में थोड़ा सा अन्तर दिखायी पड़ता है। वामन के अनुसार काव्य की शोभा के हेतु गुण है और उसके सौन्दर्य को बढ़ाने वाले धर्म को अलङ्कार कहते हैं।

तत्र ओज: प्रसादादयोगुणा: यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा: इति स्थिति: काव्यविदां तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह - काव्यशोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा: शब्दार्थयो: धर्मा: काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणा:। ते च ओज: प्रसादादय: न यमकोपमादय:। कैवल्येतेषामकाव्य शोभाकरत्वमिति। तदतिशय हेतवस्त्वलङ्कारा:। तस्या: काव्यशोभाया: तस्य हेतव: तु शब्दो व्यतिरेके। अलङ्काराश्चयमकोपमादय:। पूर्वे नित्या। पूर्वे गुणा: नित्या: तैर्विना काव्यशोभाया: अनुपपत्ते:।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन का गुण विवेचन और अलङ्कारों का विवेचन उद्भट से एक पग आगे है। वामन के गुणों और अलङ्कारों में थोड़ा सा भेद है।[2] अर्थात् काव्यशोभा के उत्पादक धर्म गुण और उसमें अतिशयता की वृद्धि करने वाले अलङ्कार हैं। सम्भवत: वामन के इसी भेद विवेचन पर उद्भट ने 'गड्डलिका प्रवाह' कहकर खण्डन किया है। उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने वामन का ही समर्थन किया है। उनका कथन है— यद्येवमिदानीं गुणैरेव कृतकृत्यत्वात् काव्यस्य अलङ्काराणां तत्र निष्प्रयोगता प्राप्नोति। नैवम् + + + + + खलु निर्गुणे काव्य अलङ्काराणां शोभातिशयविधायित्वात्, लौकिकालङ्कारवत् + + + न खलु निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानामलङ्काराणां जरद्योषित् अलङ्कारवत् शोभाविधायित्वं दृश्यते + + + तथा काव्यालङ्काराणामपि निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्यशोभा हेतुत्वाभाव: स्वशोभा हानिश्च भवति। यदोवाच भट्टवामन: युवतेरिव.....सदलङ्कार विकल्पनाभि:।। यदि भवतिवपुश्च्युतं गुणेभ्य: ++ +

1- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तानि, 3।
2- कुसुमप्रतिभा, पृ० 66-67।

दुर्भगत्वं निपतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ।। + + + अतएवालङ्काराणामनित्यता । गुणरहितं हि काव्यं अकाव्यमेव भवति न त्वलङ्काररहितं । अलङ्काराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभातिशय विधायित्वात्¹।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन द्वारा प्रतिपादित इस गुण विवेचन में उद्भट से थोड़ा सा भेद है। सम्भवत: इस भेद को परवाह न करते हुए प्रतिहारेन्दुराज ने वामन का समर्थन किया हो। भोज भी इसी विचारधारा के अनुगामी हैं। प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार गुणों के बिना अलङ्कारों की आन्तरिक शोभा विकृत हो जाती है। अब प्रश्न है कि उद्भट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने गुणों और अलङ्कारों के विषय में क्या विचारधारा व्यक्त की है? उद्भट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों में भामह और दण्डी आते हैं। मेधाविन की किसी भी कृति का आजतक कोई उल्लेख नहीं है।

आचार्य दण्डी ने इस बात को स्वीकार किया है कि प्राचीनकाल के विद्वानों ने शब्दार्थ से संयुक्त काव्य तथा अलङ्कारों का वर्णन किया है²। और अलङ्कारों के वर्णन का उनका यह प्रयास पूर्वानुकृति मात्र है। इससे यह सूचित होता है कि अवश्य ही आचार्य दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य गुणों और अलङ्कारों में भेद मानते थे। क्योंकि दण्डी ने ऐसा ही किया है। दण्डी के अनुसार काव्य के शोभाधायक धर्मों को अलङ्कार कहते हैं—

'काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते ।
ते चाद्यापिविकल्पन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति।।— २।१ ।

इस कारिका की व्याख्या में नृसिंहदेव शास्त्री ने लिखा है— 'यथा कटककुण्डलादय:

१- प्रतिहारेन्दुराज, पृ० ८१-८२ ।

२- तै: शरीरञ्च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिता: ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।।— काव्यादर्श, १।१० ।

कान्ताशरीरमतिशोभयन्ति तथैव शब्दार्थरूपस्य काव्यवपुष: श्लेषादि गुणकृतवैचित्र्यं दोषयन्तो नु प्रसासोपमाद्यलङ्कार पदाभिधं भजन्ते । इत्थं च पूर्वोक्ताश्लेषाद्या गुणा: काव्यस्यान्त: शोभाधायका: अलङ्कारास्तु वाह्यशोभा धायका: इति गुणालङ्कारणोर्विवेक इति उक्तं भवति"[1]।

जहां तक भामह का प्रश्न है, आचार्य दण्डी की तरह उन्होंने गुणों और अलङ्कारों के भेद का स्पष्ट निरूपण नहीं किया है। परन्तु श्री शङ्करराम शास्त्री के मतानुसार ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने भी गुणों तथा अलङ्कारों में भेद माना है[2]। भामह का कथन है—

"तदेतादाहु सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी ।
शब्दाभिधेयालङ्कार भेदादिष्टा द्वयं तु न:।।"[3]

आचार्य भामह ने माधुर्य, ओजस् और प्रसाद तीनों गुणों का वर्णन किया है, मगर उन्होंने कहीं भी गुणों को अलङ्कार नहीं कहा है। उनके ग्रन्थ में कहीं भी इसका उल्लेख नहीं है। उन्होंने दोषों का विवेचन प्रथम अध्याय के अन्त में और चतुर्थ तथा पंचम अध्याय में किया है। उनके अनुसार कभी-कभी कोई दोष समाप्त हो जाता है और वह शोभाध्यापक बन जाता है (शोभांधत्ते) गुण का उन्होंने केवल एक स्थल पर प्रयोग किया है— "भाविकत्व मिति प्राहु: प्रबन्धविषयं गुणम्"।

१- काव्यादर्श कुसुमप्रतिभा टीका, पृ० ७१ ।

२- "In the second half of the verse Bhamah cares both for the adornment of words and adornment of meaning.

-Kavyalankar: Shankar Ram Shastri, p. 3.

३- काव्यालङ्कार, पृ० ३ ।

आचार्य उद्भट के इस गुणालङ्कारैक्य को परवर्ती अनेक आचार्यों ने आलोचना की है। सर्वप्रथम हम आचार्य हेमचन्द्र की आलोचना पर दृष्टिपात करेंगे। उनका कथन है कि काव्य में अलङ्कार संयोग सम्बन्ध से रहते हैं और गुण समवाय सम्बन्ध से। अत: उद्भट का यह कथन कि दोनों समवाय सम्बन्ध से रहते हैं, निरस्त हो जाता है। हेमचन्द्र के अनुसार गुणबहुल काव्य का रसास्वादन अनलङ्कृत होने पर भी किया जा सकता है। अलङ्कारों के होने या न होने पर इस प्रक्रिया में कोई व्याघात नहीं उत्पन्न होता। हेमचन्द्र ने काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट का समर्थन करते हुए कहा है कि गुण काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं अत: काव्य में वे समवाय रूप से स्थित रहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—

'ये त्वङ्गिनि रसे भवन्ति ते गुणा:। एष एव गुणालङ्कारविवेक:। एतावता शौर्यादि सदृशा गुणा: केयूरादितुल्या अलङ्कारा इति विवेकमुक्त्वा संयोग समवायाभ्यां शौर्यादीनामस्ति भेद:। इह तु उभयेषां समवायेन स्थितिरित्यभिधाय तस्माद् गड्डरिका प्रवाहेण गुणालङ्कारभेद इति भामहविवरणे यद् महोद्भटो भ्यधात् तन्निरस्तम्। तथाहि- कवितार: सन्दर्भेषु अलङ्कारान् व्यवस्यन्ति न्यस्यन्ति च न गुणान्। न चालङ्कृतीनां अपोद्धाराहाराभ्यां वाक्यं दुष्यति पुष्यति वा'।[1]

अर्थात् आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार काव्य में सन्दर्भानुसार अलङ्कार रखे जा सकते हैं तथा हटाये जा सकते हैं। अलङ्कारों के रखने या न रखने से वाक्य न तो दूषित होता है और न ही पुष्ट होता है। इस स्थल पर हम काव्यानुशासन में ही उद्धृत कतिपय उदाहरणों को दे देना उचित समझते हैं—

'अलङ्कृत जटाचक्रं चारुचन्द्र मरीचिभि:।
मृडानीदत्तदेहार्धं नमामि परमेश्वरम् ।।'

यहां 'चारुचन्द्रमरीचिभि:' के स्थान पर 'तरुणेन्दुमरीचिभि:' रख देने से किसी

१- काव्यानुशासन सम्पादित रसिकलाल सी० पारिख, पृ० ३४-३५।

प्रकार का दोष नहीं होता । इसी प्रकार—

'श्यामं स्मितासितसरोजदृशं करोग्रैरिन्दो
विभूषयति बालमृणाल कल्पैः ।
आरेभिरे रचयितुं प्रतिकर्म नार्थः,
कार्याणि नाम तदृशो वसरे त्यजन्ति ।।'

यहां पर 'बालमृणाल कल्पैः' के स्थान पर 'केलिवकोरलेह्यैः' कर देने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं होता ।

इसके बाद हम आचार्य मम्मट की आलोचना पर दृष्टिपात करेंगे । आचार्य मम्मट ने उद्भट के इस अभेदवाद को नहीं माना है । उन्होंने वामन के भेदवाद का भी खण्डन किया है । उनके अनुसार गुण रस के अङ्गी धर्म हैं जैसे शौर्यादि आत्मा के अङ्गी हैं। वे रस के उत्कर्षाधापक और अपरिहार्य धर्म हैं—

'ये रसस्याङ्गिनोधर्मा शौर्यादयइवात्मनः ।
उत्कर्ष हेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।'

अलङ्कारों के सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का कथन है कि जो काव्य में विद्यमान उस अङ्गी रस को शब्द तथा अर्थरूप अङ्गों के द्वारा कभी-कभी उपकृत किया करते हैं, वे अनुप्रास और उपमादि हारादि के समान अलङ्कार होते हैं—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये ङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्ते नुप्रासोपमादयः ।।'

आचार्य मम्मट के अनुसार जहां पर रस का अभाव होता है वहां पर ये अलङ्कार उक्तिवैचित्र्य मात्र ही हुआ करते हैं । कहीं-कहीं तो ये अलङ्कार होते हुए भी रस के उत्कर्षाधापक उसी तरह नहीं होते जैसे अलौकिक सौन्दर्य से युक्त किसी नायिका के शरीर में धारण कराये गये ग्रामीण अलङ्कार ।

अलङ्कारों की उपर्युक्त तीनों स्थितियों के उदाहरण आचार्य मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में दिया है। इन उदाहरणों को प्रस्तुत स्थल पर दे देना असमीचीन होगा। जैसे—

"अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।"

अर्थात् हे सखि, कर्पूर हटा दो। हारों को दूर फेंक दो। अब इन कमलों से क्या फायदा। मृणालों को भी रहने दे। इस प्रकार रात-दिन वह बाला कहती है।

"मनोरागस्तीव्रं विषमिव विसर्पत्यविरतम्
प्रमाथी निर्धूमं ज्वलति विधुतः पावक इव।
हिनस्ति प्रत्यङ्गं ज्वर इव गरीयानित इतो
न मां त्रातुं तातो प्रभवति न चाम्बा न भवती।"

अर्थात् हे सखि मेरा अनुराग तीव्र विष के समान निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। अत्यन्त सन्तापकारक मेरा यह अनुराग हवा किए हुए अग्नि के समान बिना धूम के जल रहा है तथा तीव्र ज्वर के समान समस्त अङ्गों को पीड़ित कर रहा है। अब मुझे बचाने में न तो पिताजी, न अम्बा और न आप ही समर्थ हैं।

उपर्युक्त इन दोनों उदाहरणों में अलङ्कार अङ्गी रस के उत्कर्षाधायक हैं। पहले उदाहरण में अनुप्रासरूप शब्दालङ्कार विप्रलम्भ श्रृङ्गार के उत्कर्ष में योगदान करता हुआ दिखाई पड़ता है। और दूसरे उदाहरण में अनुप्रासरूप शब्दालङ्कार तथा मालोपमारूप अर्थालङ्कार दोनों अलङ्कार रस के उत्कर्षाधायक बन रहे हैं।

आचार्य मम्मट ने चित्रकाव्य के उदाहरण में इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है कि रसविहीन काव्य में ये अलङ्कार उसी प्रकार उक्तिवैचित्र्य मात्र लगा करते हैं जैसे किसी कुरूप रमणी के शरीर पर अलङ्कार शोभाधायक न होकर वाकचिक्य मात्र होते हैं।

कहीं-कहीं तो अलङ्कार होते हुए भी रस के उत्कर्षाधायक नहीं होते, जैसे—

"चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दन्मुहेसु ।
बोलम्हि वट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे झाणे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्ठी ।।"

अर्थात् वह प्रगल्भा तरुणी चित्त में बैठी हुई है। मुझे कभी वह शय्या पर लोटती हुई दिखायी देती है और कभी वह सब दिशाओं में दिखायी देती है। कभी बात करती है और कभी काव्य रचना में प्रवृत्त होती है और कभी बहुत देर तक ध्यान से बाहर नहीं जाती ।

"मित्रे क्वापिगते सरोरुहवने बद्धानने ताम्यति
क्रन्दत्सु भ्रमरेषु वीक्ष्य दयितासन्नं पुरः सारसम् ।
चक्राह्वेन वियोगिना बिसलता नास्वादिता नोज्झिता
कण्ठे केवलमर्गलेव निहिता जीवस्य निर्गच्छतः ।।"

अर्थात् सूर्य के कहां चले जाने पर कमलों के वन के मुख बन्द कर लेने पर सन्तप्त भ्रमरों के रोने और सामने अपनी प्रियतमा के पास खड़े हुए सारस को देखकर, वियोगी चक्रवाक् ने मुख में पकड़ी हुई बिसलता न तो खायी और न छोड़ ही दी । किन्तु वियोग दुःख के कारण शरीर को छोड़कर निकलते हुए जीव को रोकने के लिए कण्ठरूपी द्वार में अर्गला के समान लगा दी ।

यहां इन दोनों उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में टकार की आवृत्ति होने से अनुप्रासालङ्कार होने पर भी विप्रलम्भ शृङ्गार का उत्कर्षाधायक नहीं बन रहा है। प्रत्युत् अपकर्षक ही है। द्वितीय उदाहरण में उपमालङ्कार केवल अर्थ को ही पुष्ट करता है। रस को नहीं क्योंकि यहां बिसलता को प्राणों को रोकने के लिए प्रयोग करना उचित नहीं है। इसलिए यहां जो उपमा है, वह प्रकृत के अनुरूप है।

अत: यहाँ पर वर्तमान श्रृङ्गार रस की उपकारक नहीं है[1]। इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार गुणों और अलङ्कारों में भेद है[2]। उन्होंने इस प्रकार उद्भट के अभेदवाद का खण्डन किया है जो काव्यप्रकाश का अनुशीलन करने से स्वत: स्पष्ट हो जाता है। काव्यप्रकाश की सङ्केत टीका के लेखक ने उन्हीं उदाहरणों को दिया है जिन्हें कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में दिया था[3]।

इसके पश्चात् आचार्य आनन्दवर्धन की आलोचना पर दृष्टिपात करेंगे। वे प्रसिद्ध ध्वनिवादी आचार्य मम्मट के भी मार्गदर्शक थे। आनन्दवर्धन के अनुसार भी गुण काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं। अलङ्कारों की स्थिति काव्य में कटककुण्डलादि के समान होती है। वे संयोग सम्बन्ध से रहते हैं। परन्तु गुण काव्य की आत्मा रस के साथ समवाय सम्बन्ध से स्थित रहते हैं। काव्य की आत्मा रस के अभाव में अलङ्कारों का प्रयोग ठीक उसी प्रकार होगा जैसे मृत शरीर में कटकादि आभूषण। उसे केवल वाच्यवाचक औचित्य मात्र कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि अलङ्कार अङ्गाश्रित होते हैं और गुण अङ्गी (प्रधान अथवा रस) के आश्रित होते हैं। सोमेश्वर

१- इत्यादौ वाच्यमेव, न तु रसम्। अत्र विसलता न जीवं रोद्धं क्षमेति प्रकृतानुगोपमा। — काव्यप्रकाश अष्टमोल्लास, पृ० ३८४।

२- एष एव गुणालङ्कार प्रविभाग:। एवं च समवायवृत्त्या शौर्यादय: संयोगवृत्त्या तु हारादय: इत्यस्तु गुणालङ्कारभेद:, ओज: प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डरिका प्रवाहेणैवेषां भेद: इत्यभिधानमसत्"।
— काव्यप्रकाश,अष्टमोल्लास, पृ० ३८४।

३- एष एवेति, योऽस्माभिरुक्त:। एतेन शौर्यादिसदृशा गुणा: केयूरादितुल्या अलङ्कारा इति। अलङ्कारा अपि गुणवत्समवेता एवेति केचित्, तन्नेत्याह अनुप्रासेति। "उभयेषां समवायेन स्थिति:" इत्यभिधाय, तस्माद् गड्डरिका प्रवाहेण गुणालङ्कार भेद: इति भामहविवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तद् असत् तथा हि- "कवितार: + + + + तत्र शब्दालङ्कारायोदिरणं यथा— अलङ्कृत जयचक्र + + + + ।" — पृ० २०१-२०२।

ने काव्यप्रकाश की सङ्केत[1] नामक टीका में आनन्दवर्धन की विचारधारा को उद्धृत किया है। आनन्दवर्धन ने लिखा है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥[2]

अलङ्कारसर्वस्वकार में उद्भट के गुणालङ्कारैक्य का उल्लेख किया है। उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशो साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेद प्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः। तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।[3]

तात्पर्य यह है कि उद्भटादियों ने गुणों और अलङ्कारों में प्रायः साम्य ही बताया है क्योंकि अलङ्कार और गुण में भेद का प्रतिपादन केवल विषय को लेकर किया है अर्थात् संघटना धर्म के गुण हैं और अलङ्कार शब्द और अर्थ के धर्म हैं। इस प्रकार शब्द और अर्थ का धर्म होने से अलङ्कार ही काव्य में प्रधान है। प्रधान के समक्ष अप्रधान की सत्ता विलीन हो जाती है। और वह भी उसी के साथ उसी के कार्यों में सहयोग देने लगता है। सञ्जीवनी के टीकाकार का अभिमत है कि रुय्यक ने उद्भट के गुणालङ्कारैक्य के कारणों का उपहास किया है। रुय्यक के अनुसार उद्भट ने जो यह कारण बताया है कि गुण और अलङ्कार में अभेद सिर्फ इस कारण है कि सिर्फ विषयमात्र से ही दोनों में भेद है (जिसे उद्भट के अनुसार भेद नहीं माना जा सकता) ठीक नहीं है। सञ्जीवनीकार ने कहा है—मात्र ग्रहणेन स्वरूपभेदाभावः कटाक्ष्यते।[4]

१- काव्यप्रकाशसङ्केत टीका, पृ० १६७।

२- ध्वन्यालोक, २।२६।

३- अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ६।

४- अलङ्कारसर्वस्वसञ्जीवनी टीका, पृ० ८।

इसी प्रसङ्ग में विद्यानाथ द्वारा प्रतिपादित गुणालङ्कार वैधर्म्य का उल्लेख कर देना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। उनके अनुसार माना कि दोनों गुण और अलङ्कार काव्य में चारुत्व हेतु हैं तथापि आश्रयभेद के कारण दोनों में भेद माना जा सकता है। जबकि उद्भट के अनुसार यह भेद नहीं है। अर्थात् विद्यानाथ ने जिस आश्रयभेद का प्रतिपादन किया है, वह वास्तव में ठीक नहीं है। और वह प्रतिपादन वास्तव में उतना वैज्ञानिक नहीं है जितना मम्मट, आनन्दवर्धन और हेमचन्द्र का है। उन्होंने गुणों को संघटनाश्रित और अलङ्कारों को शब्दार्थाश्रित बताया है। उनके अनुसार—

"आश्रयाश्रयिभावेनालङ्कार्यालङ्कारभावो लोकवत् काव्ये पि सम्मता। चारुत्वहेतुत्वे पि गुणानामलङ्काराणां चाश्रयभेदाद्भेदव्यपदेशः। संघटनाश्रया गुणाः शब्दार्थाश्रयास्त्वलङ्काराः"[1]।

प्रश्न यह है कि जब सभी आचार्यों ने गुणों और अलङ्कारों में भेद माना है तो उद्भट की यह अभेद दृष्टि क्यों? यह प्रश्न वस्तुतः महत्वपूर्ण है। इस प्रश्न का उत्तर मेरी दृष्टि में सम्भवतः यही हो सकता है कि उद्भट की इस अभेद दृष्टि के पीछे सम्भवतः उनका अहंभाव तथा आचार्यत्व प्रदर्शन की भावना ही है। उद्भट के पूर्ववर्ती दण्डी तथा उनके समसामयिक आचार्य वामन ने काव्य शोभा को उत्पन्न करने वाले धर्मों को क्रमशः गुण और अलङ्कार माना है। काव्य सौन्दर्य के अर्थ में दण्डी ने काव्यशोभा शब्द का प्रयोग किया है। उन्होंने कहा है—"काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते"[2]। आचार्य वामन ने कहा है—"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः"[3]। वामन ने इसी दृष्टि से गुणों और अलङ्कारों में थोड़ा भेद माना है कि अलङ्कार काव्यशोभा के अतिशायक हैं। वामन की यह विचारधारा सम्भवतः उद्भट को अच्छी न लगी हो और चूंकि दण्डी ने अलङ्कारों को भी काव्य-

---

१- प्रतापरुद्रीययशोभूषणा, पृ० ३३७।

२- काव्यादर्श, २।१।

३- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३।

शोभा का उत्पादक माना है, इसीलिए हो सकता है कि उद्भट ने अपने अहंभाव की तुष्टि के लिए यह कह दिया हो कि जब काव्य के शोभाकर धर्म गुण और अलङ्कार दोनों हैं तो दोनों में अन्तर ही क्या है? यह गड्डरिका प्रवाह सम्भवत: वामन तथा दण्डी के ऊपर आक्षेप था। वस्तुत: इस गुणालङ्कारैक्य में इस अहंभाव के अतिरिक्त कोई वैज्ञानिकता नहीं दृष्टिगोचर होती।

वामन का गुण विवेचन और उद्भट से तुलना

इसी अध्याय में हम आचार्य वामन द्वारा प्रतिपादित गुणों पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे तथा आचार्य उद्भट से उनकी तुलना भी करेंगे। संस्कृत काव्यशास्त्र में वामन ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम गुणों को दो भागों में बांटा है— शब्दगुण और अर्थगुण। वामन ने वस्तुत: भरत और दण्डी के उन्हीं गुणों का विवेचन किया है परन्तु इन्होंने उन्हें अपने सांचे में ढाल लिया है। वामन ने शब्दगुणों को बन्धगुण की संज्ञा दी है। सर्वप्रथम हम उनके शब्दगुणों पर दृष्टिपात करेंगे। वामन ने अनेक गुणों के स्वरूप में यथासम्भव परिवर्तन कर दिया है।

वामन ने ओजस् को गाढ़बन्ध कहा है। उनके अनुसार शैथिल्य ही प्रसाद है। शैथिल्य को काव्यशास्त्रियों ने दोष की संज्ञा दी है। परन्तु ओजस् के साथ संप्लुत होने के कारण इसे प्रसाद गुण कहा जा सकता है।

'नन्वयमोजोविपर्ययात्मा दोष:। तत्कथं गुण इत्याह-गुण: संप्लवात्। गुण: प्रसाद: ओजसा सह संप्लवात्। शुद्धस्तु दोष एवेति। ननु विरुद्धयोरोज: प्रसादयो: कथं संप्लव इत्याह सत्वनुभवसिद्ध:। स तु संप्लवस्तु अनुभवसिद्ध: तद्विदां रत्नादिविशेषवत्। अत्र श्लोक: —

> करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लव: सुखदु:खयो:।
> यथानुभवत: सिद्ध: तथैवौज: प्रसादयो:।'[1]

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३।१।

प्रसादगुण के सम्बन्ध में उक्त विचारधारा का खण्डन अनेक आचार्यों ने किया है[१]। श्लेष को उन्होंने मसृणत्व कहा है। समता को मार्गाभेद और समाधि को आरोहावरोह कहा है। कतिपय आलोचकों ने आरोहावरोह को ओजस् और प्रसाद से भिन्न नहीं माना है। वामन ने इन आलोचकों की विचारधारा का दो प्रकार से खण्डन किया है। पहली बात तो यह है कि आरोहावरोह अलग-अलग रहते हैं जबकि ओज और प्रसाद एक साथ रहते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि ओजस् में आरोह होता है और प्रसाद में अवरोह होता है। आचार्य वामन ने समाधि को तीव्रता की संज्ञा दी है। यही तीव्रता आरोहावरोह है। माधुर्य को वामन ने समासविहीन माना है। उसे पृथक्पदत्व की संज्ञा दी है। 'समासदैर्घ्यनिवृत्तिरयं चैतत्'। उन्होंने सौकुमार्य को अजरत्व की संज्ञा दी है तथा उदार को विकटत्व की संज्ञा दी है। कान्ति वह गुण है जिससे काव्य में एक विशिष्ट प्रकार की भव्यता आ जाती है। वस्तुत: आचार्य वामन की कान्ति और अजरठत्व की विचारधारा बड़ी ही कवित्वपूर्ण है जिसका मधुर अनुभव एक सहृदय को ही होता है[२]। कान्ति का वर्णन आचार्य वामन ने औज्ज्वल्य के रूप में किया है। कान्ति एक महत्वपूर्ण गुण है। बिना कान्ति के कवि की वाणी उसी प्रकार सुशोभित नहीं होती, जिस प्रकार पुराने चित्र की शोभा विनष्ट हो जाती है।

'औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहु: गुणं गुणविशारदा: ।
पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध्यं कवेर्वच: ।।'

१- काव्यानुशासनव्याख्या, पृ० १९६ ।

2. "Vaman is a poet and connoissur of painting. He infuses poetry into his conception of Gunas. He speaks of Ajarathatva which surely is an imagination a Sahrdaya feels. The dance of words, the brilliance of words, the rise and fall of verse, these are very poetic conception of Gunas".

— Sringar Prakash, p. 296.

यह तो रहा वामन का शब्दगुण विवेचन । अब हम उनके अर्थगुणों के विवेचन पर भी दृष्टिपात करेंगे । वामन ने उन्हीं शब्दगुणों को अर्थगुणों के रूप में लिया है । उन्होंने ओजस् को अर्थप्रौढ़ि कहा है । इस प्रौढ़ि को उन्होंने पांच भागों में विभक्त किया है । 'पदार्थे वाक्य वचनम्, वाक्यार्थे च पदाभिधा । व्यास, समास साभिप्रायत्व + + + '। हेमचन्द्र ने वामन की इस प्रवृत्ति की प्रखर आलोचना की है[1]। इति या प्रौढि ओज: तद्वैचित्र्यमात्रम् (पृ० १६५) प्रसाद को उन्होंने अर्थ वैमल्य का संज्ञा दी है । अर्थव्यक्ति को वामन ने शब्द और अर्थ दोनों गुणों में रखा है । उनका प्रसादगुण भरत को समता से कुछ मिलता-जुलता है । उनके अनुसार समीचीन शब्दों का प्रयोग ही प्रसादगुण है । कतिपय अन्य विद्वानों के मतानुसार सुन्दर शब्दों का प्रयोग ही प्रासादिकता है । परन्तु यदिवह प्रयोग अर्थ के अनुकूल नहीं है तो वह प्रयोग व्यर्थ है ।

अर्थश्लेष का नामकरण वामन ने घटना के रूप में किया है । घटना को उन्होंने चार भागों में विभक्त किया है । क्रम, कौटिल्य, अनुल्बणत्व और उपपत्तियोग । ये अर्थगुण एक दूसरे से किस प्रकार सम्बन्धित हैं और कैसे इन्हें घटना कहा जा सकता है, वामन ने इसके लिए अमरुशतक से उदाहरण दिया है । अर्थ समता उनके अनुसार प्रक्रमभङ्ग दोष का निराकरण ही है । समाधि को अर्थ दृष्टि या अर्थ दर्शन कहा गया है । इस गुण को समाधि इसलिए कहा गया है कि एक अवहितचित्त वाला व्यक्ति ही इसे समझ सकता है— 'समाधिकारणत्वात् समाधि: । अवहितं हि चित्तं अर्थान् पश्यतीति उक्तं पुरस्तात् '।

माधुर्य को आचार्य वामन ने उक्तिवैचित्र्य की संज्ञा दी है । सौकुमार्य को उन्होंने अपारुष्य कहा है । सौकुमार्य वह अर्थगुण है जिससे भावों का व्यक्तीकरण सुचारु रूप से हो सके । वामन का उदारता नामक अर्थगुण दण्डी का अग्राम्यता है— 'अग्राम्यत्वमुदारता' ।

१- काव्यानुशासन, १६५ ।

आचार्य वामन का कान्तिगुण एक ऐसा गुण है जहां उन्होंने रस का उल्लेख किया है। कान्ति नामक शब्दगुण से काव्य में प्रयुक्त शब्दों में एक औपचारिक चाकचिक्य आ जाता है। परन्तु कान्ति का वास्तविक स्वरूप तो रस है जो काव्य को जीवन प्रदान करता है। यही कान्तिनामक अर्थगुण है। यहां हमें एक बात पर ध्यान देना है कि यदि भामह, उद्भट और दण्डी प्रभृति प्राचीन आचार्यों ने रस का विवेचन एक रसवदलङ्कार के रूप में किया है तो वामन ने गुण के रूप में। इस बात का उल्लेख विस्तृत रूप से आगे के अध्यायों में किया जायेगा। अस्तु, वामन का यह मत है कि काव्य की सर्वोत्तम रीति वही है जिसमें ये समस्त गुण विद्यमान् हों। उनके अनुसार वैदर्भी रीति में उपर्युक्त समस्त गुण विद्यमान रहते हैं— "समग्र गुणोपेता वैदर्भी"।

"अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥"

आचार्य वामन के गुण विवेचन पर एक विहंगम दृष्टि डालने के पश्चात् हम उपलब्ध सामग्री के आधार पर गुणों के प्रति आचार्य उद्भट और वामन के दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे। जैसा कि हमें विदित है कि दोनों समसामयिक आचार्य थे, अस्तु दोनों एक दूसरे से प्रभावित हुए हैं। परन्तु दोनों ने अपनी-अपनी मौलिकता की स्थापना करने की चेष्टा की है।

जहां तक गुणों और रीतियों के सम्बन्ध का प्रश्न है, यदि एक ओर उद्भट ने गुणों को रीतियों पर आश्रित बताया था[१]। "संघटनाधर्मा गुणाः इति भट्टोद्भटादयः"। दण्डी ने गुणों को रीति का मूल तत्व माना है। वामन ने इस सम्बन्ध को और भी दृढ़ करते हुए लिखा है— "विशिष्टा पदरचना रीतिः। विशेषो गुणात्मा"। अर्थात् रीति का वैशिष्ट्य गुणात्मक है। वामन ने रीति

१- ध्वन्यालोक व्याख्याता आचार्य जगन्नाथ पाठक, पृ० २३७-३८।

को काव्य की आत्मा माना है। "परन्तु वामनादीनामयमभिप्राय: । "रीतिरात्मा काव्यस्य" इति । सा च पदरचनारूपा । पदरचना च बन्ध: एव ओज: प्रभृतयो बन्धगुणा वस्तुतो रीतिधर्मत्वेपि गुणानामात्मलाभस्य शब्दार्थाधीनत्वात् तस्य निरूप्यत्वाच्च शब्दार्थधर्मत्वमुपचारादियुक्तं भवति । अतएव (गुणानां मुख्यतया तद्धर्मत्वादेव) सूत्रे "बन्धगुणा:" इत्युक्तम् । ननु ते साक्षात्सम्बन्धेन शब्दार्थगता इति एवञ्च सति उपक्रमोपसंहारादिलिङ्गैर्वामनाचार्य तात्पर्य पर्यालोचनया आत्मभूताया रीतिरेव शौर्यादिवद्गुणा: तच्छरीरभूत शब्दार्थनिष्ठा पुनरलङ्कारा इति निश्चीयते ।

एतेन गुणत्वादोज: प्रभृतीनामात्मनि (रीतौ) समवायवृत्त्या स्थिति: अलङ्कारात्वाद् यमकोपमादीनां तु शरीरे (शब्दार्थ युगले) संयोगवृत्त्या स्थितिरिति ग्रन्थकारस्य (वामनस्यतदनुयाभिवर्गस्य) अभिमतम् इति मन्यामहे । केचनुन्त: अलङ्काराणां शरीरभूते शब्दार्थयुगले स्थितिरिति मन्यते । एवञ्च गुणालङ्काराणामुभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरित्यभिमन्यमानै: भेदाभिधानं गड्डरिका प्रवाह नयेन इत्याद्युक्तं निरस्तं वेदितव्यम् । एतच्च "विशिष्टा पदरचना रीति:" "विशेषो गुणात्मा" "पूर्वे नित्या" इत्यादि सूत्राणामर्थतत्त्वपर्यालोचनतया गुणानां नित्यत्वमलङ्काराणान्त्वनित्यत्वमित्यवगतं भवति । नित्यानामेव काव्यव्यवहार प्रयोजकत्वं च सिद्धं भवति"[१]।

निष्कर्ष यह है कि वामन ने रीति और गुण को अभिन्नमाना था । और उद्भट ने संघटनाश्रित । जैसा कि हम आगे कह चुके हैं कि आचार्य उद्भट ने रस का विवेचन रसवदलङ्कार के रूप में किया था परन्तु वामन ने रस का विवेचन गुण के रूप में किया है। उनके अनुसार कान्ति नामक अर्थगुण का वास्तविक स्वरूप रस ही है। यही काव्य को जीवन प्रदान करता है। आचार्य वामन ने कान्ति नामक अर्थगुण की परिभाषा देते हुए कहा है— "दीप्त रसत्वं कान्ति:(३।२।१५)"।

१- काव्यादर्श कुसुमप्रतिभा: नृसिंहदेव शास्त्री, पृ० ६६-६७ ।

दीप्ता रसा शृङ्गारादय: यस्य स दीप्तरसा । तस्य भावो दीप्तरसत्वं कान्ति: यथा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृत: सशपथं पादानत: कान्तया द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मना: । तावत्प्रत्युतपाणि संपुटगलन्नीवी नितम्बं धृता धावित्वैव कृत प्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गति: ।। एवं रसान्तरेष्वपि उदाहार्यम् ।[1]

अर्थात् आचार्य वामन के अनुसार दीप्त रसत्व ही कान्ति है । कथन का तात्पर्य यह है कि जिस रचना के शृङ्गारादि रस दीप्त हों उसे दीप्तरस रचना कहते हैं । इसके उदाहरण के लिए वामन ने अमरुशतक का उपर्युक्त पद्य उद्धृत किया है । इस पद्य में विप्रलम्भशृङ्गार है । इसी प्रकार अन्य रसों में भी दीप्त रसत्व का उदाहरण समझना चाहिए ।

परन्तु सबसे उल्लेखनीय विषय गुणों और अलङ्कारों का सम्बन्ध है । गुणों और अलङ्कारों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दोनों आचार्यों में मतभेद है । आचार्य उद्भट ने गुणों और अलङ्कारों में कोई भेद नहीं माना है । उनके अनुसार गुणों और अलङ्कारों में भेद मानना गड्डरिका प्रवाह के अलावा और कुछ नहीं है । आचार्य उद्भट का यह अभेदवाद उनका स्वयं अपना स्वतंत्र दृष्टिकोण[2] है जो परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों की प्रखर आलोचना का विषय बना । परन्तु

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १५७-१५८ ।

२- (१) ओज: प्रभृतीनां च उभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थिति रिति गड्डलिक-प्रवाहेणैवैषां भेद इत्यभिधानमसत् ।— काव्यप्रकाश, अष्टमोल्लास ।

(२) शब्दार्थालङ्काराणां गुणवत्समवायेन स्थितिरिति भामहवृत्तौ महोद्भटेन भणनमसत् ।— माणिक्यचन्द्र-मैसूर, पृ० २८६ ।

(३) हेमचन्द्र, पृ० १७ ।

(४) उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशो साम्यमेव सूचितम् ।
— अलङ्कारसर्वस्व, ५-७ ।

आचार्य वामन का गुण विवेचन उद्भट से एक पग आगे है । उनके अनुसार काव्यशोभा के उत्पादक धर्मगुण हैं और उसमें अतिशयता का आधान करने वाले धर्मों को अलङ्कार कहते हैं । यहां पर एक शङ्का उठ सकती है कि यदि गुण और अलङ्कार दोनों का सम्बन्ध काव्य की शोभा से है तो दोनों में कोई भेद नहीं होना चाहिए परन्तु वामन के अनुसार दोनों में थोड़ा सा भेद है । एक तो काव्य की शोभा का उत्पादक है और दूसरा उसमें अतिशयता का आधान करने वाला है । सम्भवत: इसी कारण आचार्य उद्भट ने गुणालङ्कारैक्य का प्रतिपादन किया था कि दोनों का सम्बन्ध काव्य की शोभा से है ।

"ओज: प्रसादादयो गुणा: । यमकोपमादयस्त्वलङ्कारा इति स्थिति: काव्यविदाम् । तेषां किं भेदनिबन्धनमित्याह 'काव्य शोभाया: कर्तारो धर्मा: गुणा:' (३।१।१) ये खलु शब्दार्थयोर्धर्मा: काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणा: । ते चोज: प्रसादादय: । न यमकोपमादय: । कैवल्ये तेषामकाव्यशोभाकरत्वात । ओज: प्रसादीनां तु केवलानामीसुकाव्यशोभा करत्वमिति"[1]

तात्पर्य यह है कि जो काव्य की शोभा को उत्पन्न करते हैं, उन्हें गुण कहा जाता है । ओज प्रसादादि गुण ही काव्यशोभा के उत्पादक धर्म हैं । क्योंकि केवल यमकोपमालङ्कार को काव्यशोभा का उत्पादक कदापि नहीं कहा जा सकता । यमकोपमादि अलङ्कार तो काव्यशोभा की अतिशयता का आधान करने वाले होते हैं—

"तदतिशय हेतवस्त्वलङ्कारा: (३।१।२) तस्या: काव्यशोभाया: अतिशय: तदतिशय: तस्य हेतव: । तु शब्दो व्यतिरेके । अलङ्काराश्च यमकोपमादय:"[2]

अर्थात् काव्यशोभा के अतिशायक धर्म को अलङ्कार कहते हैं । अस्तु यदि एक ओर आचार्य उद्भट गुणों और अलङ्कारों में भेदवृत्ति मानना केवल गड्डरिकाप्रवाह

१- व्याख्याता आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ११३ ।

२- वही, पृ० ११६ ।

(भेदवाल) मानते हैं तो दूसरी ओर वामन ने गुणों तथा अलङ्कारों में भेद बताया है। उनके अनुसार गुणों के होने पर अलङ्कारों के बिना भी काव्य की शोभा हो सकती है। परन्तु गुणों के अभाव में केवल अलङ्कारों से काव्य की शोभा नहीं हो सकती। अर्थात् स्त्री के लावण्यशून्य शरीर की भाँति यदि काव्य वाणी गुणों से शून्य हो तो निश्चय ही लोकप्रिय आभूषण भी भद्दे मालूम पड़ने लगते हैं—

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं,
स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः
सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो
वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं
नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ।।[1]

गुणों और अलङ्कारों में मुख्य भेद के अतिरिक्त एक भेद और है। वह यह है कि गुण काव्य के नित्य और अपरिहार्य धर्म हैं परन्तु अलङ्कारों के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। अर्थात् गुणों के बिना काव्य की शोभा नहीं हो सकती परन्तु अलङ्कारों के बिना काव्य की शोभा हो सकती है।

"पूर्वे नित्याः (३।१।३)" पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः।[2]

साराश यह है कि आचार्य वामन ने गुणों और अलङ्कारों में भेद माना है। उनके अनुसार जो काव्य गुणविहीन होगा उसमें फिर शोभा कहाँ? और वह

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः व्याख्याता आचार्य विश्वेश्वर, पृ० १९७।
२- वही, पृ० १९८।

काव्य काव्य नहीं हो सकता। उनके अनुसार काव्य में गुण अपरिहार्य है। यद्यपि उन्होंने गुणों को आत्मा की संज्ञा नहीं दी है।[1]

वामन की इस विचारधारा का समर्थन उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने किया है। यद्यपि प्रतिहारेन्दुराज ने उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह पर टीका लिखी फिर भी अनेक बातों में उनका उद्भट से मतभेद है। जहाँ तक गुणों और अलङ्कारों के वैधर्म्य का प्रश्न है, प्रतिहारेन्दुराज ने वामन का समर्थन किया है। अन्य बातों में उनका वामन से भले ही मतभेद हो। उन्हें रस का भी ज्ञान है और उन्हें इसका भी ज्ञान है। और उन्होंने उसे काव्य की आत्मा माना है। प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि सिद्धान्त का भी समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि गुण अनिवार्य रूप से काव्य का सौन्दर्य है और उसके बिना काव्य की कोई भी सत्ता नहीं है। गुणों की अनुपस्थिति में केवल अलङ्कारों से काव्य की शोभा नहीं होती। गुणाभाव में अलङ्कारों का स्वरूप नितान्त वीभत्स हो जाता है। "यद्येवमिदानीं गुणैरेव कृतकृत्यत्वात् काव्यस्य अलङ्काराणां तत्र निरुपयोगिता प्राप्नोति। नैवम्। गुणरहितशोभे काव्ये अलङ्काराणां शोभातिशय विधायित्वात्, लौकिकालङ्कारवत्। + + + न खलु निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानामलङ्काराणां जघ्याङ्षिदलङ्कारवत् शोभाविधायित्वं दृश्यते +++ तथा काव्यालङ्काराणामपि निर्गुणे काव्ये निबध्यमानानां काव्यशोभाहेतुत्वाभाव: शोभाहानिश्च भवति। यदोवाच भट्टवामन: युक्तोरिव + + + सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभि: ।। यदि भवति वपुश्च्युतं गुणेभ्य: + + दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते। + + + अतएवालङ्काराणामनित्यता। गुणरहितं हि काव्यमकाव्यमेव भवति न त्वलङ्काररहितम्। अलङ्काराणां गुणोपजनितशोभे काव्ये शोभाधिशय-विधायित्वात्"। (पृ० ८१-८२)

---

1. "Thus the contribution of Vaman to the Sastra, besides the word Atman, is some kind of definite distinction of Gunas from Alankaras, as also the definite classification of Gunas as Sabdgunas and Arthagunas".
   -Sringar Prakas, p. 297.

वामन की भाँति प्रतिहारेन्दुराज ने भी यह माना है कि गुण काव्य के नित्यशोभाधायक तत्व हैं। इसके लिए वे वामन का सूत्र उद्धृत करते हैं— 'तदुक्तं काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणास्तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' 'पूर्वे नित्याः' इति पूर्वे इति गुणा इत्यर्थः (पृ०;८२)। इसके लिए प्रतिहारेन्दुराज ने अमरुशतक का श्लोक उद्धृत किया है—

'कथमपि कृतप्रत्यायत्तौ प्रिये स्खलितोत्तरे
विरहकृशया कृत्वा व्याज प्रकल्पितमश्रुतम् ।
असहनसखीश्रोत्रप्राप्ति प्रमादससंभ्रमम्,
विवलितदृशा शून्ये गेहे समुच्छ्वसितं ततः।।'

उक्त पद्य में कहीं भी अर्थालङ्कार दृष्टिगोचर नहीं होता। प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उक्त पद्य में माधुर्यौजादि गुणों से समुपबृंहित प्रसादगुण के विद्यमान रहने पर काव्यता दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए उन्होंने काव्य को गुणों से अलङ्कृत शब्दार्थ की संज्ञा दी है। 'काव्यं खलु गुण संस्कृत शब्दार्थशरीरत्वात्'। (पृ०८१) 'मुख्यया तावद्वृत्त्या गुण संस्कृत शब्दार्थशरीरमेव काव्यम्'। (पृ० ८४)।

परन्तु जहाँ तक गुणों और अलङ्कारों के बीच सम्बन्ध का प्रश्न है, प्रतिहारेन्दुराज ने यहीं तक वामन का समर्थन किया है। जहाँ तक गुणों की संख्या का प्रश्न है, उसके लिए उन्होंने आनन्दवर्धन का समर्थन किया है और माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक तीन गुणों को माना है। 'तथाहि गुणाः काव्यस्य माधुर्य ओजः प्रसादलक्षणाः'। परन्तु जहाँ तक तीन गुणों की प्रकृति का प्रश्न है, वे आनन्दवर्धन से भी भिन्न है। उन्होंने गुणों को रसधर्मता स्वीकार नहीं की है। उनके अनुसार गुण काव्य के विशिष्टक हैं। उनके अनुसार शब्दार्थ समवाय को काव्य कहते हैं। और गुण उस काव्य के शोभाकर धर्म हैं। तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ के धर्म को गुण कहते हैं। परन्तु उनका कथन है कि वे रस के साथ ही साथ काव्यशोभा के सहायक तत्व हैं। प्रतिहारेन्दुराज ने आनन्दवर्धन की ही भाँति

माधुर्य को परिभाषा देते हुए उसे आह्लादक तत्व कहा है। ओजस् को उन्होंने दीप्ति न कहकर वामन का अनुसरण करते हुए गाढ़ता कहा है। प्रसादगुण में कोई भी परिवर्तन नहीं आया है। उनके अनुसार तीनों गुणों में प्रसादगुण सबसे महत्वपूर्ण है। अन्य दोनों गुण;समस्त काव्यों में पाये जाते हैं। और रस के अनुसार ही भिन्नता को प्राप्त होते हैं।

"तत्र माधुर्यमाह्लादकत्वम्, ओजोगाढ़ता, प्रसादस्त्वव्यवधानेन रसाभिव्यक्त्यनुगुणता। तदेतेषां त्रयाणां गुणानां मध्यात् प्रसादस्य प्राधान्यम्। माधुर्यौजसोस्तु तत्तद्रसाभिव्यक्त्यानुगुण्येन तारतम्येन अवस्थितयोः प्रसाद एव सोपयोगता। एवं च तत्र तत्तद्रसानुगुण्येन माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्यां उपकृतो यो सौ प्रसादात्मा रसानामव्यवधानेन प्रतीतिहेतुर्गुणः तदुपेतशरीरत्वेन काव्यस्यावस्थानात् सरसतैव भवितुमर्हति न तु नीरसता" (पृ० ८२)।

प्रतिहारेन्दुराज ने रस को काव्य की आत्मा माना है और कहा है कि काव्य को तभी जीवद्रूप कहा जा सकता है जबकि उसमें काव्यात्मा रस उपस्थित हो। उन्होंने काव्य की आत्मा रस को काव्यशरीर से पृथक् बताया है। उनके अनुसार शब्दार्थरूपी शरीर गुणों से सम्बन्धित है। "न खलु काव्यस्य रसानां वा अलङ्कारालङ्कारभावः किन्तु आत्मशरीरभावः। रसा हि काव्यस्य आत्मत्वेन व्यवस्थिताः शब्दार्थौ च शरीररूपतया। तथा हि आत्माधिष्ठितं शरीरं जीवतीति व्यवदिश्यते तथा हि रसाधिष्ठितस्य काव्यस्य जीवद्रूपतया व्यपदेशः क्रियते। तस्माद्रसानां काव्यशरीरभूत शब्दार्थं विषयतयात्मत्वेन व्यवस्थानं न त्वलङ्कारतया। रसाभिव्यक्तिश्च यथायोगं माधुर्यौजोभ्यां तारतम्येनावस्थिताभ्यां उपबृंहितो यो सौ प्रसादात्मा गुणः तेन क्रियते" (पृ० ७७)।

प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार रस की अनुपस्थिति में काव्य शव के समान है। क्योंकि वही काव्य की आत्मा है। उनके अनुसार गुण शब्दार्थ शरीरकाव्य से

सम्बन्धित है। शब्दार्थशरीर की शोभा के लिए गुणों की उपस्थिति अनिवार्य है। अलङ्कार चाहे रहे या न रहे। अगर अलंकार विद्यमान् रहते हैं तो काव्यशरीर की शोभा में वृद्धि हो जाती है। प्रतिहारेन्दुराज ने अपने इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहा है— "जो सरस और सगुण नहीं होते उन्हें काव्य नहीं कहते"। वस्तु इस स्थल पर प्रतिहारेन्दुराज ने नाटक और व्याकरण को काव्य न कहकर भारी भूल की है।

इस प्रकार उपरोक्त विवरणों से यह स्पष्ट है कि आचार्य उद्भट जहाँ एक ओर गुणों तथा अलङ्कारों में अभेद माना है वहीं वामनाचार्य ने गुणों और अलङ्कारों में भेद माना है।

क्या गुण संघटनाश्रित है?

प्राचीन आचार्यों में उद्भट और उनके अनुयायियों ने गुणों को संघटनाश्रित माना था। इस बात की सूचना हमें ध्वन्यालोक से मिलती है। "संघटनाया: धर्मा गुणा: इति भट्टोद्भटादय:"। विद्यानाथ भी इसी बात के अनुयायी हैं और इसी आधार पर वे गुणों और अलङ्कारों में भेद बताते हैं[1]। "संघटनाधर्माश्च माधुर्यादय: तेऽपि प्रतीयन्ते"। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने समझाया है कि शब्दों के प्रमुख रूप शब्दालङ्कार है। शब्द संघटना के गुण और अर्थ के प्रमुख रूप अर्थालङ्कार हैं। अर्थसंघटना के प्रमुख रूप अर्थगुण हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जबकि शब्दालङ्कार

१- "आश्रयाश्रयिभावेनात्मकायालंकारभावो लोकवत् काव्येऽपि सम्मता। चारुत्वहेतुत्वेऽपि गुणानामलंकाराणां आश्रय भेदात् भेदव्यपदेश:। संघटनाश्रया गुणा:। शब्दार्थाश्रयास्त्वलङ्कारा।"

— प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ०३३७।

और अर्थालङ्कारों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ से है परन्तु गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ संघटना से है। यदि गुण अवयव है तो संघटना अवयवी है— "तथापि द्विविधं चारुत्वं। स्वरूपमात्रनिष्ठं संघटनाश्रितं च। तत्र शब्दानां स्वरूपमात्रकृतं चारुत्वं शब्दालङ्कारेभ्यः। संघटनाश्रितं तु शब्दगुणेभ्यः। एवमर्थानां स्वरूपमात्रनिष्ठमुपमादिभ्यः, संघटनापर्यवसितत्वर्थं गुणेभ्य इति"।

आचार्य आनन्दवर्धन ने वस्तुतः गुणों के सही आश्रय का अन्वेषण किया था। वह आश्रय रस है। उन्होंने बताया है कि उपचारतः गुणों को शब्द से भी सम्बन्धित बताया जा सकता है, फिर भी गुणों का शब्दालङ्कारों से भेद है। इस बात को ध्यान में रखना पड़ेगा। इनका सम्बन्ध शब्दालङ्कारों से मानना युक्तसंगत नहीं प्रतीत होता। गुण अपेक्षाकृत अर्थ से सम्बन्धित हैं और उसके माध्यम से वे काव्य की आत्मा रस से सम्बन्धित हैं। अगर उनका सम्बन्ध शब्दों से माना जाय तो यह तो उसी प्रकार होगा जिस प्रकार किसी शूरवीर के शौर्य को उसके आकार-प्रकार से सम्बन्धित बताया जाय जबकि शौर्य वस्तुतः आत्मा का धर्म है। आकार-प्रकार या शरीर गौरव से उसका किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता। "ननु यदि संघटना गुणानां नाश्रयः ततः किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ते। उच्यते प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्। 'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। + + + अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः। न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्। यस्मादनुप्रासादयो नपेक्षितार्थ विस्ताराः शब्दधर्मा एव। शब्दधर्मत्वं चैतेषां अन्याश्रयत्वे पि शरीराश्रयत्व मिव शौर्यादीनाम्"।

इस स्थल पर उद्भटादि विद्वान् यह तर्क उपस्थित करेंगे कि यदि गुण संघटना के धर्म नहीं हैं तो या तो उन्हें शब्द का धर्म होना चाहिए या अर्थ का क्योंकि ऐसी दशा में उनका कोई भी आश्रय नहीं दिखायी पड़ता। यदि ऐसी बात मान ली जाय तो फिर गुणों और अलंकारों में क्या भेद रह जायेगा? उद्भटादि विद्वानों के तर्क का उत्तर यह है कि वस्तुतः गुणों का आश्रय काव्य की आत्मा

रस है। सच बात तो यह है कि उद्भट को काव्य की उस आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मालूम ही नहीं थी। अभिनवगुप्त ने लिखा है—"शब्दार्थालम्बनत्वे हि तदलङ्कारेभ्यः को विशेष इति उक्तं चिरन्तनैरिति भावः। + + + अपितु भवत्वेषामविवेकिनामभिप्रायेणापि शब्द धर्मत्वं, शौर्यादीनामिव शरीरधर्मत्वम्। अविवेकी हि उपचारकृत्व विभागं विवेक्तुमसमर्थः। तथापि न कश्चिद्दोषः इत्येवं परमेतदुक्तं भवति। उपचारेण यदि शब्देषु गुणाः तत्रेदं तात्पर्यं- शृङ्गारादिरसाभिव्यञ्जकवाच्य प्रतिपादनसामर्थ्यमेव शब्दस्य माधुर्यम्। तच्च शब्दगतं विशिष्टघटनयैव लभ्यते"। (लोचन, पृ० १३५)

अस्तु यह कहा जा सकता है कि गुण प्रमुखतः रस से सम्बन्धित हैं और उपचारतः शब्द और अर्थ से भी। आनन्दवर्धन के अनुसार संघटना में असंलक्ष्यक्रम ध्वनि भी उपस्थित रहती है।

"यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु।
वाक्ये संघटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते।"— (III-२)

अब प्रश्न यह है कि संघटना किस प्रकार रस का व्यक्तीकरण करती है? यहां हमें यह ध्यान रखना है कि संघटना गुणों से भिन्न है। संघटना गुणों पर आश्रित है और यह माधुर्यादि गुणों का व्यक्तीकरण करती है। इस प्रकार तत्तद् गुणों से सम्बन्धित रस का भी व्यक्तीकरण करती है। आनन्दवर्धन के अनुसार रस नियामक है। तात्पर्य यह है कि संघटना माधुर्य गुण को व्यक्त करती हुई तत्सम्बन्धित शृङ्गार रस को भी व्यक्त करती है। इस प्रक्रिया में यह ध्यान रखना चाहिए कि शृङ्गार रस में संघटना को माधुर्य गुण से युक्त होना चाहिए। इसी प्रकार रौद्र रस में संघटना ओजस्विनी होगी। तात्पर्य यह है कि इस प्रक्रिया में वक्ता और वाच्य का औचित्य होना चाहिए—

"गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥"-(III।६)

इस स्थल पर आनन्दवर्धन ने अधोलिखित विकल्प प्रस्तुत किए हैं। गुणों का और संघटना का ऐक्य है या व्यतिरेक। व्यतिरेक पक्ष में संघटना गुणों पर आश्रित है अथवा गुण संघटना पर आश्रित है जैसा कि आचार्य उद्भट ने कहा था— 'संघटनायाः धर्माः गुणाः इति भट्टोद्भटादयः'।[1]

ऐक्य पक्ष में आत्मभूत या आधेयभूत गुणों का आश्रय ग्रहण करती हुई संघटना रस आदि को व्यक्त करती है। अगर ऐसा कहा जाय कि गुणों का आश्रय ग्रहण करके संघटना रस का व्यक्तीकरण करती है तो यहां प्रश्न उठ खड़ा होता है कि संघटना गुणों को परतन्त्र स्वभाव वाली है। ऐसी दशा में इस प्रकार का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि यदि गुण और संघटना एक तत्व है या संघटना के आश्रित गुण हैं। तब संघटना को भांति गुणों की अनियतता का प्रश्न होगा। क्योंकि गुणों का माधुर्य प्रसाद प्रकर्ष करुण और विप्रलम्भ श्रृङ्गार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र और अद्भुत आदि हैं।

माधुर्य और प्रसाद गुण रस, भाव और भावाभास विषयक ही हैं। इस प्रकार यह नियम व्यवस्थित है। परन्तु संघटना में यह नियम विघटित हो जाता है। ऐसा होने पर श्रृङ्गार में भी दीर्घसमासा और रौद्रादि में असमासा संघटना होने लगती है। परन्तु ऐसा उचित नहीं है। श्रृङ्गार में दीर्घ समासा संघटना आनन्दवर्धन ने अधोलिखित उदाहरण दिया है—

'मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका'। या 'अनवरतनयनजललवनिपतन परिमुषितपत्रलेखं। करतल निषण्णमबले। वदनमिदं कं न तापयति'।।

1- ध्वन्यालोक, व्याख्याता श्री जगन्नाथ पाठक, पृ० ३३८।

रौद्रादि में असमासा संघटना का उदाहरण "यो य: शस्त्रं विभर्तिस्वभुज-गुरुमद:"। परन्तु ऐसा होने पर काव्य का समस्त लालित्य नष्ट हो जाता है। इसलिए गुण न तो संघटनास्वरूप हैं और न संघटनाश्रित। अब यहां प्रश्न यह है कि यदि गुण संघटनाश्रित नहीं हैं और न संघटनास्वरूप ही हैं तो फिर उनका आश्रय क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य आनन्दवर्धन का कथन है—

> "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणा: स्मृता: ।
> अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ।।"

अथवा यदि मान लिया जाय कि गुण शब्द के आश्रित ही हैं तो इनकी अनुप्रास आदि से समानता नहीं है। क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्द के धर्म मात्र हो प्रतिपादित किये गये हैं। परन्तु गुण व्यङ्ग्य विशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के धर्म हैं। और उनका शब्द-धर्मत्व शौर्य आदि को भांति अन्य (आत्मा) के आश्रित होने पर भी शरीर के आश्रित होना माना गया है। यहां शंका उत्पन्न होती है कि यदि गुण शब्द के आश्रित हैं तब वे संघटनारूप अथवा इसके आश्रित हो ही जायेंगे क्योंकि असंघटित शब्द अर्थ विशेष द्वारा प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित गुणों के अवाचक होने के कारण आश्रय नहीं होते। ऐसा नहीं क्योंकि रस आदि का वर्ण और पद से व्यङ्ग्यत्व आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित कर हो दिया है।

चतुर्थ अध्याय

उद्भट और अन्य सम्प्रदाय

आचार्य उद्भट और अन्य सम्प्रदाय

भामह के बाद आचार्य उद्भट काव्यशास्त्र के आदि आचार्य हैं। यद्यपि प्रमुखत: आचार्य उद्भट अलङ्कारशास्त्री हैं तथापि काव्यशास्त्र के अन्य पहलुओं पर उनकी कारयित्री प्रतिभा की स्पष्ट छाप विद्यमान् है। परवर्ती अनेक काव्यशास्त्री आचार्य उद्भट से किसी न किसी प्रकार प्रभावित हुए हैं। काव्यशास्त्र के समस्त पहलुओं पर आचार्य की प्रखर दृष्टि पड़ी थी। परवर्ती अनेक विधाएं जिस समय अपनी शैशवावस्था में थी, उस समय इस आचार्य ने उन विधाओं पर अपनी दृष्टि डाली थी। आचार्य उद्भट ने व्यञ्जना की भी झीनी झलक प्राप्त कर ली थी, जो भाक्तवाद के रूप में परवर्ती आचार्यों की आलोचना का विषय बनी। उन्होंने रस की भी विवेचना की है जो रसवत् अलङ्कार के रूप में है। यह विवेचना बाद में यद्यपि अनेक काव्यशास्त्रियों की आलोचना का विषय बनी तथापि हम इतना अवश्य कहेंगे कि काव्यशास्त्र की यह विधा उस समय भी अपने शैशवावस्था में थी और आचार्य ने अपनी दृष्टि इस विधा पर भी डाली थी।

उद्भट का व्यक्तित्व आलङ्कारिक है। उनके अनुसार अलङ्कार ही काव्य के प्राणतत्व हैं। अन्य विधाओं पर भी उनके आलङ्कारिक व्यक्तित्व की ही छाप है जिसका दिग्दर्शन विस्तृत रूप से इस अध्याय में किया जायेगा।

आचार्य उद्भट और रस

काव्यशास्त्र में सम्पूर्ण विवेचन आध्यात्मविचारचर्चा को लेकर हुआ है। काव्यशास्त्र में रस का उद्गम कहाँ से हुआ है और कब से हुआ है। यह प्रश्न

महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गहन अतीत के गर्भ में विलीन हो गए ग्रन्थों के अभाव में इस प्रश्न का उत्तर खोजना यद्यपि दुष्कर कार्य है तथापि उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस विषय पर विवेचना दी जा रही है। काव्यशास्त्र का आदि उत्स वैदिक साहित्य है। वेदों में यत्र-तत्र रसों एवं अलङ्कारों का उल्लेख प्राप्त हो जाता है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व जब महर्षि विश्वामित्र अपने अनुयायियों सहित शुतुद्रि और विपाशा के सङ्गम पर पहुँचे, उस समय कलकल निनाद करती हुई नदियों के जल को देख कर उनके मन में स्वत: काव्यधारा प्रस्फुटित हो उठी थी। उन्होंने— पर्वतों की गोद से निकली हुई, समुद्र के प्रतिगमन की इच्छा वाली खुली हुई दो घोड़ियों के समान, मन्दहास्य में खिलखिलाती हुई, बछड़ों वाली दो शुभ्र गौओं के समान चाटने की इच्छा करती हुई— ये विपाशा और शुतुद्रि नदियाँ अपनी जलधारा से वेग के साथ जा रही हैं, ऐसी कल्पना की थी—

> 'प्रपर्वतानामुशती उपस्थादश्वे इव विषिते हासमाने।
> गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते।'[1]

प्रस्तुत ऋचा में शृङ्गाररस की प्रतीति हो रही है। इसी प्रकार दीर्घतमा के पुत्र कुक्षीवान् ने उषा के आलोक सामान्यरूप को देखकर जो उद्भावना व्यक्त की है, वह अत्यन्त सुन्दर है—

> 'अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
> जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्स:'[2]।

इस ऋचा में भी शृङ्गार रस की प्रतीति हो रही है। ऋग्वेद में काव्य, कविता आदि शब्दों के प्रयोग भी अनेक स्थलों पर आया है। अग्नि को सभी काव्यों का ज्ञाता

१- ऋग्वेद, ३।३३।१।
२- वही, ३।१।१८।

कहा गया है ।

(१) "अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान्"।

(२) "आ देवानामभव: केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान्"।[1]

केवल ऋग्वेद में ही नहीं अपितु अन्य वेदों में भी रसतत्व यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस तथ्य को आचार्य भरत ने भी स्वीकार किया है—

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"[2]

डा० जयमन्त मिश्र ने रसों का मूलस्रोत वेदों में खोजने का प्रयास किया है। उन्होंने यह कहा है कि "यह कहना असंगत न होगा कि वेदाचल से रससामान्य को स्रोत निकला, वैसे ही रस विशेषों की भी धारा वहीं से निकलकर प्रवाहित होती जा रही है।[3] वेदों में आदि मनीषियों की वाणी से जो काव्य प्रस्फुटित हुआ है, उसमें रस स्वत: ही उद्वेलित हो उठा है।

रामायण के प्रणेता आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने जब विहार करते हुए क्रौञ्चयुगल में एक का वध किया जाता हुआ देखा तो उनके मुख से स्वत: ही करुण रस का निष्यन्द फूट पड़ा था—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम: शाश्वती समा: ।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधी: काम मोहितम् ।।"

रामायण और महाभारत में सभी रसों की निर्झरिणियां प्रवहमान् हैं। महाभारत के विषय में कहा गया है—"यदिहास्ति न तदन्यत् यन्नेहास्ति न

१- ऋग्वेद, ३।१।१७ ।
२- नाट्यशास्त्र, १।१७ ।
३- डा० जयमन्त मिश्र : काव्यात्ममीमांसा, पृ० ११ ।

तत्क्वचित्[1]। इस प्रकार रामायण एवं महाभारत में विभिन्न रसों एवं भावों का चित्रण हुआ है। वैदिक संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी संयोग, वियोग, अद्भुत, बीभत्स तथा भयानक आदि रसों के प्रकीर्ण उदाहरण मिलते हैं।

प्रस्तुत स्थल पर रस वर्णन का प्रश्न नहीं है अपितु रस के शास्त्रीय विवेचन की बात है। शास्त्रीय विवेचन पर आधृत ग्रन्थ को ही अलङ्कारशास्त्र का उत्स माना जाता है। संस्कृत के उपलब्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर भरत मुनि को अलङ्कारशास्त्र का आदि आचार्य माना जाता है। उन्होंने रस, छन्द, लक्षण, गुण तथा दोष का निरूपण किया है। भरत मुख्यतः रसवादी आचार्य हैं। समग्र संस्कृत काव्यशास्त्र की रसविषयक पीठिका भरत के रस निष्पत्ति विषयक सूत्र पर आधृत है। यद्यपि भरत से पूर्व भी रस की शास्त्रीय परम्परा की अवस्थिति का ज्ञान होता है किन्तु किसी अन्य पूर्वतन आचार्य के ग्रन्थ के अभाव में तथा आनुवंश्य श्लोकों के कर्तृत्व की प्रामाणिक सूचना के अभाव में आचार्य भरत को ही सर्वसम्मति से रस का आदि प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। भरत का रस निष्पत्ति विषयक प्रसिद्ध सूत्र— "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रस निष्पत्तिः" ही बाद में परवर्ती काव्यशास्त्रियों की रस मान्यताओं का पथप्रदर्शक बना। इसकी व्याख्या में आचार्य भरत ने कहा है— "यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिः द्रव्य संयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च वा षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते, तथा हि नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति"[2]।

अर्थात् जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है और जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यञ्जनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायिभाव भी रसत्व को प्राप्त करते हैं। अब प्रश्न यह है कि रस क्या है?

१- नाट्यशास्त्र, पृ० २२८।

२- वही, पृ० २८१-८२।

इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य भरत का कथन है—अत्राह-रस इति कः पदार्थः? उच्यते आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृत मन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तथा नानाभावाभिनय-व्यञ्जितान् वाङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति । तस्मान्नाट्यरसाः व्याख्याताः ।[1]

अर्थात् प्रश्न यह है कि रस कौन पदार्थ है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि "आस्वाद्यत्व" होने के कारण रस किस प्रकार आस्वादित किया जाता है? जैसे नाना व्यञ्जनों से युक्त अन्न का उपभोग करने वाले सुरुचिपूर्ण अथवा प्रसन्न-चित्त व्यक्ति रसों का आस्वाद प्राप्त करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त करते हैं, वैसे ही सुरुचिपूर्ण तथा प्रसन्नचित्त प्रेक्षक उन स्थायिभावों का आस्वाद करते हैं तथा हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं । जो नाना भावों तथा अभिनयों द्वारा व्यञ्जित होते हैं तथा सात्त्विक आङ्गिक तथा वाचिक अनुभावों से युक्त होते हैं, इसीलिए नाट्य रस कहलाते हैं ।

अब प्रश्न यह है कि आचार्य उद्भट ने रसों की विवेचना किस प्रकार की है? इस बात का विस्तृत विवेचना हम इसी अध्याय में करेंगे । आचार्य भामह ने जिस अलङ्कार सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया है, उसने परवर्ती अनेक आचार्यों को प्रभावित किया । यह धारा समय के प्रवाह के साथ उत्तरोत्तर पीनकाय होती गयी और सहृदयों को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि— "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्" । अर्थात् यदि कोई सुन्दरी अलङ्कारों से सजी हुई है तो उसके सौन्दर्य में चारचांद लग जाता है । परन्तु इस स्थल पर प्रश्न यह है कि इस महान् अलङ्कारवादी आचार्य ने रस की विवेचना किस प्रकार की है?

रस के विषय में आचार्य उद्भट भामह से कहीं आगे हैं । उन्होंने अलङ्कारों के साथ रस का क्या स्थान है, इस विषय पर वृहद् विवेचन किया है ।

१- नाट्यशास्त्र, पृ० २८४ ।

उन्होंने अनुभव, विभाव आदि शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। एस० के० डे साहब ने लिखा है—

"We shall also see that Udbhat is certainly more advanced in recognizing Rasa and defining its place in the poetic figures, if not in poetry as a whole and he even goes so far as using the technical terms bhava and anubhava which can not be traced in Bhamah".[1]

कर्नल जैकब साहब ने तो यहाँ तक कह दिया है कि आचार्य उद्भट ने रस को काव्य की आत्मा माना है। उन्होंने यह बात अधोलिखित कारिका के आधार पर कहा है—

"रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यत: ।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।।"[2]

जैकब महोदय का यह कथन है कि उपर्युक्त कारिका आचार्य उद्भट के द्वारा रचित है। परन्तु कर्नल जैकब का यह कथन उचित नहीं प्रतीत होता। यह कारिका प्रतिहारेन्दुराज ने तदाहु: शब्दों के साथ प्रयुक्त किया है।[3] अत: यह श्लोक किसी जगह से लिया गया उद्धरणमात्र प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह श्लोक उद्भट के काव्य के पूर्वक्रम को नष्ट करने वाला है। अत: ठीक नहीं प्रतीत होता। तात्पर्य यह है कि जैकब के कथनानुसार यह काव्यलिङ्ग के बाद आना चाहिए जबकि काव्यलिङ्ग के ठीक बाद उसका अधोलिखित उदाहरण आता है—

१- Sanskrit Poetics: S.K. Dey, p.56.

२- जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, पृ० ८४७ ।

३- प्रतिहारेन्दुराज टीका, पृ० ६६ ।

छायेव तव शेषाङ्गकान्तो: किञ्चिदनुज्ज्वला ।
विभूषा घटनादेशान्दर्शयन्तो दुनोति माम्।।

इसके अलावा अलङ्कारसर्वस्व में यह बात कही गयी है कि "उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशो साम्यमेव सूचितम् । तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यां मतम्"[1]। अलङ्कारसर्वस्व में 'तद्विगुणं त्रिगुणं वा' इस रूप में यह श्लोक उद्धृत हुआ है । इससे यह प्रतीत होता है, मानो यह उद्भट के द्वारा प्रणीत हो । परन्तु यह कारिका रुद्रट की है । यह श्लोक आचार्य उद्भट की परिभाषा से मेल नहीं खाता । एस०के० डे साहब ने लिखा है—

"It can not be denied at the same time that Udbhata betrays an acquaintance with some theory of Rasa and its technicalities using, as he does, terms like vibhava, sthayin, sancharin and anubhava and enumerating, after Barata, the eight orthodox natya rasas with the addition of a ninth Rasa (viz. Santa) in the category".[2]

परन्तु उद्भट ने इन सभी बातों को रसवत् आदि अलङ्कारों के शोभा-धायक तत्व के रूप में लिया है । उद्भट की रसवत् की परिभाषा भामह और दण्डी की परिभाषा से भिन्न है और उन्होंने समाहित नामक एक अन्य अलङ्कार को भी स्वीकार किया है । आचार्य उद्भट ने रस को उसकी निजी विशेषता के आधार पर नहीं स्वीकार किया है, अपितु इस तथ्य के आधार पर कि रस किसी विशेष अलङ्कार की शोभा में श्रीवृद्धि कर दिया करता है । इसीलिए टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का मत है कि आचार्य उद्भट ने रस और भाव के स्वरूप पर तथा भाव और अनुभाव पर विशेष जोर नहीं दिया है । उद्भट मत के व्याख्याकार

१- अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ५ ।
२- Sanskrit Poetics, Vol. 2, p.114.

भले ही हों परन्तु उपर्युक्त उदाहरण सन्देह से युक्त है[1]। कतिपय विद्वानों के अनुसार उक्त कारिका की आधी पंक्ति भरत की है। जिसे उद्भट ने उद्धृत किया है। अतः वे भरत के अनुयायी प्रतीत होते हैं। परन्तु यह बात उचित नहीं है। उद्भट मुख्यतः भामह के अनुयायी हैं और अलङ्कारवादी पहले हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि कर्नल जैकब साहब का उपर्युक्त मत समाचीन नहीं है। उद्भट द्वारा रस को काव्य का प्राणतत्व मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। वे अलङ्कारवादी पहले हैं और रसवादी बाद में। उनका रस विवेचना पर भी उनके आलङ्कारिक व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उन्होंने रस को स्वशब्दवाच्य बताया है। यद्यपि प्रो० वी० राघवन ने इसे "serious flaw" कहा है[2], लेकिन यह एक प्राचीन विश्वास था और प्राचीनों ने रस को इसी रूप में लिया है। आचार्य उद्भट ने रसवत् की परिभाषा में कहा है कि रस का आस्पद स्वशब्द है। उद्भट का कथन है—

"रसवद्दर्शित स्पष्टशृङ्गारादि रसादियम्।
स्वशब्द स्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्[3]।

इस कथन से उद्भट का तात्पर्य यह है कि रसवत् अलङ्कार वहां होता है, जहां शृङ्गारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाये गये हों। तथा साथ ही साथ स्थायी-भाव, संचारीभाव, विभाव तथा अभिनय (अनुभाव और सात्विकभाव के विभिन्न प्रकारों) का स्वशब्द से आस्पद अर्थात् कथन हो। तात्पर्य यह है कि उद्भट ने रस का वर्णन किया है परन्तु अपने ढंग से। अर्थात् उन्होंने रस की विवेचना में अपने अलङ्कारवादी स्वरूप की छाप लगा दी है तथा अपनी प्रज्ञा की उर्वरता से एक नये अलङ्कार- रसवत् का आविष्कार किया है जिसे कि परवर्ती आचार्यों, यहां तक कि

१- नाट्यशास्त्र, ६।१५।

२- Some concepts of Alankar Shastra, p. 149.

३- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, ४।३।

मम्मट और आनन्दवर्धन ने अपनी प्रज्ञा के अनुरूप ढाला । बाद में आचार्य कुन्तक ने उद्भट की रसवत् की इस परिभाषा की तीव्र आलोचना की है[1]। परन्तु आचार्य उद्भट की परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने विभावानुभाव और सञ्चारीभावों को स्वशब्दवाच्य बतलाया है। इसके उदाहरण में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किए हैं—

> इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।
> संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥
> स्विद्यताऽपि सगात्रेण बभार पुलकोत्करम् ।
> कदम्ब कलिकाकोश केसर प्रकरोपमम् ॥
> क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
> क्षणं प्रमोदालसया दृशा स्यादस्यमभूषत ॥[2]

उपर्युक्त उदाहरण आचार्य उद्भट के मतानुसार रसवत् अलङ्कार का है। प्रश्न यह है कि क्या किसी भी सरस वाक्य में रसादि की स्वशब्दोक्ति अनिवार्य है? उद्भट के व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज ने उक्त पद्यों में विभावादि पाँचों तत्वों की स्वशब्दोक्ति का निर्देश करते हुए कहा है कि यहाँ कन्दर्प अर्थात् रति नामक स्थायीभाव औत्सुक्य, चिन्ता, प्रमोद, सञ्चारीभाव, स्वेद और पुलक नामक सात्त्विक भाव, ये सभी तथा इनके अतिरिक्त पार्वती और 'तस्य' अर्थात् शिव ये दोनों विभाव भी स्वशब्दोक्त हैं।

"अतो रतिविशेषस्य वाचकत्वात् कन्दर्पशब्दः स्थायिनोऽत्र स्वशब्दः । सञ्चारिणश्चौत्सुक्यचिन्तादयः स्वशब्दैरुन्मीलिताः । स्वेदरोमाञ्चौ च सात्त्विकौ स्वशब्दोपात्तौ तयोरपि च सञ्चारित्वम् सात्त्विकानां स्थायीभावावस्था-

---

1- अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥—3।11।

2- काव्यालङ्कारसारसंग्रह, 4।2-4।

विशेषणत्वेन निर्वेदादिवत्सञ्चारित्वात् । विभावास्तु इति भावयन्तस्येति निर्दिष्टः । भगवता हि तद्‌गुणोपेतत्वेन विभाव्यमाना विभावः । अभिनयस्त्वत्रापाङ्गाभिनयो निर्दिष्टो दृष्ट्या इति । अतो अत्र आभिलाषिकः शृङ्गाररसः स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरभिव्यज्यते[1]।

उद्‌भट तथा प्रतिहारेन्दुराज के इन कथनों से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस समय रसवत् अलङ्कार के उदाहरणों में विभावादि की स्वशब्दोक्ति स्वीकार की जाती थी ।

उद्‌भट द्‌वारा प्रतिपादित स्वशब्दवाच्यता का परवर्ती अनेक आचार्यों ने खण्डन किया है । सर्वप्रथम हम आचार्य आनन्दवर्धन की आलोचना पर दृष्टिपात करेंगे । आनन्दवर्धन ने स्वशब्दवाच्यता को यद्यपि दोष के रूप में गिनाया है तथापि उन्होंने इतना अवश्य किया है कि रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यङ्ग्य पर आधृत होता है । इस प्रसङ्ग में रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन किया है । उनका कथन है—

"स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते न तु तत्कृता । विषयान्तरे तथा तस्य अदर्शना न हि केवल शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादि प्रतिपादन रहिते काव्ये मनागपि रसवत्व प्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्यो विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः । तस्मादन्वय व्यतिरेकाभ्यामभिधेय सामर्थ्याक्षिप्तमेव रसादीनां न त्वभिधेयं कथञ्चित् इति तृतीयोऽपि प्रभेदो (रसाख्यः) वाच्याद्‌भिन्न एवेति स्थितम् । वाच्येन तु सहैव प्रतीतिरित्यग्रे दर्शयिष्यते[2]।

ध्वन्यालोककार का तात्पर्य यह है कि रसादि शब्दों का प्रयोग केवल अनुवादमात्र ही होता है । उन शब्दों के द्‌वारा रस की प्रतीति कदापि नहीं हो

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह सम्पादित बनहट्टी, पृ० ५४ ।

२- ध्वन्यालोक, पृ० १४४ ।

सकती क्योंकि दूसरे विषयों में जहाँ विभाव इत्यादि का अभाव होता है, केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है। वह रसास्वादन देखा ही नहीं जा सकता है। केवल शृङ्गारादि शब्दों के होने पर और विभाव इत्यादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में रञ्चमात्र भी रसवत्ता नहीं देखी जा सकती है। श्रीमदाभिनवगुप्तपादाचार्य ने लोचन में कहा है—

> शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
> बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृताः।[१]

इत्यादि कारिका में जितने रस हैं, तब तो उनके नाममात्र से उन समस्त रसों की प्रतीति हो जाय, अगर रस की स्वशब्दवाच्यता स्वीकार कर ली जाय। इस प्रकार हम देखते हैं कि आनन्दवर्धन तथा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त दोनों के मतानुसार रस की स्वशब्दवाच्यता स्वीकार नहीं की जा सकती।

रस की स्वशब्दवाच्यता की व्याख्या करने वाले उद्भटादि विद्वानों से अगर यह पूछा जाय कि स्वशब्दवाच्यता किसकी होती है, रस अथवा रसवत् की तो उनका उत्तर होगा— "रस्यन्त इति रसाः ते स्वशब्दास्पदेषु तिष्ठन्तः शृङ्गारादिषु वर्तमाना सन्तास्तज्ज्ञै रास्वाद्यन्ते"।

आचार्य कुन्तक ने रस की स्वशब्दवाच्यता की अत्यन्त कटु आलोचना की है। उन्होंने वक्रोक्तिजीवित में कहा है—

> "अलङ्कारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात् ।
> स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ।।"

अर्थात् रसादि के प्रतीतिस्थल में रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अलंकार्यरूप से अन्य किसी की प्रतीति न होने पर और रस के साथ अलङ्कार शब्द का प्रयोग करने से

१- लोचन (ध्वन्यालोकस्यटीका), पृ० १५२।

शब्द और अर्थ की संगति भी न होने पर रसवत् अलङ्कार नहीं हो सकता। आचार्य कुन्तक का कथन है कि वस्तुत: रसवत् अलङ्कार से किसी भी अलङ्कार की प्रतीति नहीं हो सकती। इसका आचार्य कुन्तक ने दो कारण दिया है। प्रथम तो यह कि अपने स्वरूप के अतिरिक्त अलंकार्यरूप से रस के अलावा किसी अन्य की प्रतीति नहीं होती। कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तु का जो स्वरूप अर्थात् अपना व्यापार है, उससे उत्कृष्ट अलंकार्य कहलाने योग्य अन्य किसी की प्रतीति न होने पर हम रसवत् को अलङ्कार नहीं कह सकते। इसका यहां अभिप्राय यह है कि सत्कवियों के काव्य में आये हुए सभी अलङ्कारों में यह अलंकार्य है और यह अलङ्कार भी है। इस प्रकार पृथक् रूप से किया हुआ (अलंकार्य अलङ्कारभाव) अलग-अलग सभी ज्ञाताओं के मन में प्रतीत होता है। परन्तु रसवत् अलङ्कार से युक्त वाक्य में ध्यान देने पर भी यह विभाग समझ में नहीं आता।

जैसे यदि शृङ्गारादि रस ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान है तो प्रधानरूप से वर्ण्यमान होने के कारण अगर वह अलंकार्य है तो उसका अलङ्कार किसी अन्य को होना चाहिए। वह स्वयं तो अपना अलङ्कार हो नहीं सकता अथवा यदि प्रधान रूप से वर्णित उसी रस को सहृदयों के आह्लाद का जनक होने के कारण अलङ्कार कहते हैं तो उसका अलंकार्य भी तो कोई होना चाहिए। परन्तु यदि देखा जाय तो आचार्य भामह और उद्भटादि प्राचीन आलङ्कारिकों के अभिमत रसवत् रूप अलङ्कार के उदाहरणों में इस प्रकार का कोई तत्व जिसे अलंकार्य कहा जा सके, दृष्टिगोचर नहीं होता।

भामह तथा उद्भट दोनों ने रसवत् अलङ्कार के अधोलिखित लक्षण किए हैं—

(१) "रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसंयथा।"— भामह, ३।६।

(२) "रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादिरसादियम्।"— उद्भट, ४।४।

इन दोनों लक्षणों में "रसवद्दर्शितस्पष्ट शृङ्गारादि" इतना अंश समान है अत: इनके

खण्डन के लिए इस लक्षण की सम्भावित अनेक प्रकार की व्याख्याओं की कल्पना करते हुए आचार्य कुन्तक यह प्रतिपादित करते हैं कि इनमें से किसी भी व्याख्या के मानने पर न अलंकार्य अलङ्कार का विभाग बनता है और न रसवत् का अलंकारत्व सिद्ध होता है।

रसवदलङ्कार का यह लक्षण भामह और उद्भट दोनों ने किया है। इसमें स्पष्टा और सृष्टा दो प्रकार के पाठ हो सकते हैं। यहां दिखाया गया है कि स्पष्ट अथवा थोड़ा सा सृष्ट हैं। शृङ्गारादि रस जिसमें उसे रसवत् अलङ्कार कहते हैं। अगर इस प्रकार की व्याख्या की जाय तो (जिसमें अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि समास के होने पर) काव्य के अतिरिक्त समास का अर्थरूप कहीं भी अन्य पदार्थ दिखाई नहीं देता।

अगर यहां यह कह दिया जाय कि रसवत् अलङ्कार ही काव्य है तो उसका भी सौन्दर्य स्पष्टरूप से नहीं होता क्योंकि काव्य के (एकदेश) अवयवरूप शब्द तथा अर्थ के अलग-अलग आकार हैं। अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ऐसी प्रतिज्ञा करके अब काव्य ही अलङ्कार है, यदि ऐसा कहा जाय तो यहां उपक्रम और उपसंहार का विरोध होता है।

अथवा अगर 'दर्शित स्पष्ट शृङ्गारादययेन' इस प्रकार का समास करें तो भी वह अलङ्कार कौन है? इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित हो जाता है। अगर इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाय कि वह प्रतिपादन का वैचित्र्य ही है तो उसका भी भलीभांति समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रतिपाद्यमान् से भिन्न उसकी शोभा का मूल कारणभूत अलङ्कार रूप प्रतिपादन का वैचित्र्य अलग ही मानना होगा। प्रतिपाद्य (अलंकार्य) ही अलङ्कार नहीं हो सकता।

अगर 'स्पष्टतया दर्शितं रसानां प्रतिपादन वैचित्र्य' इस प्रकार की व्याख्या की जाय तो यह ठीक नहीं है। स्पष्टतया दर्शन में शृङ्गारादि रसों की

स्वरूपसिद्धि ही होती है। अगर यह कहा जाय कि रसवत् काव्य का अलङ्कार रसवदलङ्कार होता है तो भी यह ठीक नहीं क्योंकि उस प्रकार का रसवत् होने पर उस काव्य का यह रसवत् होता है। इस कथन का कोई तात्पर्य नहीं निकलता है। अथवा अगर उसी रसवत् अलङ्कार से काव्य को रसवत् कहा जा सके तो फिर वह रसवत् काव्य का अलङ्कार कैसा? वह तो शुद्ध रसवत् अलङ्कार हुआ। और इस प्रकार रसवत् काव्य भी रसवत् अलङ्कार हो जाता है।

अथवा 'रसवद्दर्शित' आदि की व्याख्या एक अन्य ढंग से की जा सकती है। यह कहा जा सकता है कि जिस काव्य का रस के साथ सम्बन्ध प्रतिपादन किया जा रहा है, उसी रसवत् काव्य का अलङ्कार रसवदलङ्कार कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ जैसे इसका पुत्र अग्निष्टोमियाजी होगा। इस प्रयोग में जब इस शब्द को प्रयुक्त किया जाता है। उस समय पुत्र के साथ अग्निष्टोमियाग का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। केवल शब्द के द्वारा उसका कल्पित सम्बन्ध पुत्र के साथ किया गया है। परन्तु बाद में जब पुत्र अग्निष्टोमियाग कर लेता है, तब उसको वास्तविक रूप से अग्निष्टोमियाजी कहते हैं। इस प्रकार पहले अलंकार्य काव्य ही रसवत् होता है। बाद को उस रसवत् काव्य के साथ सम्बन्ध होने से अलङ्कार को भी रसवत् कहा जा सकता है। इस रूप में यदि रसवत् अलङ्कार का समर्थन किया जाय तो वह भी सुसम्बद्ध समाधान नहीं होता। क्योंकि यह शब्द सर्वप्रथम 'अग्निष्टोमेन इष्टवान्'[१] इस विग्रह से भूतकाल में निष्पन्न हुआ। अतः जिस किसी ने पहले सोमयाग किया है, उस अन्य के विषय में प्रसिद्धि को प्राप्त कर चुका है। इसलिए बाद को भविष्यति होगा, इस वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्य होने से उस सम्बन्ध का अनुभव करके उसके साथ सम्बद्ध हो सकता है। परन्तु यहाँ रसवद् अलङ्कार में इस प्रकार का प्रयोग तो हो नहीं सकता क्योंकि रसवत् काव्य का अलङ्कार होता है। इस प्रकार के (प्रयोग में) उस रसवत् काव्य के साथ सम्बद्ध रूप से ही उस रसवत्

१- 'भूते' (अष्टाध्यायी ३,२,८४) तदनन्तर 'करणेयजः' (३-२-८५) से णिनि प्रत्यय हुआ।

अलङ्कार के सम्बन्ध से ही काव्य में रसवत्ता आती है। इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष आ जाता है जिसका निराकरण सर्वथा असम्भव है।

अगर इस प्रकार की व्याख्या की जाय- 'रसो विद्यते यस्यासौ तद्वानलङ्कारः' तो भी जिसमें रस विद्यमान हो वह पदार्थ काव्य या अलङ्कार ही होगा। उनके सिवाय तीसरा कुछ नहीं और उन दोनों का खण्डन पहले कर ही दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्तक ने रसवत् अलङ्कार का खण्डन किया है।

उन्होंने दण्डी का उदाहरण देकर उसका खण्डन भी किया है। अर्थात् स्वशब्द, स्थायीभाव, सञ्चारीभाव, विभाव तथा अनुभाव (अभिनय) में रहने वाले रस को स्पष्टरूप से दर्शित कराने वाला रसवदलङ्कार होता है। रस की स्वशब्द वाच्यता का खण्डन करते हुए आचार्य कुन्तक का कथन है—

'तत्र स्वशब्दास्पदत्वं रसानामपरिगतपूर्वमस्माकम् ततस्त एव रससर्वस्व समाहित चेतसस्तत्परमार्थविदो विद्वांसः परं प्रष्टव्यः कि स्वशब्दास्पदत्वं रसानामुत रसवत् इति। तत्र पूर्वस्मिन पक्षे (रस्यन्त इति रसाः) ते स्वशब्दास्पदोस्तेषु तिष्ठन्तः शृङ्गारादिषु वर्तमानाः सन्तः तज्ज्ञैरास्वाद्यन्ते। तदिदमुक्तं भवति यत् स्वशब्दैरभिधीयमानाः श्रुतिपथमवतरन्तश्चेतनानां चर्वणाचमत्कारं कुर्वन्तीत्यनेन न्यायेन घृतपूर प्रभृतयः पदार्थाः स्वशब्दैरभिधीयमाना तदास्वादसम्पदं सम्पादयन्तीत्येवं सर्वस्व कस्यचिदुपभोग सुखार्थिनसौहृदारवस्थैर्यत्नेनैव तदभिधानमात्रादेव त्रैलोक्य-राज्य सम्पत्सौख्य समृद्धिः प्रतिपद्यन्ते इति नमस्तेभ्यः'[1]।

तात्पर्य यह है कि रस को स्वशब्दवाच्यता की व्याख्या करने वाले उद्भटादि विद्वानों से यह पूछना चाहिए कि स्वशब्दवाच्यता किसकी होती है, रस की अथवा रसवत् की? उद्भट का उत्तर होगा 'रस्यन्ते इति रसाः' ते स्वशब्दास्पदास्तेषु तिष्ठन्तः शृङ्गारादिषु वर्तमानाः सन्तस्तज्ज्ञैरास्वाद्यन्ते। इस प्रकार

१- वक्रोक्तिजीवित (३।११) सम्पादित डा० नगेन्द्र, पृ० ३४४।

कुन्तक ने आचार्य उद्भट के रस की स्वशब्दवाच्यता का परिहास करते हुए लिखा है कि अगर घृतपूर आदि पदार्थ अपने नाममात्र से ही आनन्द देने लगें तो फिर इन उदारचरित महोदियों ने किसी भी पदार्थ के उपभोग का सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए त्रैलोक्य के राज्यप्राप्ति तक के सुख की प्राप्ति बिना प्रयास के ही सिद्ध कर दी है। ऐसे महापुरुषों को नमस्कार है। रस की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन करने के उपरान्त आचार्य कुन्तक ने रसवत् की स्वशब्दवाच्यता का खण्डन किया है। उनका कथन है कि रस की स्वशब्दवाच्यता नहीं बन सकती तो फिर रस शब्द से वाच्य रसादि के भी तन्निष्ठ न होने पर अन्य का अर्थात् रसवत् को स्वशब्दवाच्यता कैसी? उन्होंने दण्डी के रसवत् (रस-संश्रयात) को भी आलोचना की है।

शब्दार्थासङ्गतेरपि। शब्द और अर्थ की असंगति होने पर भी शब्द और अर्थ का अर्थात् वाच्यवाचक का समन्वय न होने से भी रसवदलङ्कार की कोई इयत्ता नहीं होती। यहां पर मतुप् प्रत्यय् करने के बाद या तो षष्ठी तत्पुरुष किया जा सकता है या तो कर्मधारय किया जा सकता है। अगर यह कहा जाय कि वह रस व्यतिरिक्त पदार्थ काव्य है तो भी उससे भिन्न कौन सा पदार्थ है जिसमें रसवत् अलङ्कार सार्थक हो सके? तात्पर्य यह है कि अलङ्कार और अलंकार्य दोनों की अलग-अलग प्रतीति होने पर ही इस नाम की सार्थकता हो सकती है और कोई विशेष अतिरिक्त पदार्थ दिखायी नहीं देता है जिसमें रसवद्लङ्कार पद प्रयुक्त या सार्थक हो सके। इसलिए इस षष्ठी तत्पुरुष समास के मार्ग में रसवदलङ्कार शब्द तथा उसके अर्थ की कोई संगति नहीं होती। आचार्य कुन्तक ने विशेषण (कर्मधारय) समास से युक्त ध्वन्यालोककार के रसवत् सिद्धान्त का खण्डन किया है। 'रसवांश्चासौ अलङ्कारः' इस प्रकार के कर्मधारय समास में अलङ्कार के साथ रस का सम्बन्ध होने से वह रसवदलङ्कार होता है। अस्तु शब्द और अर्थ की संगति नहीं बैठती। इस बात का बृहद् विवेचन वक्रोक्तिजीवित की ग्यारहवीं कारिका की व्याख्या में आचार्य कुन्तक ने किया है।

आचार्य कुन्तक ने उद्भट के ऊर्जस्वि का भी खण्डन किया है। आचार्य उद्भट ने काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह के चतुर्थ सर्ग के ६ और १० में ऊर्जस्वि का लक्षण इस प्रकार किया है—

"अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणम् ।
भावानां रसानां च बन्धः ऊर्जस्वि उच्यते ।।"

अर्थात् काम, क्रोधादि के कारण से अनुचित रूप से प्रवृत्त भावों तथा रसों का वर्णन ऊर्जस्वि कहलाता है—"शास्त्र विरोधे तु प्रेयोरसवदलङ्कारौ । ऊर्जसो बलस्य विद्यमानत्वाच्चोर्जस्विता"। उद्भट ने अपने ही कुमारसंभव काव्य से उसका उदाहरण दिया है—

"तथा कामो स्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम् ।
संग्रहीतुं प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम् ।।"

अर्थात् शिवजी का कामवेग इतना बढ़ गया कि वे सन्मार्ग का परित्याग करके पार्वती को जबर्दस्ती पकड़ने लगे। शृङ्गार में जबर्दस्ती या बलात्कार अनुचित है परन्तु यह अनुचित वर्णन कामावेशयुक्त होने से उद्भट के लक्षणानुसार ऊर्जस्वि अलङ्कार बन गया। उद्भट के इस अभिप्राय का खण्डन करते हुए कुन्तक ने आनन्दवर्धन की निम्न कारिका उद्धृत किया है—

"अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ।।"[1]

तात्पर्य यह है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभङ्ग का और कोई कारण नहीं है। और उद्भट के द्वारा उद्धृत श्लोक में तो अनौचित्य के कारण अलङ्कार नहीं बल्कि

१- ध्वन्यालोक, पृ० २५६ ।

अलङ्काराभाव भी कैसे होगा? पुन: कुमारसंभव से दूसरा उदाहरण देते हैं—

'पशुपतिरपि तान्यहनि कृच्छ्रादगमयद्रि सुतासमागमोत्क: ।
कामपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भाव: ।।'[1]

अर्थात् शिवजी तीन दिन विवाह की तिथि है, इस बात का निश्चय कर लेने पर पार्वती के समागम के लिए उत्सुक तीन दिन बड़ी कठिनाई से व्यतीत किया । जब इस प्रकार का काम विकार उस महान् देवता को सता सकता है तो सामान्य लोगों को क्या बात? आचार्य कुन्तक ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि भरत के मार्ग में अपने को निपुण समझने वाले उद्भटादि विद्वानों ने यह बात कैसे कह डाली? 'भरतनयनिपुणमानसै: + + उदाहरणमेवोर्जितम्'[2]। इस प्रकार इस श्लोक में देवता स्वरूप प्रधान चेतनरूप की उपकृत अतिशययुक्त चित्तवृत्ति विशेषरूप वस्तु मुख्यरूप से वर्ण्यमान् होने के कारण अलंकार्य है, अलङ्कार नहीं ।

आचार्य कुन्तक ने उद्भट और भामह के उदात्त का भी खण्डन किया है । आचार्य उद्भट ने अपने ग्रन्थ काव्यालङ्कारसारसंग्रह में उदात्त का वर्णन किया है—

'चरितं च महात्मनाम ++++ ।
उपलक्षणतां प्राप्तं नैतिवृत्त्व मागतम् ।।'[3]

अर्थात् जहां महापुरुषों का लक्षण प्रधानरूप से वर्ण्यमान न होकर उपलक्षणता को प्राप्त हो वहां उदात्त अलङ्कार होता है । यहां पर वाक्य के मर्म को समझने वाले उद्भटादि विद्वानों को यह जानना चाहिए कि उपलक्षण मात्र से स्थित महापुरुषों के व्यवहार का प्रस्तुत वाक्यार्थमें कोई सम्बन्ध है या नहीं । उनमें से पहले पक्ष में अर्थात् सम्बन्ध है, इस पक्ष में उस वाक्यार्थ में उस महापुरुष के

१- कुमारसंभव, ६।९५ ।
२- वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३७६ ।
३- काव्यालङ्कारसारसंग्रह, ४।१ ।

व्यवहार के लीन न होने से पृथक् रूप से अभिधा द्वारा उपस्थित हुए व्यवहार का उस वाक्यार्थ के अवयवरूप में ही सम्बद्ध मानना उचित है जैसे हाथ आदि का शरीर के अवयवरूप से ही सम्बन्ध होता है। इसमें अलङ्कार भाव का भी परिगणन नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जैसे हाथ, पैर आदि को शरीर का अवयव ही माना जा सकता है, अलङ्कार नहीं, ठीक इसी प्रकार महापुरुषों के चरित्र का प्रकृत वाक्यार्थ अर्थात् जिस वाक्य में उसका वर्णन रहता है, उस वाक्य के अर्थ के साथ अवयवरूप से ही सम्बन्ध हो सकता है। अलङ्काररूप से नहीं। और दूसरे सम्बन्ध नहीं है, इस पक्ष में उस महापुरुष के व्यवहार का सम्बन्ध न होने से दूसरे वाक्य के पदार्थों के समान उस महापुरुष व्यवहार की वहाँ सत्ता ही सम्भव नहीं है, तो उदात्त अलङ्कार का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होना चाहिए। इस प्रकार आचार्य कुन्तक के अनुसार दोनों प्रकार के तथाकथित उदात्त अलङ्कार के स्वरूपों में से किसी को भी अलङ्कार नहीं कहना चाहिए। कुन्तक का कथन है—

"अत्र वाक्यार्थ परमार्थविद्भिरेव पर्यालोच्यताम्। यन्महानुभावानां व्यवहारस्यो पलक्षणमात्रवृत्तेरन्वय: प्रस्तुते वाक्यार्थे क्वचिद् क्रियते वा न वेति। तत्रपूर्वस्मिन् पक्षे तत्र तदलीनत्वाद् पृथगभिधेयस्यापि पदार्थान्तरवत् तदवयवत्वेनैव व्यपदेशो न्याय्य: पाठयादेरिव शरीरे। न पुनरलङ्कारभावो पीति। अन्यस्मिन् पक्षे तदन्वयाभावादेव वाक्यान्तरवर्तिपदार्थवत् तस्य तत्रैव सत्तैव न संभवति किं पुनरलङ्करणत्वाच्चना"[1]।

जहाँ तक समाहित का प्रश्न है, उद्भट की समाहित की परिभाषा भामह की परिभाषा से भिन्न है। भामह के अनुसार 'राजमित्र' नामक (अज्ञात) नाटक में परशुराम को अपने वश में करके क्षत्रियों को नाश से बचाने के लिए परशुराम के पास जाती हुई क्षत्रियों की स्त्रियों को रास्ते में नारद मिल गये। यहाँ समाहित अलङ्कार है —

१- वक्रोक्तिजीवित, सम्पादित डा० नगेन्द्र, पृ० ३८० ।

'समाहितं राजमित्रे यथा क्षत्रिययोषिताम् ।
रामप्रसत्त्यै यान्तीनां पुरोऽदृश्यत नारद ।'— ३।१० ।

आचार्य उद्भट के अनुसार रस, भाव और तदाभास के प्रशम के बद्ध रूप से स्थित होने पर (समाधि काल के समान) अन्य रसादि के अनुभव से शून्य जो है, वह समाहित अलङ्कार है—

'रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् ।
अन्यानुभवनिःशून्या यत् तत् समाहितम् ।'।— ४।१४ ।

इस प्रकार के समाधि का खण्डन आचार्य कुन्तक ने पूर्वोक्त शैली में किया है । अर्थात् इस प्रकार समाहित का भी अलंकार्यत्व ही उचित है । अलङ्कारभाव उचित नहीं है[1] । उद्भट के समाहित का खण्डन करते हुए कुन्तक ने लिखा है—'यदपि कैश्चित् प्रकारेण समाहिताख्यमलङ्कारणमाख्यातं तस्यापि, तथैव भूषणात्वं न विद्यते । तदभिधत्ते प्रकारद्वयशोभिनः' । पूर्वोक्तेन प्रकारेण अनेन व्यापारेण द्वाभ्यां शोभमानस्य समाहितस्यालङ्कारत्वं न संभवति—

'अरुणाः स्फुटाश्रुकलुषाः कणिमाविलीनः
शान्तं च सार्द्रमधरस्फुरणं मृदुत्वया ।
भावान्तरस्य तव गण्डगतोऽपि कोपो
नोद्गाढवासनतया प्रसरं ददाति ।।'

नैतनातनपदार्थभेदभिन्नं स्वाभाविक सौकुमार्य मनोहरं वस्तुनः स्वरूपं प्रतिपादितम् । इदानीं तदेवैक विप्रतिभोल्लिखित लोकोत्तरातिशयशालितया नवनिर्मितिं मनोज्ञता मुपनीयमानमभिधीयते । तथाविध भूषणा विन्यासविहितसौन्दर्यातिशयव्यतिरेकेण भूतत्वनिमित्तभूतं न तद्विदाह्लादकारितानाः कारणम्[2] ।

१- 'तथा समाहितस्यापि प्रकारद्वय शोभिनः' ।— ३।१३ ।

२- वक्रोक्तिजीवित, पृ० ३८२ ।

अर्थात् उद्भट आदि ने अन्य प्रकार से समाहित की जो व्याख्या की है उसका भी उसी प्रकार से अलङ्कारत्व नहीं बनता। जैसा कि कहा गया है— 'प्रकारद्वयशोभिनत्र'। अर्थात् पूर्वोक्त भामह के द्वारा प्रतिपादित प्रकार से और अन्य अर्थात् उद्भट प्रतिपादित द्वितीय प्रकार से और अन्य अर्थात् उद्भट प्रतिपादित द्वितीय प्रकार से दोनों प्रकारों से शोभित होने वाले समाहित का अलङ्कारत्व नहीं बन सकता।

उमड़ते हुए आँसुओं से कलुषित आँखों की रुदनजन्य अरुणाई, क्रोध का आविर्भाव होने से जाती रही, भ्रुकुटि (भौंहों) के चढ़ने के साथ ही साथ होठों का फड़कना भी शान्त हो गया, तुम्हारे गालों तक आया हुआ क्रोध भी प्रबल संस्कार के कारण किसी दूसरे भाव को आने का अवसर नहीं देता।

तात्पर्य यह है कि चेतन और अचेतन पदार्थों के भेद से भिन्न और स्वाभाविक सौन्दर्य से मनोहर वस्तु का प्रतिपादन (३ और ८ कारिका) किया गया था[१]। अब वही कवियों की प्रतिभा के प्रयोग से लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त हो जाने से नवनिर्मित अपूर्व सौन्दर्य को प्राप्त होता हुआ दिखलाया जा रहा है। उस प्रकार के अलङ्कारों की रचना से अत्यन्त सौन्दर्यातिशय के अलावा केवल भूतत्व मात्र के कारण से उत्पन्न सहृदयों की आह्लादकारिता का और कोई कारण नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि भामह और उद्भट आदि आचार्यों ने जो रसवत् अलंकार का प्रयोग किया है, उसमें रस शब्द से मतुप् प्रत्यय करके रसवत् शब्द बनाया गया है। परन्तु कुन्तक ने रसवत् में मतुप् न मानकर 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इस

१- मार्गस्य वक्र शब्दार्थ गुणालङ्कार सम्पदः।
अन्यद्वाक्यस्य वक्रत्वं तथाभिहित जीवितम् ।।— ३।३।
रसोद्दीपन सामर्थ्य विनिबन्धनबन्धुरम्।
चेतनानाममुख्यानां जडानां चापि भूयसा ।।— ३।८।

सूत्र से सादृश्यार्थक 'वति' प्रत्यय माना है। इस प्रत्यय भेद का यह अभिप्राय हुआ कि आचार्य उद्भट के मत में रस से युक्त अलंकार रसवत् कहलाता है। परन्तु कुन्तक के मत में रस के समान आह्लादकारक अलंकार रसवत् कहलाता है। यह हुई आचार्य कुन्तक की रसवत् की परिभाषा। अस्तु कुन्तक के अनुसार 'रसवत्त्व के विधान से सहृदयों के आह्लाददायक होने से जो कोई अलंकार भी रस के समान हो जाता है, वह हमारे मत में रसवत कहलाता है'[१]।

वाग्देवतावतार मम्मट ने भी रस की स्वशब्दवाच्यता को एक प्रकार का दोष माना है। 'व्यभिचारिरसस्थायिभावानां शब्दवाच्यता'। (७।६०) मम्मट ने इनके जो उदाहरण दिए हैं, उन्हें क्रमश: यहाँ दे देना असमीचीन नहीं होगा। व्यभिचारीभाव की स्वशब्दवाच्यता का उदाहरण देते हुए मम्मट ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

'सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे।
सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
सेर्ष्या जिह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टि: शिवायास्तु व:'।।— ७।३२१।

मम्मट के अनुसार इस पद्य को अगर इस प्रकार पढ़ा जाय तो ठीक है—

'व्यानम्रा दयितानने मुकुलिता मातङ्गचर्माम्बरे।
सोत्कण्ठा भुजगे निमेषरहिता चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
मीलद्भ्रूसुरसिन्धुदर्शनविधौ म्लाना कपालोदरे
पार्वत्या नवसङ्गमप्रणयिनी दृष्टि: शिवायास्तु व:'।

१- रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानत:।
योऽलङ्कार: स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मिति:।।'— वक्रोक्तिजीवित- ३।१५।

मम्मट के मतानुसार सव्रीडा, सकरुणा, सत्रासा, सविस्मय रसा, सेर्ष्या तथा दीना आदि के द्वारा विभिन्न व्यभिचारी भावों की स्वशब्दोक्ति होती है जो कि सदोष काव्य का उदाहरण है। इसी प्रकार रस की स्वशब्द अथवा शृङ्गारादि शब्दों से अभिव्यक्ति भी एक दोष है, जैसे—

'तामनङ्गजयमङ्गलश्रियं किञ्चिदुच्चभुजमूललोकिताम्।
नेत्रयोः कृतवतोऽस्य गोचरे कोऽप्यजायत रसो निरन्तरः॥'[1]—७।३२२।

उपर्युक्त श्लोक रस की स्वशब्दवाच्यता का उदाहरण है। रस की शृङ्गारादि से स्वशब्दवाच्यता का उदाहरण निम्नवत् है—

'आलोक्य कोमल कपोल तलाभिषिक्त,
व्यक्तानुरागसुभगामभिराममूर्तिम्।
पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः
शृङ्गारसीमनि तरङ्गितमातनोति॥'[2]—७।३२८।

स्थायीभाव की स्वशब्दवाच्यता का उदाहरण निम्नवत् दिया गया है—

'सम्प्रहारे प्रहरणैः प्रहाराणां परस्परम्।
ठणत्कारैः श्रुतिगतैरुत्साहस्तस्य कोऽप्यभूत्॥'[3]

आचार्य मम्मट के बाद आचार्य विश्वनाथ ने रस की स्वशब्दवाच्यता को रसदोष स्वीकार किया है। उन्होंने इस बात के अधोलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

१- 'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत'।
२- 'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम्'।
३- 'अजायत रतिस्तस्याः त्वयि लोचनगोचरे'।
४- 'जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने'।[4]

१- काव्यप्रकाश, ६।३२२। २- काव्यप्रकाश, ६।३२३।
३- काव्यप्रकाश, ७।३२४।
४- साहित्यदर्पण व्याख्याता डा० सत्यव्रत, पृ० ६११-१२।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जहाँ विभावादि सामग्री अपूर्ण अथवा अपरिपक्व हो अथवा उनका अभाव हो वहाँ यदि शृङ्गार, रति, लज्जा आदि का शब्दों द्वारा कथन कर दिया जाय तो उस वाक्य को स्वरस नहीं कहा जा सकता। वह तो केवल वार्तालाप मात्र है।

परन्तु नाट्यदर्पण के प्रणेता आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने मम्मट और विश्वनाथ से असहमति व्यक्त करते हुए रस को स्वशब्दवाच्यता को ग्राह्य माना है। उन्होंने कहा है—

"केचित् व्यभिचारिरसस्थापिनां स्वशब्दवाच्यत्व रसदोषमाहुः तदप्युक्तम्। व्यभिचार्यादीनां स्ववाचकपदप्रयोगे पि विभावपुष्टौ—

"दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवचने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणम्
चक्षुर्जातमहोप्रपञ्च चतुरं जातागसि प्रेयसि।।"

इत्यादौ रसोत्वदोष एवायम्। तस्माद्व्युत्पन्नोक्तित्वाद् वक्रोक्तिरेवायम्"[1]।

तात्पर्य यह है कि आचार्य उद्भट के द्वारा प्रस्तुत और आचार्य मम्मट के द्वारा सदोष स्वीकृत, इन दोनों पद्यों— 'व्रीडादयितानने' तथा 'तामनङ्गजयमङ्गलश्रियम्' से भी बिना किसी रोक-टोक के रस की निष्पत्ति होती है। ऐसा आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र का मत है।

इस प्रकार उक्त विवेचना से स्पष्ट है कि आचार्य उद्भट जिस युग का प्रतिनिधित्व करते हैं उस युग में रस विवेचन अपनी शैशवावस्था में था। वस्तुतः रस का विवेचन उतना विशद् और वैज्ञानिक नहीं था जितना कि परवर्ती मम्मटादि

१- हिन्दी नाट्यदर्पण, सम्पादित डा० नगेन्द्र, पृ० ३२६।

आचार्यों ने किया है। आचार्य उद्भट ने रस को विवेचना रसवत् अलंकार के रूप में करके उस पर अपने अलंकारवादी स्वरूप की छाप लगा दी है। आचार्य उद्भट ने रस का जिस स्वशब्दवाच्यता का कथन किया था वह अनुचित भले हो हो परन्तु इतना तो अवश्य मानना होगा कि जहां कहीं इन शब्दों के प्रयोग के बिना काम नहीं चल सकता, वहां भी रस की प्रतीति अबाध रूप से होगी, इस तथ्य में सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। माना कि इनकी स्वशब्दवाच्यता एक दोष है, जिसे स्वयं वाग्देवतावतार मम्मट ने भी माना है, परन्तु मैं तो इतना अवश्य कहूंगा कि माना कि ये दोष हैं तो क्या इस संसार में सभी वस्तुएं निरवद्य हैं? यह प्रश्न भी अपने स्थान पर विशिष्ट महत्व रखता है। ये दोष हो सकते हैं, ऐसा माना जा सकता है, परन्तु अगर समुचित शब्दों के अभाव में कवि ने रसादि का प्रयोग कर ही दिया तो उससे रस की प्रतीति में कोई व्याघात नहीं होगा, ऐसा एक सहृदय सामाजिक के रूप में मेरा अपना विश्वास है। इस दृष्टिकोण से मैं आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र का ही समर्थन करूंगा। प्रसिद्ध विद्वान् डा० नगेन्द्र ने 'हिन्दी नाट्यदर्पण' की भूमिका में लिखा है कि रामचन्द्रगुणचन्द्र की भावना आंशिक रूप से ग्राह्य है, पूर्णतः नहीं। यह बात अपने स्थान पर समीचीन प्रतीत होती है। रसादि की स्वशब्दवाच्यता दोष है, इस दृष्टि से यह बात समीचीन नहीं है परन्तु जहां इसके प्रयोग के बिना काम नहीं चल सकता, वहां रस की प्रतीति में कोई व्यवधान भी नहीं होगा। इस दृष्टिकोण से स्वशब्दवाच्यता हो सकती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि ध्वनि पूर्ववर्ती उद्भटादि आलङ्कारिकों ने रस को रसवदादि अलंकारों में समाविष्ट करके अलंकारों से अधिक महत्व नहीं दिया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने रस की अपूर्व आह्लादकता के कारण रस ध्वनि को उत्तम काव्य के रूप में स्वीकार किया है तथा रस को अलंकार्य कोटि में परिगणित किया है।

इस स्थल पर प्रो० हिरियन्ना की समालोचना का उल्लेख कर देना नितान्त आवश्यक है। उनका कथन है कि ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्यों ने रसवदादि

१- हिन्दी नाट्यदर्पण की भूमिका, पृ० ७१।

अलंकारों के जो उदाहरण ऊपर हैं, उससे तो यही प्रतीत होता है कि रस वाच्य है। किन्तु क्या ऐसा है? इस स्थल पर उन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के अधोलिखित श्लोक की चर्चा की है—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद्भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति।।[1]

उक्त श्लोक में मृगशावक के भय का वर्णन किया गया है जिससे भयानक रस की उद्भूति हो रही है। किन्तु क्या ऐसा भी कोई शब्द इसमें है जो भयानकता को अभिहित कर रहा हो? परन्तु मृगशावक की चेष्टाओं को कवि ने इस रूप में वर्णित किया है, ऐसा सजीव चित्र सामने खींच दिया है कि स्पष्ट प्रतीती होने लगती है कि वह भयभीत है। यही रस की व्यञ्जना है। इस स्थल पर स्वयमेव भयानक रस अभिव्यंजित हो रहा है।

यदि रस वाच्य नहीं है तो वह अर्थापत्तिगम्य है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति के द्वारा जिस तथ्य की अवगति होती है, वह वर्णनात्मक होती है। और वस्तुगत होती है। यह अनुभवात्मक या भावगत नहीं हो सकती। अतः रस को हर स्थिति में व्यङ्ग्य मानना होगा। प्रो० हिरियन्ना का कथन है—

"Hence we may conclude that, in neither case can Rasa be classed under Alankara. If the Rasavadlankara is held to be vachya it will not yield the intended experience but only present its objective accompaniments; if on the other hand; it is taken to be arthapattigamya, the experience to which it deals will be very far from what is meant by Rasa?[2]

१- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १।७।

२- Art Experience, p. 67.

अस्तु, स्पष्ट है कि ध्वनि पूर्ववर्ती उद्भटादि आचार्यों ने रस को रसवद् अलंकार के अन्तर्गत रखकर उसके महत्व को ही नहीं घटाया है अपितु उनका वर्णन इस बात का परिचायक है कि रसगत अनुभूति किस रूप में अभिव्यक्ति पाती है— इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। ध्वनिवादियों की सबसे बड़ी उपलब्धि— व्यंजना व्यापार ही तो है जिसके माध्यम से उन्होंने रसगत अनुभूति को अभिव्यक्ति पथ पर अवतरित करने का सफल प्रयास किया है।

वस्तुत: कवि जितना कहता है, उतना ही उसका अभिप्रेत नहीं होता अपितु उसका मुख्य अभिप्रेत वह है जो वह शब्दों से नहीं कह पा रहा है। यही ध्वनि है। इसी को ध्वनिकार ने प्रतीयमान की संज्ञा दी है। इसीलिए आचार्य मम्मट कहते हैं— "न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस: अपितु रसस्तैरित्यस्ति"[1]

इस प्रकार डा० देशपाण्डे का यह कथन युक्तिसंगत है कि ध्वनि-पूर्ववर्ती आचार्यों को रस का ज्ञान था किन्तु उनका यह कथन कि भरत के रस विवेचन को आधार मानकर, उसकी पुनरावृत्ति न कर 'रसवद्' के द्वारा अध्याहार मान लेना समीचीन नहीं है क्योंकि उद्भटादि की 'रसवद्' अलंकार सम्बन्धी मान्यता तथा भरत की रसप्रक्रिया में पर्याप्त भेद है जो उक्त वर्णन से स्पष्ट है।

आचार्य उद्भट और व्यञ्जना

काव्यशास्त्र में सौन्दर्य को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इसी सौन्दर्य तत्व के अन्वेषण में काव्यशास्त्र की विभिन्न विधाएं सदासर्वदा से संलग्न रहीं। किसी ने काव्यशास्त्र में सौन्दर्य का आधान करने वाले धर्म को अलंकार की संज्ञा दी है, तो किसी ने रीति को काव्य की आत्मा माना है। किसी ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा की संज्ञा दी है तो किसी ने ध्वनि को। तात्पर्य

१- काव्यप्रकाश, पृ० ६४।

यहहै कि काव्यशास्त्र की विभिन्न विधाएं काव्य सौन्दर्य के अन्वेषण में ही व्यस्त दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, काव्य में काव्यात्मक सौन्दर्य ही उसकी आत्मा है। अभिनवगुप्त ने इसी को कलात्मकता के आवश्यक तत्व के रूप में स्वीकार किया है।[१]

परन्तु अलंकारशास्त्र के समस्त सम्प्रदायों में ध्वनि ही एकमात्र ऐसा सिद्धान्त है जो कवि, काव्य और सहृदय तीनों की अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। काव्य का काव्यत्व, उसकी अभिव्यक्ति प्रक्रिया पर आश्रित है तथा यह अभिव्यक्ति काव्य में व्यंजना का कलेवर धारण करके ही सहृदय हृदयाह्लादक हो सकती है। इस तथ्य का सर्वप्रथम उद्घोष ध्वनि सम्प्रदाय में हुआ। ध्वनिसम्प्रदाय में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त समुचित परिपक्व तथा अत्यन्त वैज्ञानिक रूप से विवेचित है तथा सहृदयजनों के अनुकूल है। ध्वनिसम्प्रदाय में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की विवेचना करते समय सहृदयजनों की धारणाओं का विशेष ध्यान रखा गया है।

कोई भी काव्य तबतक उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता जबतक कि उसमें अलौकिक सामान्य अर्थ अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ न हो। जिस प्रकार किसी रमणी के सुन्दर अवयवों से लावण्य फूटता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह अर्थ भी काव्य में व्यक्त होता है। परन्तु यह अंगना लावण्य उसके शरीर के अवयवों में स्थापित रहता हुआ भी उससे नितान्त भिन्न है, उसी प्रकार यह भी काव्य के प्रसिद्ध अंगों से फलकता हुआ भी अन्य ही पदार्थ है। यही काव्य का परम लावण्य है। इस काव्य लावण्य की ओर काव्यशास्त्रियों की दृष्टि तो गयी परन्तु सिद्धान्त रूप में उसका विवेचन आनन्दवर्धन से पूर्व नहीं हो सका। आनन्दवर्धन ने इस काव्य-ला

१- (क) ध्वन्यालोक, पृ० १०४।
   (ख) वही, पृ० ६०।
   (ग) "Therefore, poetic beauty is the real soul of poetic expression. Abhinavagupta accepts that beauty is the essence, the sould of the Art."
   —Some concepts of Alamkar Shastra:Prof. V. Raghavan, p. 287.

लावण्य की बड़ी ही विशद् व वैज्ञानिक व्याख्या की है बाद में आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे और भी पुष्ट किया । आनन्दवर्धन ने काव्यशास्त्रियों को वह आलोक दिया कि काव्य के समस्त तिमिराच्छन्न एवं अनुन्मीलितपूर्व पक्ष उद्भासित हो उठे ।

उल्लेखनीय है कि ध्वनि सिद्धान्त का सैद्धान्तिक एवं विशद् विवेचन आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व न हो सका, परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि इस ध्वनि तत्व की स्थिति पूर्वकाल में नहीं थी । आनन्दवर्धन ने तो स्वयं ही 'समाम्नातपूर्व' के द्वारा ध्वनि की पूर्वस्थिति का संकेत कर दिया है । साथ ही आदिकवि के आदि श्लोक में उसकी सत्ता को भी दिखाने का प्रयास किया है । 'अनुन्मीलितपूर्व' तथा 'स्नातमविदितत्व' कहने से उनका अभिप्राय यह है कि उसका सिद्धान्त रूप में प्रतिपादन उनके पूर्व किसी भी आचार्य ने नहीं किया था । लोचन में अभिनवगुप्त ने भी इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है ।

तात्पर्य यह है कि आचार्य प्रवर आनन्दवर्धन से पूर्व ध्वनि का स्वरूप 'समाम्नातपूर्व' तो था परन्तु साथ ही साथ 'अनुन्मीलितपूर्व' भी था । अर्थात् मौखिकरूप से ध्वनि पर विचार-विमर्श भले होता आया हो परन्तु आनन्दवर्धन से पूर्व उस पर ग्रन्थ नहीं लिखे जा सके थे— 'अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तम् बिना पि विशिष्टपुस्तकेषु विनिवेशनादित्यभिप्राय:'[1]। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ध्वनिकार ने प्राचीन आचार्यों के सम्बन्ध में 'अस्फुटस्फुरित' का उल्लेख किया है । ध्वनि सम्प्रदाय की प्राचीनता का संकेत ध्वन्यालोक की अधोलिखित पंक्तियों में प्राप्त होता है—

> 'विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसत्व:
> ध्वनिसंज्ञित: प्रकार: काव्यस्य व्यञ्जित: सोऽयम् ।।'[2]

१- लोचन, पृ० ११ ।
२- ध्वन्यालोक, ३।३४ ।

"सत्काव्यतत्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदय लाभहेतो,
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधान: "[1]।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट विदित होता है कि ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त प्रसुप्तावस्था में विद्यमान् था । इस प्रकार यह कथन कि ध्वनि का स्वरूप आनन्दवर्धन से पूर्व नहीं था, समीचीन नहीं प्रतीत होता । स्वयं आनन्दवर्धन ध्वनि की प्राचीनता यह कहते हुए स्वीकार की है कि प्राचीनकाल में यह "अनुन्मीलितपूर्व" था । इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय को विशद् विवेचना करने वाले प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन हो जिन्होंने ध्वनि को काव्य को आत्मा कह कर सम्बोधित किया है ।

अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक ने चिरन्तक आचार्यों के प्रतीयमान अर्थ को अलंकाररूप से कहने का रुचि का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है—

"इह हि तावद् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकारा: प्रतीयमानार्थं वाच्योपस्कारकतयालङ्कार पक्ष निक्षिप्तं मन्यन्ते । तथाहि— पर्यायोक्ताप्रस्तुत प्रशंसा समासोक्त्यादौ व्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वा व्योपस्कारकत्वेन "स्वसिद्धये पराक्षेप: परार्थं स्वसमर्पणम्" । इति यथायोगं द्विविधा-भंग्या प्रतिपादित तै: "।

रुद्रटेनापि भावालङ्कारो द्विधोक्त: । रूपक दीपकापह्नुति तुल्ययोगिता दावुपमालंकारो वा वाच्योपस्कारत्वेनोक्त:उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेय: प्रभृता तु रसभाववादिवाच्य शोभाहेतुत्वेनोक्त: । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतयाव्यप्तिमेव"[2]।

१- ध्वन्यालोक, पृ० ३/४४ ।
२- अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ७ ।

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया: लक्षणाया: वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चित् ध्वनिभेदो अलंकारतयैवोक्त: । केवलं गुण विशिष्ट पदरचनात्मिका रीति: काव्यस्यात्मकत्वेनोक्ता ।

उद्भटादिभिस्तु गुणालङ्काराणां प्रायशो साम्यमेव सूचितम् विषय-मात्रेणभेद प्रतिपादनात् । संघटना धर्मत्वेन चेष्टे: । तदेवमलङ्कारा एव काव्ये प्रधानं इति प्राच्यानां मतम्[1]।

इस प्रकार ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आलंकारिकों में ध्वनिसिद्धान्त के बीज यत्र-तत्र बिखरे हैं। काव्यशास्त्र में ध्वनि का आविर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि एक क्रमिक विकास का परिणाम है जैसा कि प्रो० विश्वनाथ भट्टाचार्य का मत है—

"The approach to Kavy, during the interval, may be said to have been from the crude to subtle. Starting with the external factors, the study of poetry developed slowly into a serious and deeper inquiry into all the essential elements. The progress may be pointed out thus: From the Alamkara to the riti, from the Riti to Rasa, and from the Rasa to Dhvani to be the soul of poetry, and the evolution of these schools followed more or less a chronological order"[2].

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीनों ने भी ध्वनि का दर्शन कर लिया था पर वे लोग उसकी उतनी वृहद् व निश्चित विवेचना नहीं कर सके जितनी कि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने किया था। और उन्होंने उसे काव्य का प्राणतत्त्व बताया था। प्राचीन मेधायें काव्य के बाह्य पक्ष के ही इतस्तत: मंडराती रहीं।

१- अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ६ ।
२- Principles of Literary Criticism in Sanskrit, p. 180.

अब प्रश्न यह है कि आचार्य उद्भट ने ध्वनि का दर्शन किस प्रकार किया? रसगंगाधर के पर्यायोक्त प्रकरण में पण्डितराज ने लिखा है— "ध्वनिकारात्प्राचीनै-र्भामहोद्भट प्रभृतिभि: स्वग्रन्थेषु क्वापि ध्वनि गुणीभूतव्यंग्यादि शब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकानां वाचोयुक्तिरयुक्तैव । यत: समासोक्ति व्याजस्तुत्यप्रस्तुत प्रशंसाद्यलङ्कार निरूपणेन क्रियन्तो पि गुणीभूतव्यङ्ग्य-भेदास्तैरपि निरूपिता । अपरश्च सर्वो पि व्यङ्ग्यप्रपंच: पर्याय कुक्षौ निक्षिप्त: । न ह्यनुभवसिद्धो ऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतुं शक्यते । ध्वन्यादिशब्दै: परं व्यवहारो न कृत: न ह्येतावतानङ्गीकारो भवति"[1]।

अर्थात् ध्वनिकार के पूर्ववर्ती उद्भटादि आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में कहीं पर भी ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि उन्होंने ध्वन्यमान अर्थ की सत्ता स्वीकार नहीं की है जैसा कि आधुनिकों का मत है। क्योंकि उन्होंने भी समासोक्ति, व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारों के निरूपण द्वारा कुछ गुणीभूतव्यंग्य के भेद प्रस्तुत किए हैं तथा समस्त ध्वनिप्रपंच का पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव किया है। ध्वन्यमान अर्थ को छिपाया नहीं जा सकता। क्योंकि वह तो अनुभवसिद्ध वस्तु है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने ध्वनि आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया, केवल इतने से ही ध्वनि की अस्वीकृति नहीं मानी जा सकती।

स्वयं आनन्दवर्धन ने भी इसका संकेत इन शब्दों में किया है— "यद्यपि ध्वनि शब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभि: गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चिद् प्रकार: प्रकाशित: तथापि अमुख्य वृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टो ऽपि न लक्षित:"[2]। आनन्दवर्धन के इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन आचार्य व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति गतिशील हो चुके थे किन्तु वे लोग वाच्य अर्थ

१- पण्डितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, टीकाकार पं० श्री मदनमोहन झा, पृ० ३६० ।

२- ध्वन्यालोक, पृ० ८९ ।

की परिधि का उल्लंघन न कर सके। उद्भटादि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूल शरीर पक्ष ही प्रधान रहा। इस पर आनन्दवर्धन का कथन है कि—"अयं च रामायण महाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां सहृदयानां आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते"[1]। तात्पर्य यह है कि लक्षणकर्ताओं के समक्ष ही काव्य का यह अन्तस्तत्व उद्भासित नहीं हुआ था अन्यथा लक्ष्यग्रन्थों में इसकी स्थिति तो आदिकवि के काव्य से ही चली आ रही है। साथ ही आनन्दवर्धन ने प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के बाह्य तत्वों का समुचित रूप से आदर करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

इस स्थल पर निष्कर्ष यह निकलता है कि उद्भटादि प्राचीनों ने ध्वनि (व्यंजना) का मनाक् स्पर्श ही किया था। इसी स्थल पर संक्षेप में श्री आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा विवेचित ध्वनि के स्वरूप का दिग्दर्शन करा देना असमीचीन न होगा। वस्तुत: ध्वनि शब्द एवं अर्थ से भिन्न सर्वथा अलक्षणीय पदार्थ है। यही कारण है कि किन्हीं-किन्हीं महाकवियों की वाणी में ही यह प्रतीयमान अर्थ सिद्ध होता है। और इसके समावेश से कवि की वाणी धन्य होकर अलौकिक चमत्कार की सर्जना करती है[2]। इस अलौकिक अर्थ का ज्ञान मात्र शब्दकोष की सहायता से नहीं हो सकता, इसके लिए सहृदयता अपेक्षित है[3]। बिना शब्दार्थ के ज्ञान से उस अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है, उसके उत्तर में आनन्दवर्धन का कथन है कि जिस प्रकार आलोक का अभ्यर्थी दीप, तैल और बत्ती जुटाता है, उसी प्रकार व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए वाच्यार्थ साधन मात्र ही है[4]। वस्तुत: "अर्थ अपने उतने

१- ध्वन्यालोक, पृ० ६।

२- "सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु नि:ष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोक सामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभा विशेषम्॥"— ध्वन्या०, १।६।

३- "शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्वज्ञैरेव केवलम्॥"— वही, १।७।

४- "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवाञ्जन:।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत:॥"— वही, १।६।

ही रूप में इतना महत्व प्राप्त नहीं कर लेता जितना शब्द को सुनते ही उपस्थित होता है। उसका समग्र व्यक्तित्व और भी व्यापी है। उसका आयाम अपनी वास्तविकता में केवल उतना ही नहीं है जितना शब्दकोष या शब्दानुशासन के बल पर शब्दशक्ति प्रस्तुत करती है। वह उससे भी बड़ा है। उसके लिए एक दूसरे ही कोष और दूसरे ही व्याकरण की अपेक्षा रहती है। वह कोष है— भावों का कोष और व्याकरण है, संस्कारों का व्याकरण। + + + हृदय का यात्री जब प्रारम्भिक शब्दार्थ के वाह्य प्राचीर को विवक्षा के द्वार से पार करता है और प्रतीति के गर्भगृह तक पहुंचता है तो तात्पर्य के रत्नसिंहासन पर उसी को प्रतिष्ठित पाता है। इस कारण यह अर्थ परवर्ती और प्रातीतिक अर्थ है फलत: इसे प्रतीयमान् की संज्ञा देना अधिक उचित है।[1]

इस प्रकार ध्वनि की विलक्षणता का प्रतिपादन करके आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि की महत्ता सिद्ध किया है। उनका कथन है— 'तस्य हि ध्वने: स्वरूपं सकल सत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तन काव्यलक्षण-विधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वं अथ च रामायण महाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।'

उद्भट ने ध्वनि का मार्ग कैसे प्रशस्त किया?

साहित्य शब्द और अर्थ का समवेत रूप होता है। चिरन्तन आचार्य भामह और दण्डी आदि ने अपनी कृतियों में शब्दों का विश्लेषण किया था, परन्तु अर्थ और उसकी सूक्ष्मता की ओर उनका ध्यान नहीं गया था। उन्होंने अपनी सारी मेधा शब्द वल्लरी को सुसज्जित करने में लगा दिया था। विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित शब्दावली ही उनकी दृष्टि में उत्तम काव्य कहलाती थी।

१- आनन्दवर्धन: डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६३।

परन्तु शब्दों से निकलने वाले विभिन्न अर्थों की सूक्ष्मता उनकी दृष्टि में नगण्य थी और न ही उन्होंने उसको ओर दृष्टिविक्षेप किया ।

परन्तु चिरन्तन आचार्यों में उद्भट ही एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने अर्थ पर दृष्टि डाली और अर्थ के एक से अधिक प्रकारों का विश्लेषण किया । इस बात का पता हमें ध्वन्यालोक से चलता है, जैसा कि आगे कहा जा चुका है । भामह विवरण नामक टीका लिखते समय उन्होंने 'शब्दश्छन्दोभिधानार्थाः' कहने की कोशिश की है और कहा है कि शब्द के दो प्रकार होते हैं— शब्द और अभिधान । साथ ही साथ आचार्य उद्भट ने यह समझाने की चेष्टा की है कि काव्य में मुख्य अर्थ के साथ गौण अर्थ भी विद्यमान् रहता है । शायद इसी कारण आनन्दवर्धन ने 'मनाक्स्पृष्टो पि न लक्षितः' कहा है । इस बात से यह स्पष्ट है कि उद्भटाचार्य की सूक्ष्म दृष्टि ने पश्चाद्विकस्वर ध्वनिमार्ग का थोड़ा स्पर्श किया था । अलंकारवादी उद्भट वस्तुतः सहृदय थे । उन्होंने उस अलौकिक अर्थ की कल्पना करके इस बात का परिचय दिया कि वे आचार्य ही नहीं अपितु सहृदय भी हैं क्योंकि वह अलोकसामान्य अर्थ सहृदयों के हृदय में ही उद्भासित होता है । परन्तु वह युग जिसका प्रतिनिधित्व आचार्य उद्भट करते हैं, वह काव्य का आदिकाल था । उस युग में काव्य के वाह्य चाकचिक्य और पाण्डित्यप्रदर्शन को विशेष महत्व दिया जाता था । इसीलिए शायद आचार्य उद्भट ने उस अलौकिक अर्थ को जानते हुए भी उतना विशद् और सूक्ष्म विवेचन नहीं किया है जितना कि आनन्दवर्धन ने किया है । 'तथापि गुणवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक्स्पृष्टो पि न लक्षित इति'[1] फिर भी आचार्य उद्भट ने ध्वनि की एक झीनी झलक प्राप्त कर ली थी । आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है— 'दर्शयतेति । भट्टोद्भटवामनादिना । भामहोक्तं— 'शब्दश्छन्दोभिधानार्थाः' इत्यभिधानस्य शब्दस्य भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे 'शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारः मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति । वामनो पि सा सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'[2]

1- ध्वन्यालोक, पृ० १० ।

2- ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १० ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य उद्भट ने अमुख्य या गौण अर्थ की कल्पना की थी और आचार्य वामन ने इसे लक्षणा के रूप में परिकल्पित किया था। यह किसी शब्द का गौण अर्थ होता है परन्तु कालान्तर में स्थिति और स्पष्ट हो उठी। जिस अमुख्य या गौण अर्थ की परिकल्पना आचार्य उद्भट आदि आलङ्कारिकों ने की थी, कालान्तर में उसी का बहुत ही विशद् विवेचन हुआ और वही ध्वनि के रूप में काव्यमर्मज्ञों के समक्ष आया। इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य उद्भट ने परवर्ती ध्वनिवादियों का मार्ग प्रशस्त किया था। उन्होंने जिस अमुख्य अर्थ के बीज का वपन किया था, वही बाद में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुआ।

इस आधार पर आचार्य उद्भट ने शास्त्र और काव्य में भेद माना है जैसाकि आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है— "अस्तुनाम निस्सीमा अर्थसार्थ:। किन्तु द्विरूप एवासौ विचारित सुस्थ: अविचाररमणीय:। तयो: पूर्वमाश्रितानि शास्त्राणि तदुत्तरं काव्यानि"[1]। काव्यमीमांसा में उद्भट के मत का उल्लेख करते हुए राजशेखर का कथन है कि वे अर्थ के दो रूपों को मानते हैं—

(१) विचारितसुस्थ

(२) अविचारितरमणीय

पहले को शास्त्र और दूसरे को काव्य कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार की बात व्यक्तिविवेक की टीका में कही गयी है कि उद्भटादि का यह सिद्धान्त है कि काव्य का शास्त्र एवं इतिहास आदि से जो व्यतिरेक है[2], वह शब्द और अर्थ की विशेषतावश न कि अभिधा की विशेषतावश। काव्यमीमांसाकार ने इस मत की आलोचना की है और यह बताया है कि इनकी इस बात को मानने से समस्त काव्यगत अर्थ ही असत्य एवं अप्रामाणिक माना जाने लगेगा[3]।

१- काव्यमीमांसा, पृ० ४४।

२- व्यक्तिविवेक व्याख्यान।

३- काव्यमीमांसा।

आचार्य उद्भट ने 'अवगम' नामक एक महत्वपूर्ण अर्थशक्ति का वर्णन किया है। यह बात जब हम उद्भट के पर्यायोक्ति के विषय में पढ़ते हैं तो जानने में सक्षम होते हैं। इसका अर्थ होता है— शक्ति जो शब्द को मुख्य शक्ति अभिधा से सर्वथा भिन्न होता है। आचार्य उद्भट ने कहा है—

> 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
> वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना'।।

आचार्य रुद्रट ने भी इस अवगमात्मक व्यापार का उल्लेख किया है। जहां तक उद्भट का प्रश्न है, उनके विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त दोनों ने उल्लेख किया है।। उद्भट ने अलंकारध्वनि का निरूपण भामहविवरण में किया है, भले ही वे उसे अलंकार ध्वनि कहने को तैयार न हों— 'अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितः तत्रभवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः'[1]। आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में उल्लेख किया है— 'तदयमर्थः वाच्यालङ्कारविशेषविषये पि अन्यो लंकारविशेषः भातीत्युद्भटादिभिः उक्तं इत्यर्थशक्त्या अलङ्कारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव । केवलं ते अलङ्कारलक्षणकारत्वाद् वाच्यालङ्कार विषयत्वेन आहुरिति भावः'[2]।

जब आचार्य आनन्दवर्धन के नेतृत्व में ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि की स्थापना की तो कतिपय परम्परावादी आचार्यों ने ध्वनिवाद का पर्याप्त विरोध किया। अनेक परम्परावादी आचार्यों ने ध्वनि का दर्शन तो किया परन्तु उन्होंने उसका गुणों या अलङ्कारों में अन्तर्भाव माना है। आचार्य उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज भी ऐसे ही व्यक्ति हैं जिन्होंने ध्वनि का अन्तर्भाव अलंकारों में माना है। प्रतिहारेन्दुराज भी परम्परावादी आचार्य हैं। उन्होंने कहा है—

१- ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १०८ ।

२- वही ।

"स (प्रतीयमान:) कस्मादिह नोपदिष्ट:? उच्यते एष्वेव अलङ्कारेषु अन्तर्भावात्"।[1]

इन अलङ्कारान्तर्भाववादियों ने वस्तु ध्वनि को पर्यायोक्तालङ्कार में अन्तर्भाव करने की चेष्टा की है। जहाँ तक पदध्वनि का प्रश्न है, प्रतिहारेन्दुराज ने उसका पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव कर लिया है जैसे— "रामोऽस्मि सर्वं सहे"। इसके लिए प्रतिहारेन्दुराज को पर्यायोक्त की एक अलग श्रेणी बनानी पड़ी। अर्थात् वाक्यगत और पदगत पर्यायोक्त— "न खलु पदे पर्यायोक्तेन न भवितव्यमितीयं राजशास्त्रकार वचनं वा"।[2]

तात्पर्य यह है कि उद्भटादि अलंकारवादी पूर्वाचार्यों ने ध्वनिमार्ग का ईषत् स्पर्श किया था। भामह पर टीका लिखते हुए आचार्य उद्भट ने कहा है कि काव्यशास्त्र के पूरक हैं, शब्द और अभिधान। अभिधान से हमारा तात्पर्य दो प्रकार के अर्थों से है— मुख्य और गौण। गौण अर्थ की अलंकार में किस प्रकार की उपस्थिति हो सकती है। इस बात की विवेचना आचार्य उद्भट ने भामहविवरण में अवश्य की होगी परन्तु दुर्भाग्यवश वह अब प्राप्त नहीं है। काव्यालङ्कारसारसंग्रह में एक स्थल पर आचार्य उद्भट ने यह कहा है कि रूपक में गुणवृत्ति होती है। जिस स्थल पर उद्भट ने यह दिखाया है, वह भामह से काफी मिलता-जुलता है—

> श्रुत्या सम्बन्धविरहाद् यत्पदेन पदान्तरम्।
> गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्[3]।

दार्शनिक साहित्य में गुणवृत्ति का आख्यान उद्भट से बहुत पूर्व हो चुका था। किन्तु काव्यशास्त्र में इसका बीजारोपण दण्डी के समाधिगुण और वामन के वक्रोक्ति अलंकार के साथ हुआ।

1- प्रतिहारेन्दुराज, पृ० ७६।

2- वही, पृ० ८२।

3- काव्यालङ्कारसारसंग्रह, १।१६।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्वनि का आविर्भाव प्राचीनयुग में हो चुका था। आचार्य उद्भट ने ध्वनि का दर्शन किया था परन्तु उनकी वह परिकल्पना बाद में मूर्त हुई और आनन्दवर्धन ने उसकी वृहद् विवेचना की। अस्तु ध्वनि सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य आनन्दवर्धन ही समझे जाते हैं। बाद में अभिनवगुप्त ने 'लोचन' के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त की और गहरी पैठ दी तथा मम्मट ने विभिन्न मत-मतान्तरों का खण्डन करके बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से इसे प्रस्तुत किया। ध्वनि पूर्वयुग वस्तुत: अलंकारशास्त्र के विकास का युग है। जिस युग का आचार्य उद्भट प्रतिनिधित्व करते हैं उस युग में प्रमुखता अलंकार को ही दी जाती थी अस्तु, यह युग ध्वनिवाद का शैशवकाल कहा जा सकता है। कोई भी चीज अपने विकासकाल में पूर्ण नहीं होती है। उसमें कुछ कच्चापन और कुछ कमियां अवश्य दृष्टिगोचर होती हैं। ध्वन्युत्तरकाल वस्तुत: परिपक्व काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि को लिए हुए अपने में पूर्ण है।

ध्वनिपूर्वकालीन उद्भटादि काव्यशास्त्रियों ने चूंकि अलंकार का अर्थात् काव्यशरीर का ही प्रमुख रूप से विवेचन किया है इसलिए उन्हें अलंकारवादी आचार्य कहा जाता है और ध्वन्युत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने काव्य के आत्मतत्व पर ही सूक्ष्मरूपेण विचार किया है इसलिए उन्हें अलंकार्यवादी कहा जा सकता है। ध्वनिपूर्वकाल में "सौन्दर्यमलङ्कार" के द्वारा काव्यशोभाकर सभी धर्मों को अलंकार माना गया है। इस प्रकार उनके दृष्टिकोण से अलंकार तो अलंकार है ही, गुण भी उपमादि से पृथक् विशिष्ट अलंकार है। परन्तु ध्वन्युत्तरकाल में अलंकार और गुण दो भिन्न चीजें मानी गयी हैं जिसमें अलंकार काव्य के अनित्य धर्म माने गये हैं और गुण रसगत होने के कारण नित्य धर्म।

ध्वनिपूर्वयुग में उद्भटादि आचार्यों के मत में अलंकार्य तथा अलंकार में भेद न होने के कारण तथा रस का व्यंजकत्व न सिद्ध होने के कारण रस का वास्तविक स्वरूप प्रकट न हो सका परन्तु आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट के द्वारा ध्वनि एवं रस के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन हुआ। आनन्दवर्धन ने

यद्यपि काव्यस्यात्माध्वनि: के द्वारा ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है किन्तु उनका अभिनिवेश प्रमुखता रस पर ही है। इसका संकेत स्थान-स्थान पर तो मिलता ही है 'काव्यस्यात्मा स एवार्थ:' के द्वारा वह अधिक स्पष्ट हो जाता है।

चिरन्तन उद्भटादि आचार्यों ने काव्य में अलंकार को ही प्रमुखता दी है। भामह ने तो यहां तक कहा है कि 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्'[1]। तथा रस, भाव आदि का अलंकार में ही अन्तर्भाव कर दिया है। उद्भट तो गुणों एवं अलंकारों में भेद गड्डरिका प्रवाह के सिवा कुछ मानते ही नहीं परन्तु ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को केन्द्र में रखकर उसे ही काव्य में आत्मत्वेन प्रतिष्ठित करके गुण, रीति तथा अलंकार आदि का विचार किया है। यही कारण है कि ध्वनिकाल में अलंकार सम्बन्धी पूर्वोक्त धारणा में आमूलचूल परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। इस युग में अलंकार काव्य का व्यापक नहीं अपितु व्याप्य तत्व मात्र रह गया है—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं ये ङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्ते नुप्रासोपमादय: ।'[2]

कथन का तात्पर्य यह है कि अलंकार रसमुखापेक्षी हो गये। साथ ही साथ ध्वन्युत्तरकाल में गुणों एवं अलंकारों में भी स्पष्ट पार्थक्य भी निर्दिष्ट किया गया जैसाकि पूर्व अध्याय में हम विवेचित कर चुके हैं।

इस प्रकार जिस अलंकार को उद्भटादि विद्वानों ने आत्मस्थानीय माना है, उन्हें ध्वन्युत्तरकाल में अङ्गत्व भी नहीं प्राप्त हो सका। वे अङ्गों के भी आश्रित माने जाने लगे जैसे कटककुण्डल आदि हाथ एवं कानों के आश्रित रहते हैं। चिरन्तन आचार्यों ने जिस गुण को अलंकार के एक अंग के रूप में गृहीत किया था,

---

१- काव्यालङ्कार, १।१३ ।
२- वही, ८।६७ ।

वह ध्वन्युत्तरकाल में अलंकार से स्वतंत्र हो गया तथा अंगी रसादि के आश्रित होने से एवं काव्य में उसकी नियत स्थिति मान्य होने से उसकी महिमा अलंकारों की अपेक्षा बढ़ गयी ।

इस प्रकार जैसा कि पूर्वोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु यह एक क्रमिक विकास का परिणाम है । सर्वथा यह कह देना भी युक्तिसंगत नहीं है कि ध्वनिकार ने सर्वथा किसी अभिनव सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की है जो अबतक प्रतिपादित नहीं हुई थी । चिरन्तन आचार्यों तथा ध्वनिकार में अन्तर मात्र प्राधान्य को लेकर है । ध्वनि पूर्वकालीन आचार्यों ने जिन तत्वों को प्रधान स्थानीय माना है, उनको ध्वनिकार ने गौणस्थानीय माना तथा ध्वनि की प्रधानत्वेन स्थापना की । इसीलिए हम देखते हैं कि ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक में अनेक स्थानों पर प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है—

'यद्यपि च ध्वनि शब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चिद् प्रकार: प्रकाशित: तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गमिनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित: इति परिकल्प्यैवमुक्तम् भाक्तमाहुस्तमन्ये इति'।[1]

अर्थात् भामह के "शब्दश्छन्दोऽभिधानार्थ" के प्रसङ्ग में शब्दानामभिधानमभिधाव्यापार: मुख्यो गुणवृत्तिश्च" लिखकर काव्यों में गुणवृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले भट्टोद्भटादि ने ध्वनिमार्ग का थोड़ा सा स्पर्श करके भी उसका लक्षण नहीं किया है ।

१- ध्वन्यालोक, पृ० ६ ।

आचार्य उद्भट और रीति

जैसा कि पूर्वकृत विवेचनाओं से स्पष्ट होता है कि काश्मीर नरेश जयापीड के शासनकाल में अनेक विद्वान् हो चुके हैं। राजतरंगिणी में इस बात का उल्लेख आया है कि आचार्य उद्भट जयापीड के सभापति थे। उनकी सभा में कवियों के रूप में मनोरथ, शंखदत्त चटक और संधिमान् तथा मंत्रियों में वामन का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था[१]। कुट्टनी मत के प्रणेता दामोदरगुप्त भी समसामयिक हैं। आचार्य वामन के मतों का गहन अनुशीलन करने से प्रतीत होता है कि उन्होंने भामह तथा उद्भट द्वारा समादृत अलंकारवाद को सर्वथा अस्वीकार किया है। व्यापक अर्थ में वामन ने अलंकार शब्द को ग्रहण किया है और काव्य की उपादेयता भी अलंकार के कारण स्वीकार किया है परन्तु उद्भटादि अलंकारिकों की भांति उन्होंने काव्य में अलंकार को उतना महत्व प्रदान नहीं किया है। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा के पद पर प्रतिष्ठित किया है।

जैसा कि हमने इसके पूर्व उल्लेख किया है कि काव्यशास्त्र की विभिन्न विधाएं काव्य सौन्दर्य के अन्वेषण में प्रयत्नवान् रही हैं। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से काव्य की आत्मा का उल्लेख किया है। महामहोपाध्याय पी०वी० काणे ने अपनी कृति "हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स" में लिखा है कि—
"What is the soul of peotry? To this question various answers have been given by several schools. औरों की भांति आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा माना है।

जैसा कि स्पष्ट है कि आचार्य वामन तथा उद्भट समसामयिक हैं लेकिन वामन ने कहीं भी उद्भट का नामोल्लेख नहीं किया है। उद्भट की समस्त

१- मनोरथ: शंखदत्तश्चटक: संधिमांस्तथा।
बभूवु: कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मंत्रिण:॥—राजतरंगिणी, ४।४९७।

कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं । अस्तु यह अधिकारपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने वामन का उल्लेख किया है या नहीं? तथापि उद्भट की जो भी कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें कहीं भी उन्होंने वामन का उल्लेख नहीं किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि समसामयिक तथा एक ही राजाश्रित होने के कारण ये दोनों आचार्य परस्पर प्रतिस्पर्धी रहे हों और इसी कारण एक दूसरे का नामोल्लेख न करते हों ।

रीतिवाद के प्रवर्तक आचार्य वामन का भी अपना पृथक् व्यक्तित्व है । आलंकारिक उद्भट से वे किसी भी माने में कम नहीं हैं । उद्भटादि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूल शरीर ही प्रमुख था परन्तु वामन ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम काव्य की आत्मा की कल्पना की थी । उल्लेखनीय है कि आत्मतत्त्व की गवेषणा सर्वप्रथम वामन ने ही "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर की थी जैसा कि डा० एस०के० डे ने लिखा है—

"The enquiry as to what is the 'soul' or essence of poetry is for the first time definitely posed and systematically worked out by Vaman; his predecessors, to whom the 'body' or poetry was more important, never having travelled themselves with his question Vaman lays down in clear terms; 'ritiratma kavyasya' the Riti is the soul of poetry and working out this figurative description he points out that the word (Sabda) and its sense (artha) constitute the 'body' of which the soul is the Riti".[1]

---

1. S.K. De: History of Sanskrit Poetics, p. 90

तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और रीति काव्य का आत्मा है। यही काव्य में अलौकिक चारुता का आधान करती है। वामन ने इस काव्यगत चारुता को सौन्दर्य के नाम से अभिहित किया है। यह सौन्दर्य दोषों के त्याग और गुणापादान से आता है। उन्होंने "सौन्दर्य मलङ्कारः" के द्वारा सौन्दर्यमात्र को अलंकार माना है एवं काव्य की ग्राह्यता अलंकारसापेक्ष मानी है— "काव्यग्राह्यमलङ्कारात्"। इस प्रकार वामन अलंकार को एक विस्तृत अर्थ प्रदान किया है। यह तो स्वरूपगत सौन्दर्य की बात भी वामन ने कही है।[1] "रीतिरात्माकाव्यस्य", "विशिष्टा पदरचना रीतिः" तथा "विशेषोगुणात्मा" कह कर संघटनागत सौन्दर्य का स्रोत वामन ने गुण को माना है। इन गुणों में अतिशयता के साधक के रूप में अलंकारों को स्वीकार किया है— "तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः"।[2] उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अलंकार साध्य और साधक दोनों हैं— अलङ्कृतिरलङ्कारः तथा अलङ्क्रियते नेन इति अलङ्कारः।

उद्भटादि आलंकारिकों ने काव्य में प्रमुख स्थान अलंकारों को ही दिया है परन्तु वामन ने उन्हें काव्य का बाह्य पक्ष ही स्वीकार किया है। इस प्रकार आचार्य वामन ने मुख्यरूप से अपना ध्यान काव्य की आत्मा की ओर ही केन्द्रित किया है। परन्तु वामन ने अलंकारों का निरूपण न किया हो, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अलंकारों को काव्य में सौन्दर्य का अतिशायक मानते हुए उनका बड़ा ही विशद् निरूपण किया है। उनके अनुसार अलंकार शब्द तो वस्तुतः सौन्दर्य का ही वाचक है। इसीलिए वामन ने उद्भटादि आलंकारिकों के परम्परागत मार्ग से हटकर सर्वथा पृथक् सहज सौन्दर्य का समादर किया है। वे भामह के इस दृष्टिकोण "न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्"। से भी सहमत नहीं हैं। तात्पर्य यह है कि वे कथमपि अलंकारों को प्राधान्य देने के निमित्त तैयार नहीं हैं।

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।२।६।

२- वही, ३।१।२।

वामन की धारणा तो यह है कि युवती यदि सौन्दर्यरूप गुण से सम्पन्ना है तो अलंकारविहीना होने पर भी शोभित होगी और सौन्दर्यविहीना नारी स्वालङ्करणभूषिता होने पर भी सुन्दर नहीं लगेगी:—

युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ।।
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ।।[1]

वामन की उक्त सौन्दर्य दृष्टि अत्यन्त विशुद्ध एवं वैज्ञानिक है । इस सौन्दर्य दृष्टि से प्रभावित होकर डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी ने ध्वनिवादी एवं रसवादी आचार्यों की दृष्टि को भी खण्डदृष्टि माना है । डा० द्विवेदी के मतानुसार इन आचार्यों में सौन्दर्य की वह समग्र दृष्टि नहीं है जो वामन में है । ध्वनि सौन्दर्य नहीं अपितु सौन्दर्य साधन है । इसी प्रकार रस काव्यतत्व नहीं, अपितु सहृदयगत धर्म है । वस्तुत: अलंकारसंज्ञा एक समग्र संज्ञा है । ठीक वैसी ही जैसी ब्रह्मसंज्ञा । 'ब्रह्म' ही 'अलं' है और 'अलं' ही 'ब्रह्म' । शब्दसृष्टि में 'अ' से लेकर 'ह' तक की जो प्रत्याहार प्रक्रिया है, वह यदि वाग्विभव की समग्रता के लिए सक्षम शास्त्रीय परिभाषा है, तो कोई कारण नहीं कि उसे ब्रह्मतत्व से भिन्न माना जाय, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों सारस्वत समुद्र की दो उर्मियां हैं जो परस्पर में अभिन्न हैं क्योंकि दोनों ही अपने मूल रूप में समुद्र हैं।[2]

वामन की अलंकार सम्बन्धी उक्त धारणा का व्यापक अनुशीलन करने के उपरान्त 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' । तथा 'रीतिरात्माकाव्यस्य' में दृष्टिगत होने वाले विरोधाभास का परिहार हो जाता है क्योंकि रीति का

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३।१।२ ।
२- वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति की केवल प्राकृत व्याख्या में डा० रेवाप्रसाद द्विवेदीकृत भूमिका, पृ० ११ ।

आधारभूत जो 'गुण' है वह भी तो व्यापक दृष्टि से अलंकार ही है। किन्तु स्पष्ट है कि वामन ने सौन्दर्य की व्यापक दृष्टि का संकेत किया है किन्तु उसकी कोई विशद् व्याख्या नहीं प्रस्तुत की है। उनके काव्य का आत्मभूत गुण घूम-फिर कर शब्दार्थ की सीमा में ही सिमट जाता है— ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः[1]।

इन सबके बावजूद भी आचार्य वामन ने परवर्ती विचारसरणि को बहुत अधिक प्रभावित किया है, सौन्दर्य को वे जिस व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहते थे, ऐसा प्रतीत होता है ध्वनि सिद्धान्त का वही उत्स है। यही कारण है कि 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्' कह कर भी वामन अलंकारवादी आचार्य नहीं माने जाते। क्योंकि वामन ने सर्वदा अलंकार को साध्य के रूप में ग्रहण किया है। जहां उन्हें साधन 'तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः' के रूप में माना है वहां उनकी अनित्यता भी स्वीकार की है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से वामन और उद्भट में सर्वथा एक मौलिक विभेद दृष्टिगोचर होता है। जहां उद्भट काव्य में अलंकारों को ही सर्वस्व मानते हैं, वहीं वामन ने अलंकारों को प्रमुखता नहीं दी है। उनका दृष्टिकोण अत्यधिक सूक्ष्म है। उन्होंने काव्य के 'आत्मतत्व' का दर्शन किया था और उसका मनाक् स्पर्श किया था। इस आत्मतत्व को वे भले ही विशद् और वैज्ञानिक व्याख्या नहीं कर सके हैं लेकिन इतना निःसंकोच कहा जा सकता है, परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों के वे पथप्रदर्शक हैं। उनकी आत्मतत्व की विवेचना ही शायद ध्वनि का उत्स है। उनकी काव्य के आत्मतत्व की परिकल्पना वह प्रथम सोपान है जिस पर पदन्यास करके ही शायद ध्वनिकार ने सहृदय हृदयाह्लादक अलौकिक सामान्य आत्मतत्व का विशद् विवेचनकिया है। यही वामन की गरिमा है और यही उनकी विशिष्टता है।

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३।१।१।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य वामन ने काव्य में अलंकारों को प्राधान्य न देकर उन्हें द्वितीयक तत्व (Subsidiary)माना है। डा० एस०के० डे के मतानुसार— "After gunas Vaman deals with the poetic figures or Alamkara as element of subsidiary importance"[1].

आचार्य वामन ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने गुणों एवं अलंकारों में भेद माना है। भामह इस तथ्य से उदासीन थे। दण्डी इसे स्वीकार नहीं करते। परन्तु आचार्य उद्भट ने गुणों एवं अलंकारों में अभेद माना है। उन्होंने भेदवादियों पर 'गड्डरिकाप्रवाह' कहकर बड़ी ही कटु आलोचना की है। उनकी यह आलोचना वामन के प्रति भी हो सकती है क्योंकि वे उनके समसामयिक आचार्य थे।

यद्यपि यह सत्य है कि वामन ने 'काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्' कहकर इस दृष्टिकोण से अलंकारों को काव्य का आवश्यक धर्म माना है परन्तु उनका अलंकारों का वर्णन संकीर्ण नहीं है। उनके मतानुसार अलंकार काव्य में सौन्दर्य के आधायक होते हैं। 'सौन्दर्यमलङ्कारः'। उन्होंने अलंकारों को प्रधान्य न देकर उन्हें द्वितीयक स्थान दिया है। उनका कथन है— 'अलङ्कृतिरलङ्कारः करण-व्युत्पत्या पुनरलङ्कार शब्दो यमुपमादिषु वर्तते'। वामन ने काव्य में अलंकारों को अपरिहार्य तत्व नहीं माना है। उनके मतानुसार काव्य की ग्राह्यता उसके सौन्दर्य से होती है। उनके मतानुसार सौन्दर्य को परिभाषाबद्ध करना कठिन है। वामन ने रीति तथा उसके धर्म गुण को काव्य का सौन्दर्य उत्पादक तत्व माना है। इस दृष्टिकोण से वामन ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने गुण एवं अलंकारों के भेद का अत्यन्त सूक्ष्म एवं विशद विवेचन किया है।

वामन के मतानुसार गुण रीति के अपरिहार्य धर्म हैं जो काव्य में शोभाधायक तत्व हैं— 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः' परन्तु अलंकार काव्य शोभा

---

1. S.K. De: History of Sanskrit Poetic, p. 99.

में अतिशायक हैं— "तदतिशय हेतव:" उनके अनुसार गुण नित्य हैं और अलंकार अनित्य। क्योंकि गुणों के बिना काव्य के आकर्षण की कल्पना नहीं की जा सकती परन्तु अलंकारों के बिना काव्य में प्रभूत आकर्षण हो सकता है— "तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः"। तात्पर्य यह है कि गुण काव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं जबकि अलंकार संयोग सम्बन्ध से। गुण काव्य की आत्मा (रीति) से सम्बन्धित हैं जबकि अलंकार शब्द और अर्थ से सम्बन्धित हैं और वाह्य चाकचिक्य के विधायक हैं। गुणों के अभाव में मात्र अलंकार काव्य में सौन्दर्य के आधायक नहीं हो सकते परन्तु अलंकारों के अभाव में गुण काव्य सौन्दर्य के आधायक बन सकते हैं। परन्तु यह बात अवश्य है कि वामन ने अलंकारों को सर्वथा तिरस्कृत ही नहीं किया है। वे उन्हें भी काव्य का तत्व मानते हैं।

आचार्य वामन द्वारा अलंकारों का विवेचन अपनी विशिष्ट मव्यता रखता है। वामन ही एक ऐसे प्राचीन आचार्य हैं जिन्होंने अल्पमात्रा में अलंकारों का परिगणन किया है। उन्होंने दो प्रकार के शब्दालंकारों का परिगणन किया है— यमक और अनुप्रास। जहाँ तक अर्थालंकारों का प्रश्न है उन्होंने उपमा को सभी अलंकारों का मूल माना है। यद्यपि उपमा की महत्ता भामह के समय से स्वीकार की जाती थी परन्तु वामन ने उपमा का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन किया है। वामन ने कुल मिलाकर तीस अलंकारों का परिगणन किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रीति को काव्य की आत्मा की उद्घोषणा करके आचार्य वामन ने काव्यशास्त्र में एक क्रान्तिकारी विधा का सूत्रपात किया। वे परम्परागत अलंकारवादियों की परम्परा से एक कदम आगे हैं। आचार्य उद्भट और वामन में यही मौलिक भेद है। जहाँ एक ओर आचार्य उद्भट प्रख्यात अलंकारवादी थे वहीं आचार्य वामन ने अलंकार को द्वितीयक स्थान दिया है। आचार्य वामन ने जिस विचार सरणि का सूत्रपात किया वह बाद में अत्यन्त पीनकाय हो उठी, जिसका दर्शन उक्ति वैचित्र्य के रूप में कुन्तक ने किया और

जिसे ध्वनि की संज्ञा देते हुए ध्वनिकार ने अत्यन्त वैज्ञानिक विश्लेषण किया। प्रो० एस०के० डे ने लिखा है—

"This brief summary of the view of the leading authors of this school will show that the Riti techniques mark a great advance on the Alamkara-doctrine in many points which are common to both these systems but by clearly defining and working out the doctrine of Riti as that distinct characteristic of poetry which sharply separates it from dry philosophical or technical writings; the Riti school seems to have first suggested and started the inquiry (only limited by Bhamaha's theory of Vakrokti) as to what constitutes the essential charm of poetry and anticipated the theory of Vicchitti (or ukti Vaicittrya) elaborated dater by Kuntaka and other adherents of the Alamkara doctrine. The Dwanikara pays an indirect compliment to the Riti school for having first perceived however dimly, the true nature of poetry, although he does not agree with its peculiar theory of Riti".[1]

आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक ही नहीं अपितु रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता व लक्षणकर्ता हैं। वामन के अलावा यद्यपि इसी अर्थ में दण्डी ने "मार्ग" शब्द का प्रयोग किया था किन्तु उन्होंने उसका कोई लक्षण नहीं निर्धारित किया। साथ ही वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य की आत्मा के प्रति जिज्ञासा व्यक्त करके तथा उसके स्वरूप का प्रथम निरूपण करके

1. रीतिरात्मा काव्यस्य, १।२।६।
2. S.K. Dey: History of Sanskrit Poetics, p. 102.

काव्यशास्त्र में एक क्रान्तिकारी युग का सूत्रपात किया था। उन्होंने शब्द और अर्थ को काव्य शरीर मानकर रीति को काव्य की आत्मा माना था। वामन रीति को विशिष्ट पदरचना मानते हैं तथा विशिष्ट का अर्थ गुण युक्त होता है। अत: निष्कर्ष यह है कि गुणसम्पन्न पदरचना ही काव्य की आत्मा है। गुणों का जहाँ तक प्रश्न है वामन ने दण्डी के समान दशगुण तो माने हैं लेकिन उनके शब्दगत और अर्थगत विभाग से २० भेद कर दिए हैं।

एक बात और ध्यातव्य है कि यद्यपि वामन आत्मा की सत्ता तो मानते हैं किन्तु उनका वर्णन उन्हें देहवादी ही सिद्ध करता है। वस्तुत: उनकी काव्यात्मा रीति चार्वाक दर्शन के देहात्मवाद से मिलती-जुलती है। जिस प्रकार प्रत्यक्षवादी चार्वाक अवयव संस्थान को ही आत्मा स्वीकार करते हैं तथा शरीर के नाश के साथ ही वे आत्मा के नाश की भी बात कहते हैं उसी प्रकार वामन भी काव्य को वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली इन तीन रीतियों के अन्दर समाविष्ट करते हैं। यह प्रकरण ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार रेखाओं के अन्दर चित्र समाविष्ट होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रेखाओं के मिट जाने पर चित्र की सत्ता ही समाप्त हो जाती है उसी प्रकार इन रीतियों के अभाव में काव्यत्व की हानि हो जायेगी। वस्तुत: चित्र के साथ काव्य की उपमा देकर वामन ध्वनिवादियों के पर्याप्त सन्निकट आ गये हैं। क्योंकि रेखा ही तो चित्र नहीं होता, अपितु रेखाचित्र की परम साधिका होती है। उसी प्रकार काव्य की अभिव्यक्ति में परमसाधन तो रीति ही है। उनके द्वारा ही काव्य व्यक्त होता है। इस प्रकार वामन प्रतीयमानार्थ का संस्पर्श करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु चूँकि "रीतिरात्माकाव्यस्य" कहकर उन्होंने चूँकि रीति को साध्य मान लिया है, इसलिए यह तथ्य अपने विशद्रूप में सामने नहीं आ सका है।

आचार्य वामन रीति का लक्षण करते हुए "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहते तो हैं किन्तु "विशिष्टापदरचना रीति:" कहकर वे विशेष प्रकार के शब्द

एवं अर्थ तक ही सीमित कर देते हैं। इस प्रकार सब मिला-जुलाकर वामन को देहात्मवादी आचार्य ही कहा जा सकता है। इसीलिए समालोचकों ने वामन को तुलना चार्वाक दार्शनिकों से की है जिन्होंने कि देह को ही आत्मा माना है।

यह सत्य है कि वामन ने जो काव्यात्मा की गवेषणा की है, वह आलोचकों को आलोचना से वंचित नहीं रहा, किन्तु इसे तो अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि काव्यशास्त्र के इतिहास में सर्वप्रथम काव्य को आत्मा की परिकल्पना करके उन्होंने सर्वथा एक नये युग का सूत्रपात किया है और काव्य-शास्त्र को एक नया आयाम दिया है। वामन द्वारा प्रवर्तित यह मान्यता बाद में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तन और उसके विकास में सहायक हुई। इसीलिए काव्य-शास्त्र के इतिहास में वामन का विशिष्ट स्थान है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वयं आनन्दवर्धन ने वामन के रीति सिद्धान्त को मौलिकता की प्रशंसा की है। वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठा-पक के मन में ध्वनि सिद्धान्त की मान्यताएं आविर्भूत हुई थीं किन्तु ये मान्यताएं रीतिकार के मन में शैशवावस्था में थीं और वे उनका व्यक्तीकरण सुष्ठु प्रकारेण नहीं कर सके। आनन्दवर्धन ने कहा है—

> 'अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्वमेतद्यथोदितम् ।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतय: सम्प्रवर्तिता: ॥'

एतद् ध्वनि प्रवर्तनेन निर्णीतं काव्यतत्वमस्फुटस्फुरितं तद् अशक्नुवद्भि: प्रतिपा-दयितुं वैदर्भी-गौडी-पाञ्चाली चेति रीतय: प्रवर्तिता:। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्वमेतद् स्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते।[1]

१- ध्वन्यालोक (३।४७, पृ० ३३०-३१)।

आनन्दवर्धन के ये शब्द रीतिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन की मौलिकता एवं उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व को विवेचना करने हेतु उदाम हैं। इनसे यह स्पष्ट द्योतित होता है कि वामन ने काव्य को आत्मा के रूप में जो परिकल्पना को थी उससे ध्वनिकार भी पर्याप्त प्रभावित हुए थे। जैसा कि हम पहले ही यह विवेचित कर चुके हैं कि काव्य को आत्मा के प्रति सर्वप्रथम ध्यान वामन का ही गया था। वे ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने काव्यात्मतत्व को सर्वप्रथम गवेषणा को थी। वस्तुत: आत्मा हो किसी काव्य को सजीवता का प्रमाण है। बिना आत्मा के शरीर व्यर्थ है। उसी प्रकार आत्मारहित काव्य भी व्यर्थ है। उसे वास्तविक अर्थों में काव्य को संज्ञा नहीं दी जा सकती। काव्य में आत्मा किसे कहा जाय इसकी खोज सर्वप्रथम वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानकर प्रारम्भ को है। वामन ने रीति को गुणों से विशिष्ट माना है। रीति की विशिष्टता गुणों से हो है— "विशेषो गुणात्मा"। इस प्रकार रीति का महत्व गुणाधीन है।

वामन ने वैदर्भी को समस्त गुणों से युक्त माना है। उन्होंने गौडी रीति को ओज तथा कान्तिगुण प्रधान माना है उसमें माधुर्य एवं सौकुमार्य का राहित्य होता है। पांचाली रीति माधुर्य एवं सौकुमार्य गुण प्रधान होती है। उसमें ओज एवं कान्ति गुण का अभाव होता है। इन तीनों रीतियों में वामन ने काव्य को उसी प्रकार आबद्ध माना है, जिस प्रकार विभिन्न रेखाओं में चित्रित चित्र।

समग्र ओज प्रसादादि शब्द एवं अर्थगुणों से युक्त वैदर्भी रीति की वामन ने सर्वतोभावेन प्रशंसा को है। प्रतिभासम्पन्न कवि के लिए एकमात्र उसे ही ग्राह्य बताया है। वे इस तथ्य को कदापि स्वीकार नहीं करते कि गौड़ी एवं पाञ्चाली रीति में काव्यरचना का अभ्यास हो जाने पर व्यक्ति पुन: वैदर्भी के लिए अभ्यस्त हो जायेगा। क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि अतत्व का अभ्यास करने वालों को तत्व की सिद्धि नहीं होती— "न शणसूत्रवानाभ्यासे त्रसरसूत्रवान-

वैचित्र्यलाभः"[१]। अर्थात् सन की डोरी से बुनने के अभ्यास करने पर टसर के सूत्र बुनने में विलक्षणता की प्राप्ति नहीं होती। यहां पर वामन की इस मान्यता से यह बात प्रतीत होती है कि वामन अभ्यास को शक्ति नहीं मानते। रीतियों का नामकरण वामन ने देश के आधार पर किया है क्योंकि तत्तद देशों में तत्तद रीतियों का प्राबल्य होता है जैसा कि डा० एस०के० डे ने लिखा है—

"This makes it probable that the theory of diction peculiar to this school, originally arose from the emperial analysis of the prevailing peculiarities of poetic expression in different places and furnishes another proof of the general a posterion character of discipline itself"[2].

वामन ने गुणों का विभाजन शब्दगुणों एवं अर्थगुणों के दृष्टिकोण से किया है तथा उन्हें अपने ढंग से पारिभाषित किया है।

इसी सन्दर्भ में संक्षेप में वामन द्वारा की गयी गुणों की विवेचना पर भी प्रकाश डाल देना अप्रासंगिक न होगा। गुणों के अनन्तर वामन की अलंकार सम्बन्धी धारणा आती है। भामह एवं दण्डी ने अलंकारों को अत्यधिक महत्व दिया है। उद्भट ने तो अलंकारों को इतना महत्व दिया है कि वे गुणों एवं अलंकारों में कोई भेद मानते ही नहीं परन्तु वामन ने स्पष्टतया गुणों को अलंकार से अधिक महत्व दिया है। वे अलंकारों को गुणों का सहायक मानते हैं। उन्हें गुणों के समकक्ष नहीं मानते। क्योंकि उनके अनुसार गुण काव्य के अनिवार्य तत्व हैं जबकि अलंकार गौण।

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।२।१८ ।
२- S.K.De: History of Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 19.

काव्य की स्थिति अलंकारों के अभाव में भी सम्भव है किन्तु गुणों के अभाव में नहीं, क्योंकि गुण काव्यशोभा के जनक हैं— "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः"। किन्तु अलंकार काव्य की शोभा के जनक नहीं हैं बल्कि वे काव्य की शोभा में वृद्धि करने वाले धर्म हैं। वामन ने गुणों एवं अलंकारों में गुणों को नित्य माना है— "पूर्वे नित्याः"। वामन की गुण सम्बन्धी मान्यता की विशिष्टता यह है कि वह परवर्ती युग में भी मान्य हुई है। ध्वनिवादियों ने भी गुणों को नित्य और अलंकारों को अनित्य माना है। साथ ही वे वामन की इस धारणा से भी सहमत हैं कि गुण काव्यशोभा के जनक हैं तथा अलंकार मात्र उसकी वृद्धि के आधायक तत्व हैं। इससे एक कदम और आगे ध्वनिवादी यह भी स्वीकार करते हैं कि अलंकार सदैव काव्यशोभावर्धक ही नहीं होता। उनका अनावश्यक संगठन काव्य में दोष का भी सृजन करता है तथा कभी-कभी ये अलंकार काव्य में तटस्थ भाव से स्थित रहते हैं। अर्थात् न तो उपकार करते हैं और न रसापकार। कथन का तात्पर्य यह है कि वामन की गुण सम्बन्धी मान्यताएं ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं के बहुत निकट है किन्तु कमी यही है कि वे घूमफिर कर शब्द एवं अर्थ के मोहजाल को नहीं त्याग सके हैं। गुण वस्तुतः रसधर्म हैं जिसे वामन ने शब्दार्थ का धर्म माना है। "ये खलु शब्दार्थयोः धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः"[1]। यह दोष भी उन्हें पुनः खींच कर अलंकारवादी आचार्यों की श्रेणी में खड़ा कर देता है।

यह उल्लेखनीय है कि वामन ने काव्य को अलंकारों के द्वारा ग्राह्य बताया है— "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्"[2] किन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि उन्होंने अलंकार शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया है। वे सौन्दर्यमात्र को अलंकार मानते हैं इसीलिए वृत्ति में इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "अलङ्कृतिरलङ्कारः" अर्थात् अलंकृति अलंकार शब्द का मुख्यार्थ है। यहां स्पष्टतः कारणार्थक "घञ्" प्रत्यय से निष्पन्न करण या साधन रूप उपमादि अलंकारों का निषेध किया

१- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३।१।१।

२- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।१।१।

किया है। यह सौन्दर्य रूप अलंकार दोषों के त्याग तथा गुण एवं अलंकारों के उपादान से कवि सम्पादित कर सकता है[१]।

गुणों को नित्य एवं अलंकारों को अनित्य मानने के कारण कामधेनु टीकाकार ने गुणों की काव्य में स्थिति को समवाय से माना है तथा अलंकारों की स्थिति संयोग से माना है[२]। इसको आचार्य उद्भट ने कड़ी भर्त्सना की है। उद्भट के अनुसार गुण एवं अलंकार में कोई भेद नहीं है। उनमें जो भेद-व्यवहार किया जाता है उसे वे भेड़चाल के समान अविवेकपूर्ण मानते हैं[३]। इस बात का सुविस्तृत निरूपण हमने विगत अध्याय में किया है। किन्तु वामन का गुणों को नित्य एवं अलंकारों को अनित्य कहने का तात्पर्य यही है कि बिना गुणों के मात्र अलंकारों से काव्य में शोभा नहीं आ सकती।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि रीति सम्प्रदाय अलंकारसम्प्रदाय से एक कदम आगे बढ़ गया है। रीति सम्प्रदाय में अन्य समस्त विशेषताओं के साथ रस को भी अर्थगुण कान्ति के माध्यम से विशेष स्थान प्राप्त हुआ है[४]। सम्भवतः नाट्य के प्रति अनुराग ने ही वामन को रस की अनिवार्यता के प्रति आकर्षित किया है। क्योंकि वामन प्रबन्ध काव्यों में नाटक आदि दस प्रकार के रूपक को श्रेष्ठ मानते हैं[५]। क्योंकि यह दस प्रकार का रूपक चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त होने के कारण चित्ररूप है। "ततो न्यभेदक्लृप्तिः"[६]।

१- "स दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्"। — १।१।३।

२- "अतो मन्यामहे गुणत्वादोजः प्रभृतीनामात्मनि समवायवृत्त्या स्थितिरलङ्कारत्वाद्यमकोपमादीनां शरीरे संयोगवृत्त्या स्थितिरिति ग्रन्थकारस्याभिमतमिति।" — कामधेनुटीका, पृ० ८५।

३- काव्यप्रकाश, पृ० ३८४।

४- "दीप्तरसत्वं कान्तिः" ३।२।१५।

५- "सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः" १।३।३०।

६- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।३।३२।

उससे क्या आख्यायिका एवं महाकाव्यादि जो काव्य के भेद हैं, वे सभी दशरूपक के ही प्रपञ्च हैं, ऐसा माना जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्य-शास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने नाट्य में रसों की स्थिति पर विशिष्ट बल दिया है। यह बात दूसरी है कि वामन रस को स्वीकार करते हुए भी उसे प्राधान्य न प्रदान कर सके, जिससे उनका सिद्धान्त शब्दार्थ तक ही सीमित रह गया। यही कारण है कि वामनोपरान्त रीति सिद्धान्त को प्रोत्साहित करने वाले किसी आचार्य का अभ्युदय नहीं हुआ। किन्तु अल्पकाल में ही इसने परवर्ती सिद्धान्तों पर अपनी अमिट छाप छोड़ दी। यही कारण है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने वामन की रीति सम्बन्धी कटु आलोचना के अनन्तर भी उनके मत को संशोधित कलेवर में उपस्थित किया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने रीति को तीन भागों (वैदर्भी, गौड़ी एवं पांचाली) में विभाजित न करके रसध्वनिमात्र की व्यंजना में पदविन्यास के विनियोग पर विशिष्ट बल दिया है। साथ ही ध्वनि-वादियों ने गुण का सम्बन्ध रीति से न मानकर रस से माना है। वामन गुण को काव्यशोभा का जनक मानते हैं तथा अलंकार को उसके आधिक्य का कारण। जबकि ध्वनिवादी आचार्य गुणों को रसभिन्न तत्त्व मानते हैं। तथा अलंकार काव्यशोभा की वृद्धि में- सहायक-अवरोधक या तटस्थ भाव से स्थित रहते हैं- ऐसा माना है। वस्तुत: वामन ने काव्य की वस्तुगत आलोचना ही प्रस्तुत की है। रीति का क्या प्रयोजन है, क्या लक्ष्य है? इसका विवेचन इन्होंने नहीं किया है[1]। ध्वनिकार की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक पैनी थी, परिणामस्वरूप ध्वनिकार ने वामन की आत्मरूप रीति को भी साधन के रूप में ही गृहीत किया। यह बात सही है कि वामन की आत्मभूत रीति को अंग संस्थान का ही पद मिला परन्तु

---

1. "The more or less objective definition of Riti, given by this school, was hardly enough to satisfy the search for ultimate principle".

-S.K. De: History of Sanskrit Poetic, Volume II, p. 106.

वामन को मौलिकता को विस्मृत नहीं किया जा सकता । इसका कारण है कि रीति को सर्वप्रथम परिभाषाबद्ध करने वाले वामन ही हैं। वामन ने ही सर्वप्रथम शब्दगुण एवं अर्थगुण का विभाग किया तथा गुणों को संख्या बीस मानी । गुण एवं अलंकार का भेद उपलब्ध ग्रन्थों में सर्वप्रथम वामन में ही मिलता है । गुणों को काव्य का आवश्यक एवं नित्य तत्व मानते हुए भी वामन ने अलंकारों को सर्वथा बाह्य तत्व नहीं माना है क्योंकि—"काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् सौन्दर्यमलङ्कारः स दोषः गुणालङ्कारहानादानाभ्याम्" ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सौन्दर्य की प्रतिपत्ति दोषाभाव एवं गुण तथा अलंकार के आदान से होती है किन्तु फिर भी जब दोनों के बलाबल का प्रश्न उठता है तो यद्यपि दोनों ही सौन्दर्य सृष्टि के माध्यम हैं फिर भी वामन उनमें से गुण को यौवन की भांति नित्य एवं अन्तरंग धर्म मानते हैं तथा अलंकार को बाह्य एवं अतिशायी । इस प्रकार सौन्दर्य विधान की दृष्टि से अलंकार कोटि गुण की अपेक्षा हीन हो जाती है परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो वामन ने गुण को यौवन से उपमा देकर एक ओर उसका अन्तरंगत्व तो स्थापित किया ही है किन्तु साथ ही उसका नित्यत्व भी व्यवहित कर दिया है । क्योंकि यौवन हमेशा नहीं रहता । इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन के गुण और अलंकार में रूपभेद तो है किन्तु परिणामभेद नहीं है । इस दृष्टि से उनका गुण भी साधन कोटि में ही आता है ।

इस प्रकार जब हम आचार्य उद्भट और वामन की तुलना करने बैठते हैं तो स्पष्ट होता है कि आचार्य उद्भट महान् अलंकारवादी थे । उन्होंने काव्य में अलंकार को प्राधान्य दिया है । वामन उद्भट के समसामयिक अवश्य हैं परन्तु उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है । काव्य में सर्वप्रथम आत्मा की परिकल्पना करने वाले आचार्य वामन ही हैं । उनकी यह कल्पना इतनी निश्चित है कि परवर्ती आचार्य उससे प्रभावित हुए हैं । आनन्दवर्धन ने भी वामन के रीति सिद्धान्त की मौलिकता की प्रशंसा की है जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं ।

आचार्य उद्भट और वक्रोक्ति

पूर्वोक्त विवेचनाओं से यह स्पष्ट होता है कि समस्त काव्यशास्त्रीय सम्प्रदायों में सबसे अधिक प्रतिष्ठित सम्प्रदाय ध्वनि है। प्रतीयमानार्थ के रूप में जिस लावण्य की परिकल्पना आनन्दवर्धन ने की है, उसकी अभिव्यक्ति विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से की है। परन्तु आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानी है। वस्तुत: वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कुन्तक ही हैं।

वस्तुत: सामान्य भाषा से काव्य-भाषा का अन्तर उक्ति वैचित्र्य है जिसे वैदग्ध्यभङ्गीभणिति की संज्ञा दी गयी है। भामहादि प्राचीन आचार्यों ने इसे वक्रोक्ति की संज्ञा दी है। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी में उक्तिवैचित्र्य में काव्यत्व स्वीकार किया है—

"अर्थ निवेशास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि।
उक्तिविशेष: काव्यं भाषा या भवति सा भवतु॥"[1]

अर्थात् चमत्कारयुक्त काव्य ही काव्य कहलाता है। चाहे भाषा कोई भी क्यों न हो। भामह ने अर्थ के विभावन में निष्णातता को दोषा दी है। भामह के वक्रोक्ति प्रसंग को विस्तृत चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने वाणी के अलंकरण में वक्रोक्ति की सत्ता को अनिवार्य माना है। "वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टावाचामलङ्कृति"।[2]

भामह ने वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति में अभेद माना है जिसका समर्थन दण्डी ने किया है तथा अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। इसके साथ ही दण्डी ने ग्राम्य अर्थ की निन्दा करके अग्राम्य या

१- कर्पूरमंजरी, १।७।
२- काव्यालङ्कार, १।३६।

वैदग्ध्यभङ्गीभणिति को जो प्रशंसा की है वह प्रकारान्तर से वक्रोक्ति की ही प्रशंसा है। इस उक्तिवैचित्र्य को वामन ने "विशिष्टा पदरचनारीतिः" कहकर स्वीकार तो किया है साथ ही साथ "उक्ति वैचित्र्यमाधुर्यम्" कह कर गुण में इसका अन्तर्भाव भी कर लिया है। भामह ने इस प्रबन्ध गुण भाविक कि विशेषताओं का उल्लेख करते हुए कहा है—

"चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥"[1]

इस स्थल पर जिस कथा की स्वाभिनीतता की बात आचार्य भामह ने कही है, वह काव्य में वक्रोक्ति के माध्यम से ही घटित हो सकती है, इसीलिए भामह ने वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते"।[2] की स्पष्ट उद्घोषणा की है। आचार्य कुन्तक ने "शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी"[3] के द्वारा जिस वक्रोक्ति को काव्य का जीवित स्वीकार किया था, उसका दर्शन भामह ने पहले ही कर लिया था।

आचार्य कुन्तक को काव्यशास्त्र में वक्रोक्तिजीवितकार शब्द से भी अभिहित किया जाता है। उन्होंने काव्य में वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा की संज्ञा दी है। भामह ने इस काव्यगत चारुता का दर्शन पहले ही किया है। प्राचीन आलङ्कारिकों में भामह ही ऐसे हैं जो वक्रोक्ति को काव्य चमत्कार का बीज मानते हैं। यही कारण है कि भामह हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं मानते क्योंकि उसमें "वक्रोक्त्यनभिधानतः" वक्रोक्ति का अभिधान नहीं रहता। सीधे ढंग से कुछ कह देना वार्ता है उसमें काव्यत्व कहाँ?

"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥"[2]

१- भामह-काव्यालङ्कार, २।८७।

२- भामह

भामह का संरम्भ पूर्णतया वक्रोक्ति पर है। इसीलिए वे कवि के लिए इसे अत्यन्त उपादेय मानते हैं—

"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।"[1]

वस्तुतः चमत्कारपूर्ण वाणी ही काव्य है तथा काव्य में यह चमत्कार वक्रोक्ति से आता है। इसीलिए वक्र शब्द एवं अर्थ का प्रयोग वाणी का अलंकार माना जाता है—"वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः"[2]। प्रस्तुत स्थल में अलंकृति चमत्कार का वाचक है। काव्य की शोभा का आधार तो वक्रोक्ति ही है—"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते"[3]। वक्रोक्ति के प्रति अधिक आग्रह होने के कारण ही भामह को रीति का विभाजन वैदर्भी एवं गौडी के रूप में मान्य नहीं है। वे वक्रोक्तियुक्त काव्य को श्रेष्ठ एवं उससे हीन काव्य को काव्य ही नहीं मानते। वह काव्य मात्र वार्ता या संगीत की श्रेणी में आता है।

"अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजुकोमलम्।[4]
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुति पेशलम्।।"

कोई काव्य नितान्त सुन्दर आदि कह देने से ही सुन्दर नहीं हो जाता अपितु उसके सौन्दर्य सम्पादन हेतु शब्द एवं अर्थ की वक्रता अपेक्षित है—

"न नितान्तमादि मात्रेण जायते चारुता गिराम्।[5]
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।।"

१- काव्यालङ्कार, २।८५।
२- वही, १।३७।
३- वही, ५।७७।
४- वही, १।३४।
५- वही, १।३६।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि यह कलात्मकता शब्दार्थ शरीर में वक्रता के आधार से आती है। वक्रता लोकातिक्रान्त 'अतिशय' का ही दूसरा नाम है। निष्कर्ष यह है कि अन्त:सत्ता चारुता है। चारुता का स्रोत 'अलंकार' और अलंकार का निर्वाहक वक्रता है।[1]

उक्त कथन से यह भी स्पष्ट है कि भामह की वक्रोक्ति एवं अतिशयोक्ति दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। अतिशयोक्ति को भामह ने लोकातिक्रान्तगोचर वचन कहा है—

'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्ते तिशयोक्ति तामलङ्कारतया तथा ।'[2]

किन्तु प्रख्यात विद्वान् श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा ने 'काव्यालंकार' की भूमिका में अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति को एक दूसरे का पर्याय नहीं स्वीकार किया है। उनके अनुसार अतिशयोक्ति में अतिशयता की प्रधानता रहती है जबकि वक्रोक्ति में वक्रता की। अत: अतिशयोक्ति काव्य में लोकोत्तरता-असाधारणता लाती है और वक्रोक्ति रमणीयता।[3]

किन्तु काव्य के क्षेत्र में प्राय: यह अतिशयोक्ति वक्रता सम्पन्न ही होती है तभी तो उसमें 'काव्यत्व' का आधान होता है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने भामह की अतिशयोक्ति एवं वक्रोक्ति को अन्योन्यवादी मानते हुए अतिशयोक्ति को महाकवियों की काव्य शोभा को पुष्ट करने वाली बताया है—'प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभि: कामपि काव्यच्छविं पुष्यति। कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे-

---

१- डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी की भारतीय काव्य समीक्षा में अलंकार सिद्धान्त नामक पुस्तक में डा० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा लिखित यात्रनिका से पृ०

२- काव्यालङ्कार, २।८१।

३- भामह के काव्यालङ्कार की देवेन्द्रनाथ शर्माकृत व्याख्या की भूमिका, पृ० ४२।

यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ।।

इति ..... सर्वालङ्कार शरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपा इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्या"। इस प्रकार सब अलंकारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण अभेदोपचार से यही अतिशयोक्ति अलंकार रूपा है ।

मम्मट ने भी विशेष अलंकार के निरूपण के प्रसंग में अतिशयोक्ति को सभी अलंकारों का प्राण स्वीकार किया है— "सर्वत्र एवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्"।

इस प्रकार भामह ने जिस लोकोत्तर अर्थावबोधक चारुता के स्रोत के रूप में जिस वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति की परिकल्पना की थी और कुन्तक ने जिसे काव्य की आत्मा मानी थी, वह प्रायः सभी आचार्यों को मान्य रहा है ।

आचार्य उद्भट ने वक्रोक्ति के विषय में कुछ बात नहीं कही है, परन्तु उन्होंने अतिशयोक्ति का निरूपण किया है । उन्होंने अतिशयोक्ति की परिभाषा अविकलरूप से वही दिया है जो भामह ने दी थी । उन्होंने अतिशयोक्ति के चार भेदों का भी परिगणन किया है— (१) अनेकता में एकता, (२) एकता में अनेकता, (३) अविद्यमान् की विद्यमानता, तथा (४) पौर्वापर्य-विपर्यय । अतिशयोक्तिरूपकातिशयोक्ति में गौणी साध्यवसाना लक्षणा काम करती है जबकि रूपक में गौणी सारोपा लक्षणा । उत्प्रेक्षा में अभेद की संभावना होती है और अतिशयोक्ति में निश्चय । दूसरे प्रभेद में किसी जाति के व्यक्ति को उस जाति से ही ऊपर उठाकर उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है । तीसरे प्रभेद में अविद्यमान की विद्यमानता की सम्भावना पर कोई भिन्न वक्तव्य साम्य

प्रदर्शित किया जाता है। चौथे प्रभेद में कारण के द्वारा कार्य के सम्पादनगत त्वराधिक्य प्रदर्शित करने के लिए विभिन्न रूप दिखाए गए हैं।

इस प्रकार आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना है। आचार्य उद्भट पूर्णतया एक अलंकारवादी आचार्य हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति के रूप में काव्य की आत्मा की कल्पना की है। वे शायद काव्य के उस अनिर्व-चनीय अर्थ से अनभिज्ञ हैं जिसकी परिकल्पना ध्वनिवादियों ने की थी, परन्तु उद्भट ने उस अर्थ का भी दर्शन कर लिया था, भले ही वे उसका उतना विशद एवं सूक्ष्म निरूपण न कर सके हों।

पंचम अध्याय

आचार्य उद्भट का श्लेष तथा वृत्ति विवेचन

आचार्य उद्भट का श्लेष तथा वृत्तिविवेचन

आचार्य उद्भट और श्लेष

आचार्य उद्भट द्वारा प्रणीत ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' में कुल ४१ अलंकारों का विवेचन है। आचार्य ने श्लेष की जो विवेचना की है, वह इतनी विशद है कि उसने परवर्ती अनेक आचार्यों को प्रभावित किया है। इसलिए इस अध्याय में उसकी अलग से विवेचना की जा रही है।

भामह, उद्भट और दण्डी- तीनों ने श्लेष के लिए श्लिष्ट संज्ञा का प्रयोग किया है। श्लिष्ट का स्वरूप बताते हुए भामह ने बताया है— 'श्लिष्ट नामक अलंकार वहाँ होता है, जहाँ उपमान से उपमेय को गुण क्रिया तथा नाम की दृष्टि से एकता स्थापित की जाती है। इस प्रकार जहाँ गुण, क्रिया तथा नाम से उपमान के साथ उपमेय का तादात्म्य बताया जाय वहाँ श्लिष्ट अलंकार होता है।[1] यह लक्षण रूपक में भी संक्रमित हो जाता है। अतः कहते हैं कि रूपक से भिन्न श्लिष्ट में एक ही पद उपमानोपमेय की समता प्रतिपादित करता है।[2] यद्यपि यह परिभाषा रूपक में संक्रमित हो जाती है परन्तु रूपक और श्लिष्ट में स्पष्ट अन्तर है। श्लिष्ट में उपमान और उपमेय के गुणों का श्लिष्ट (युगपत्) प्रयोग होता है ताकि उसके उभयोपयोगी दो अर्थ एक ही साथ निकल आयें।

१- काव्यालङ्कार, ३।१४।

२- श्लिष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः'—काव्यालङ्कार, ३।१५।

रूपक में यह आवश्यक नहीं होता । उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाय कि "हाथी-रूपी मेघ मदरूपी जल वर्षा रहे हैं, तो यहां श्लिष्ट नहीं माना जायेगा बल्कि रूपक माना जायेगा क्योंकि हाथी (उपमेय) तथा मेघ (उपमान) के गुण एक ही श्लिष्ट शब्द से न कहा जा कर भिन्न-भिन्न शब्दों से कहा जा रहा है ।

आचार्य उद्भट ने श्लेष की जो परिभाषा अपने ग्रन्थ—"काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह" में दिया है वह अधोलिखित है—

एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम् ।
स्वरादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते ।।
अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः ।
द्विविधैरर्थशब्दोक्ति विशिष्टं तत्प्रतीयताम् ।।[१]

अर्थात् उन शब्दों के बन्ध को श्लिष्ट कहते हैं जो—(१) भिन्नार्थक होकर भी एक ही ढंग से उच्चरित होते हैं । (२) अथवा स्वरितादि गुणों के भेदवश भिन्न होने पर ऐसा लगता हो जैसे एक ही तरह के प्रयत्न से सादृश्य सम्पन्न होने वाले वे शब्द उच्चारित होते हैं ।

इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि निश्चय ही यहां अनेकार्थक शब्दों की यदि साथ ही साथ अनेक अर्थों की प्राप्ति के निमित्त विवक्षा हो तो दो स्थितियां हो सकती हैं । भट्टोद्भट का यह सिद्धान्त है कि अर्थभेद से शब्दभेद होता है । यहां यह बात भी ध्यातव्य है कि अर्थभेदवश भिन्न-भिन्न अस्तित्व सम्पन्न शब्दों में कतिपय इस प्रकृति के होते हैं कि उनका तंत्र से प्रयोग किया जा सकता है । और कतिपय ऐसे होते हैं जहां तंत्र का प्रयोग नहीं हो सकता । तंत्र के द्वारा उनका प्रयोग हो सकता है, जिसके

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, ४।५०-५१ ।

स्वर व्यंजन, स्थान एवं प्रयत्न समान हों। परन्तु जहां व्यंजनों की एकता व अनेकता हो, स्वर, उदात्त एवं अनुदात्त हों उनके ओष्ठ व दन्तौष्ठ्य आदि भिन्न स्थान हों, प्रयत्न लघु एवं अलघु हों—और इन सबके कारण भिन्नार्थक शब्दों में भेद हो- तो उन शब्दों का तंत्र द्वारा प्रयोग सम्भव नहीं है, कारण यह है कि तंत्र का उपयोग साधारण शब्दों के लिए ही होता है। इस स्थिति में जिनका तंत्र द्वारा उच्चारण सम्भव है, वे एक प्रयत्नोच्चार्य माने जाते हैं और ऐसे शब्दों के बन्ध से अर्थश्लेष होता है। इसी अभिप्राय को 'ऐकप्रयत्नोच्चार्याणाम्'- इत्यादि द्वारा व्यक्त किया गया है। पर जो शब्द एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों के समान हों- उनका उपनिबन्धन होने से शब्दश्लिष्ट होता है। इसका कारण यह है कि किसी दूसरे शब्द का उच्चारण किया गया हो, पर सादृश्यवश एक भिन्न शब्द का भी, जो वस्तुत: उच्चारित नहीं हुआ है, वहां संश्लेष माना जा सकता है। उसी को 'तच्छायां' वे इत्यादि तथा 'शोकोक्तिविशिष्ट' इत्यादि कारिकांशों से कहा गया है।

श्लिष्ट अलंकार वस्तुत: दो प्रकार का होता है— शब्दश्लेष तथा अर्थश्लेष। दोनों प्रकार के श्लेष उपमा आदि अन्यान्य सम्भव अलंकारों की झलक देते हुए अपनी स्वतंत्र प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि श्लेष निरवकाश होने के कारण अपने विषय में अलंकारान्तर को व्यपदेश लाभ नहीं करने देता, कारण कि अलंकारान्तर के लिए तो स्वतंत्र असंकीर्ण और स्थान है ही, वे वहां अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर स्वतंत्र व्यपदेश लाभ कर सकते हैं। इसी बात को 'अलंकारान्तरगताम्' इत्यादि द्वारा कहा गया है। अलंकारान्तरों को यहां मात्र झलक ही होती है न कि प्रतिष्ठा।

प्रतिहारेन्दुराज ने अपनी व्याख्या में कहा है—इह खलु शब्दानाम-नेकार्थानां युगपदनेकार्थविवक्षायां द्वयी गति:। अर्थभेदेन तावच्छब्दा: भिद्यन्ते- इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्त:। तत्रार्थभेदेन भिद्यमाना: शब्दा: केचित्तंत्रेण प्रयोक्तुं शक्या: केचिन्न। येषां हल्स्वरस्थानप्रयत्नादीनां साम्यं ते तंत्रेण

प्रप्तोक्तुं शक्यन्ते, यत्र तु हलामेकत्वानेकत्वरूपत्वात् स्वराणां चोदात्तत्वानुदात्तत्वादिना स्थानानां चोष्ठ्यदन्त्योष्ठ्यत्वादिना प्रयत्नानां च लघुत्वालघुत्वादिना भेदस्तेषां तन्त्रेण प्रयोगः कर्तुमशक्यः साधारणरूपत्वाच्चन्त्रस्य । तदुक्तमसाधारणं भवेत्तन्त्रमिति । एवं चावस्थिते ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते ते एकप्रयत्नोच्चार्याः । तद्बन्धे सत्यर्थश्लेषो भवति । तदुक्तम्— एक प्रयत्नोच्चार्याणामिति । तथा ये तेषामेकं प्रयत्नोच्चार्याणां शब्दानां छायां सादृश्यं बिभ्रति तदुपनिबन्धेन शब्दश्लिष्टं शब्दान्तरे उच्चार्यमाणे सादृश्यवशेनानुच्चरितस्यापि शब्दान्तरस्य श्लिष्टत्वात् । तदुक्तं— तच्छायांचैव बिभ्रताम् । स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिति । तथा शब्दोक्त विशिष्टं तत्प्रतीयतामिति ।

एतच्च श्लिष्टं द्विविधमपि उपमाद्यलंकार प्रतिभोत्पादन द्वारेणालङ्कारतां प्रतिपद्यते । अतो नैनावकाशत्वात् स्वविषये अलङ्कारान्तराण्यपिबन्ते तेषां विषयान्तरे सावकाशत्वात् । तदुक्तं— अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः । द्विविधैरिति । अलंकारान्तराणामत्र प्रतिभामात्रं न तु पदबन्ध इत्यर्थः[1] ।

उपर्युक्त अलङ्कार का उदाहरण आचार्य उद्भट ने स्वयं प्रणीत कुमारसंभव से दिया है—

"स्वयं च पल्लवाताम्र भास्वत्कर विराजिनी ।
प्रभातसंध्येवास्वाप फललुब्धे हित प्रदा ।।
इन्दुकान्तमुखी स्निग्धमहानीलशिरोरुहा ।
मुक्ताश्रीस्त्रिजगद्रत्नं पद्मरागांघ्रिपल्लवा ।।
अपारिजातवार्तापि नन्दनश्रीर्भुवि स्थिता।
अबिन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्य बिन्दुका ।।[2]

इनमें से प्रथम उदाहरण उपमा की प्रतिभा से, द्वितीय उदाहरण रूपक की प्रतिभा

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, ३६५।३६६ ।
२- वही, ४।१५।१६।१७ ।

से तथा तृतीय उदाहरण विरोधाभास की प्रतिमा के उत्पादनद्वार से उत्थित है।

प्रथम उदाहरण में पार्वती न केवल 'महान्' की सम्बन्धी होने के कारण महनीय है प्रत्युत् वे स्वयं अनिन्द्य सुन्दरी हैं। वे पल्लव के समान अरुण एवं दीप्तिमान हाथों से शोभित तथा दुर्लभफललोभियों को अभीप्सित वर प्रदान करने वाली उस प्रभातिक संध्या की तरह हैं जो पल्लव के समान सूर्य की आताम्र किरणों से सुशोभित तथा जागरणरूप फल (स्नानादि वंदनादि) के लोभियों को इष्ट वस्तु को प्रदान करने वाली हैं। इस स्थल पर उपमा की प्रतिमा से उत्थित श्लिष्ट हैं।

द्वितीय उदाहरण में भगवती पार्वती त्रिभुवन की रत्न समृद्धि हैं। चन्द्र के समान सुन्दर मुख वाली, सुचिक्कण लम्बे एवं काले केशों वाली, अशोभा की गंध से विहीन, त्रिभुवन सुन्दरी कमल की सी लालिमा वाले पादपल्लव वाली पार्वती चन्द्रकान्तमणि, इन्द्रनील, मौक्तिकशोभा तथा पद्मरागमणिमय रत्न-समृद्धि ही हैं। प्रस्तुत स्थल पर रूपक की प्रतिमा से उत्थित श्लिष्ट है।

तृतीय उदाहरण में पार्वती नन्दनश्री हैं। पार्वती पक्ष में— भगवती चूँकि अजातशत्रु हैं अत: शत्रुसमूह की बात उनके पक्ष में उठायी ही नहीं जा सकती। उनकी शोभा चूँकि सबके चित्त को आकर्षित करती है अत: वह नन्दना हैं। जल के मध्य स्थित होने के कारण जल प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान उनकी शोभा हो रही है। लावण्य का प्रवाह तो उनसे सदा निर्गत होता रहता है। विरोधाभासपरक योजना है— पार्वती नन्दनश्री हैं, पर विरोध यह है कि वह पारिजात से रहित कैसे? वह भूलोक में स्थित कैसे? जिसका बिन्दुओं से सौन्दर्य नहीं वह लावण्य बिन्दुओं का प्रसार कैसे?

प्रकृत स्थल पर विरोधाभास की प्रतिमा से उत्थित श्लिष्ट है। इन उदाहरणों में शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष दृष्टिगोचर होता है।

न केवल तुम तथा विध हिमालय की पुत्री हो वरन् स्वयं भी इस प्रकार की हो। कारिका में 'च' शब्द के प्रयोग से इस तरह का अर्थ किया गया है। यहां भगवती किसलय के समान भास्वान् तथा आताम्र हाथों से सुशोभित होती हैं। पर प्रभातसंध्या पल्लव के समान आताम्र सूर्य की किरणों से सुशोभित होती है। इस स्थल पर उभयत्र हल् आदि की समानता है अत: यहां तंत्र द्वारा उच्चारण सम्भव है। इसके फल, स्वरूप इस स्थल पर अर्थश्लेष प्रतिभासित होता है।

पर 'आस्वायफललुब्धेहितप्रदा' में भगवती के पक्ष में अर्थ यों होगा— आस्वाय अर्थात् सुखपूर्वक जो फल न प्राप्त किया जा सके- उसमें जो लुब्ध होने वाले हैं- उनके लिए ईप्सित प्रदान करती हैं। प्रभात संध्या पक्ष में अर्थ यों होगा— स्वाय अर्थात् निद्रानुभव का जो भ्रम निवृत्तरूप फल है, उसमें जो संध्योपासन में प्रवृत्त होने के कारण लुब्ध नहीं हैं- तदर्थ वह अदृष्टलाभ समर्पण करती हैं।

प्रकृत स्थल में पहले पक्ष में दोनों अर्थों की दृष्टि से शब्दभेद होने पर भी उन शब्दों की आनुपूर्वी भिन्न नहीं है, इसलिए 'थाथादि'[१] सूत्र के द्वारा यहां अन्त्योदात्त स्वर होगा। पहली पंक्ति में 'भास्वत्कर' में ही अर्थभेद की दृष्टि से समासभेद है पर स्वर भेद नहीं। पार्वती पक्ष में 'भास्वन्तौ करौ'— कर्मधारय (समानाधिकरण तत्पुरुष) तथा संध्या पक्ष में 'भास्वत: करा:' षष्ठी तत्पुरुष है। इस प्रकार प्रकृत स्थल पर अर्थश्लेष अलंकार है। कारण कि यहां आकार एक ही है केवल अर्थभेद है। उत्तरार्ध में 'आस्पपफललुब्धहितप्रदा' तथा 'आस्वायफललुब्धेहितप्रदा' अर्थभेद के अनुरूप इस प्रकार दो बार योजना करनी पड़ती है। इसलिए यहां भिन्न-भिन्न पद होने के कारण स्वरभेद हो जायेगा। 'आस्वायफललुब्धेहितप्रदा' में एक सामासिक पद है। इसका अन्तिम खण्ड 'प्रदा' है जिसमें अङ् प्रत्यय है और 'प्र' उपसर्ग है। 'प्रदा' से पूर्व 'हित' तथा दूसरे

१- पायिनि, ६।२।१४४।

पद्य में 'ह्रि' शब्द है जो कर्मधारय में है। इसलिए यहाँ 'प्रदा' अन्तिम स्वर उदात्त है। प्रकृत स्थल पर 'अच्' प्रत्यय अन्त में है इसलिए यह अन्तोदात्त हुआ। आस्वायफललुब्धे (संध्या पद्य में) आद्युदात्त है। इसका सूत्र है— तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः[१]। अर्थात् तत्पुरुष समास में तुल्यार्थक तृतीयान्त, सप्तम्यन्त, उपमानवाची, अव्यय, द्वितीयान्त तथा कृत्य प्रत्ययान्त पद यदि पूर्व में हों तो वहाँ असमस्तावस्था में जो प्रकृत्यंश का स्वर होता है, वही समस्तावस्था में भी रह जाता है। प्रकृति स्वर उदात्त था इसलिए यह शब्द आद्युदात्त हो रहा। 'ह्रिप्रदा' में थाथादिस्वर की रीति से पूर्वोक्त ढंग से अन्तोदात्तता हो रही, इसलिए यहाँ स्वर भेद है। यहाँ पहले पद्य में एक ही समास है और वह अन्तोदात्त है। दूसरे पद्य में दो भिन्न-भिन्न पद हैं और उनमें से पहला आद्युदात्त है और दूसरा अन्तोदात्त है। इस प्रकार स्वरभेद स्पष्ट है। दूसरे 'अस्वाय' के आकार तथा 'फललुब्धे' के एकार का यथासंभव दोनों पद्यों में लघुप्रयत्न एवं अलघुप्रयत्न का भी भेद है। कहने का तात्पर्य यह है कि पार्वती पद्य में 'आस्वायफललुब्धेह्रिप्रदा' एक ही पद है। यहाँ लघु-प्रयत्न है। संध्या पद्य में 'अस्वाय फल लुब्धे' तथा 'ह्रिप्रदा' दो पद खण्ड हैं। इस स्थल पर पहला खण्ड आद्युदात्त तथा 'ए' गुरुप्रयत्न है। दूसरा तो अन्तोदात्त है ही। इस प्रकार स्वरभेद तथा प्रयत्नभेद होने से उच्चारण भिन्न और उच्चारण भिन्न होने से शब्द भिन्न और शब्दभेद होने से साधारणता नहीं हो सकती। इसीलिए तंत्र से इनका उच्चारण सम्भव नहीं है। फलतः दो पद मानने ही होंगे। परन्तु दो दृष्टिगोचर नहीं होते। इसका कारण यह है कि जतुकाष्ठन्याय से वे शब्द इस प्रकार मिल गये हैं कि एकपदीय शब्द का उच्चारण करने से शब्दान्तर की भी सादृश्यवश प्रतीति हो जाती है। इसीलिए यहाँ तो भिन्न-भिन्न आकार के शब्द परस्पर चिपके हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप प्रकृत स्थल पर अर्थश्लेष न होकर शब्द श्लेष होगा।

१- पा०, ६।२।२।

शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दोनों ही स्वयं प्रतिष्ठित हैं और उपमा को झलक मात्र देने में हेतु हैं। प्रभात संध्या यहां उपमान हैं और भगवती उपमेय हैं। इव शब्द उपमानोपमेय भाव का द्योतन करता है। शब्दसाम्य के अलावा कोई अर्थगत दूसरा साधारण धर्म यहां नहीं दिखायी देता इसलिए यहां उपमा नहीं है बल्कि उपमा की झलक देने वाला श्लेष अलंकार है।

इन्दुकान्तमुखी — इत्यादि श्लोक में भगवती चन्द्रमा की तरह सुन्दर मुखवाली कही गयी हैं। उनके केश स्निग्ध लम्बे तथा काले-काले कहे गये हैं। वे अशोभा से मुक्त अर्थात् परम शोभायमान हैं। वे तीनों लोकों में उत्कृष्ट हैं। उनके पादपल्लव कमल के समान लालिमा वाले हैं। प्रकृत स्थल पर भगवती पार्वती रूपक को झलक देने वाले श्लेष के द्वारा त्रिभुवनवर्ती रत्नराशि से रूपित की जा रही हैं तो उपमानपरक अप्रकृत अर्थ इस प्रकार होगा— चन्द्रकान्त, इन्द्रनील, मौक्तिकशोभा, पद्मराग से अवच्छादित रूपवाली प्रतीत होती हैं अर्थात् इस प्रकार के रत्नमय अवयवों का साक्षात् योग होने से मानों पार्वती त्रिभुवनवर्ती समस्त रत्नों की समृद्धि हों।

इस श्लोक में मुक्ताश्री इस अंश में स्वरभेद है। पार्वती पक्ष में मुक्ताश्री बहुब्रीहि समास वाला होगा जब कि रत्नराशि के पक्ष में तत्पुरुष। बहुब्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् सूत्र से बहुब्रीहि समास में पूर्वपद का असमस्तावस्था वाला ही स्वर ज्यों-का-त्यों रह जाता है। अनुदात्त पद में एकवर्जम् द्वारा समस्त पद को अनुदात्तता प्राप्त थी पर वह नहीं हुआ। तत्पुरुष पक्ष में समास के लिए सामान्यतः अन्तिम स्वर उदात्त होगा। अवशिष्ट शब्दों में स्वरभेद नहीं है। जहां तक प्रयत्नगत गौरवलाघव का सम्बन्ध है, त्रिजगद्रत्न से भिन्न तत्तद वर्णों के विषय में वे ही हैं। इसलिए यहां भी शब्द श्लेष है।

उदाहरणार्थ इन्दुकान्तमुखी को ही लें। यहां पार्वती पक्ष में- इन्दु के समान कान्त है मुख जिसका अर्थात् बहुब्रीहि समास है। त्रिजगद्रत्न के

पदा में इन्दुकान्त है, मुख या आरंभ में जिसके अथवा इन्दुकान्त है, मुख-प्रमुख जिसमें अर्थात् यहाँ भी बहुव्रीहि समास है। इस प्रकार यद्यपि दोनों स्थानों पर बहुव्रीहि समास है फिर भी दोनों में भेद है। इसलिए यद्यपि यहाँ सारभेद नहीं है तथापि प्रयत्नभेद तो है ही। त्रिजगद्रत्न दोनों पदों में एक ही समास है। अर्थभेद अवश्य है। पार्वती पदा में उत्कृष्ट वस्तु और अन्यत्र रत्न ही है। त्रिजगद्रत्न में किसी प्रकार का भेदक तत्व नहीं है। इसीलिए यहाँ अर्थश्लेष माना जा सकता है।

'अपारिजातवतापि'— इस श्लोक में भगवती का कोई शत्रु कभी हुआ ही नहीं, इसलिए शत्रुसमूह की बात ही उनके सम्बन्ध में करना व्यर्थ है। उनकी शोभा सबके चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसीलिए वे आनन्दकर शोभावाली हैं। जल के मध्य तपस्यारत होने के कारण वह खड़ी थीं अत: इन्दु को परछाई जो जल में पड़ रही थी, उसी तरह भगवती पार्वती भी सुन्दर लग रही थीं। लावण्य का प्रवाह उनसे अजस्ररूपेण प्रवाहित हो रहा था।

परन्तु जब 'नन्दनश्री' का दूसरा अर्थ 'देवोद्यान शोभा' लिया जाता है तो उस अर्थ की दृष्टि से रूपक की झलक पैदा करने वाले श्लेष से भगवती का उसके साथ रूपण भी किया जाता है। इस दृष्टि से इस श्लोक की दूसरी योजना भी करनी पड़ती है। अर्थात् अपारिजातवतापि— इत्यादि पदों की पर्यालोचना करने से विरोधाभास की भी प्रतीति होती है। श्लेष तो मुख्य रूप से उस प्रतिभा का हेतु बन कर ही प्रतिष्ठित है। भला देवोद्यान की शोभा ऐसी क्या जहाँ पारिजात नामक वृक्ष विशेष की स्थिति न हो। दूसरे यह कि वह शोभा भूतल पर किस प्रकार स्थिर रह सकेगी। अबिन्दुसुन्दरी- इत्यादि में जहाँ एक ओर उसे बिन्दुसौन्दर्यहीन कहा जाता है, दूसरी ओर उसी से यह कहना कि लावण्य बिन्दु उससे निरन्तर प्रसृत होते रहते हैं, कहाँ तक ठीक है? इस प्रकार प्रकृतस्थल पर विरोधाभास की प्रतीति होती है लेकिन श्लेष ही पूर्णत: प्रतिष्ठित है।

अपारिजात वार्ता— इत्यादि में जहां तक पार्वती-पक्ष से 'अपगत है अरिजात की वार्ता जिससे' इस अर्थ को लेकर तद्बोधक की बात है, वहां बहुव्रीहि समास हो माना जायेगा और पूर्वोक्त क्रम से यहां भी 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदस्वरत्वम्' सिद्धान्त के द्वारा पूर्वपद में मूल प्रकृति का ही स्वर सुरक्षित रहेगा। अबिन्दुसुन्दरी— इत्यादि के 'अबिन्दुसुन्दरी' पद का अर्थ होगा 'अबिन्दुवत् सुन्दरी'। इस दृष्टि से तत्पुरुष समास माना जायेगा। और वहां भी उपमान के पूर्वपद होने से 'तत्पुरुषेतुल्यार्थे' के सिद्धान्त से अबिन्दु में प्रकृतिस्वर ही रहेगा। कारण यह कि यहां अपइन्दु में पूर्वपद सप्तम्यन्त है इसलिए इसी पूर्वोक्त सूत्र से प्रकृतिस्वर होने के कारण उसे आद्युदात्त ही मानना होगा। बिन्दुरहित सुन्दरी अर्थ की दृष्टि से अबिन्दुसुन्दरी में नञ् अव्यय पद है। वह पूर्वपद है। इसलिए इसी सूत्र से यही स्वर होगा। इसलिए अर्थभेद से होने वाले शब्द भेद में स्वरभेद नहीं है। हां, प्रयत्नभेद से आकारभेद है और इसीलिए उस वैचित्र्य के कारण ही प्रकृत स्थल पर शब्दश्लेष माना जायेगा।

इस प्रकार स्वर एवं प्रयत्न के भेद के माध्यम से उच्चार्यमाण होने की परिस्थिति में शब्दश्लेष होता है जैसा कि आचार्य उद्भट और उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का मत है। स्वर एवं प्रयत्न के भेद के सम्बन्ध में उद्भटाचार्य तथा उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज द्वारा किया गया सम्पूर्ण परिश्रम आचार्य मम्मट के दृष्टिकोण से व्यर्थ है। इसीलिए उन्होंने उत्तम काव्य की सर्जना के समय इस वृथा आयास से बचने की राय दी है— 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते'।[१]

विवृत्तिकार ने श्लेष की व्याख्या लगभग उसी प्रकार की है जैसा कि प्रतिहारेन्दुराज ने की है। विवृत्तिकार का कथन है—

'न केवलं हिमाद्रेर्विविधस्य त्वं सुता यावत् स्वयमेव विधेति च शब्दः। तत्र गौरीपक्षे किसलयवद्रक्ताभ्यां दीप्यमानाभ्यां शोभिते, सुखेनाप्तुं यन्न शक्यं फलं तत्र लुब्धानामीहितं प्रददाति, इन्दुवत्कान्तं मुखं यस्याः, स्निग्ध अत्यन्त-

---

१- काव्यप्रका, ६।

कृष्णाश्चकेशा यस्याः, त्यक्ता अलक्ष्मीर्यया, त्रैलोक्ये चोत्कृष्टः, पद्मवद्रागो ययोस्तादृशौ पादपल्लवौ यस्याः, अपगता शत्रुप्रकारचर्चा यस्याः, अह्लादिनी-शोभा यस्याः, अप्सु प्रतिबिम्बितो यः इन्दुः तद्वत्सुन्दरी, नित्यं च गलन्तो लावण्यबिन्दवो यस्या इति व्याख्या। संध्यादिपदोत्र ज्वलत् सूर्यमरीचिभिः, भोभिता, स्वायफले विश्रान्तो यो न लुब्धः तद्विषये ह्रीं ददाति, चन्द्रकान्त महानीलमुक्ता पद्मरागा मणिविशेषाः, अविद्यमानपारिजाताख्य वृक्षाविशेषवातां, देवोधानलक्ष्मीः, अविद्यमानैर्बिन्दुभिः सुन्दरीति। श्लोकत्रये यथा क्रममुपमारूपक विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतवः श्लेषाः। अत्र प्रथम श्लोकाद्यावेदितत्रिजगद्रत्नमित्यत्र भुवि स्थितोत्पत्र च स्वरादिसाम्यादर्थश्लेषत्वम्, अन्यत्र तु शब्दश्लेषता। तथा ह्यन्त्यादावुत्पद विकल्पे थाथादिस्वरेणान्तोदात्तत्वम् लघुप्रयत्नत्वं च। पदद्वये तु सत्यादे पदे तत्पुरुषे तुल्यार्थेति पूर्वपदप्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम् आकारैकारयोश्च गुरुप्रयत्न त्वमन्त्यपदे तु थाथादिस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। द्वितीयस्मिन् श्लोके उक्तैक-पदवर्जम् सर्वत्रापि भिन्नपदपाठात्प्रयत्नभेदः। मुक्ताश्रीरित्यत्र स्वरभेदेपि बहुव्रीहि पदो हि बहुव्रीहौ प्रकृत्येति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अविद्यमानपारिजातवातात्वे नञ्सुभ्याम् इति अन्त्योदात्तत्वम्। नन्दनश्रीरित्यत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं तत्पुरुषे तु समासान्तोदात्तत्वम्। अबिन्दुसुन्दरीत्यत्रोपमानत्वात्तत्पुरुषे तुल्यार्थेति पूर्वपद प्रकृति स्वरः तस्य सप्तम्यन्तपूर्वपदत्वात् अनेनैव सूत्रेण प्रकृतिस्वरेणाद्युदात्तत्वम्। अबिन्दुसुन्दरीत्यत्र तु अव्ययत्वान्नञ्पूर्वपद प्रकृतिस्वरेण तदेव तेनात्र स्वरभेदः"[1]।

विवृत्तिकार ने आचार्य उद्भट द्वारा प्रतिपादित श्लेष की परिभाषा के प्रति आपत्ति प्रकट किया है। उनका यह भी कथन है कि आचार्य ने उपर्युक्त श्लेष के जो दो उदाहरण दिए हैं उनका सम्यक् परीक्षण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि संकर अलंकार के लिए अधिक उपयुक्त प्रतीत होते हैं। अथवा इन्हें उपमा या अन्य अलंकारों के उदाहरण के रूप में अच्छी तरह उद्धृत किया जा सकता है। विवृत्तिकार का कथन है कि—

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह पर बनहट्टी जी की टीका, पृ० ११३-११४।

ऐतच्च श्लेषलक्षणं परीक्ष्यमाणमयुक्तमिव प्रतिभाति । तथा हि—

ते गच्छन्ति महापदं भुवि पराभूतिः समुत्पद्यते ।
तेषां तैः समलङ्कृतं निजकुलं तैरेव लब्धाक्षितिः ।।
येषां द्वारि नदन्ति वाजिनिवहास्ते भूषिता नित्यशो।
ये दृष्टा परमेश्वरेण भवता रुष्टेन तुष्टेन वा ।।

इत्यादौ श्लेष प्राप्त प्रतिष्ठे पल्लवाताम्रेत्यादौ संकरत्वमेव युक्तम् । अथवा न्यायपरीक्षायामुपमारूपत्वमेव । तथा हि यथा गुणक्रियासाम्योपमा तथा शब्दमात्रसाम्ये पि दृश्यते । न च तत्र श्लेषत्वमिति वक्तुं युक्तम् पूर्णोपमायाः निर्विषयप्रसंगत्वात् । गुणक्रियासाम्ये सा भविष्यतीति चेन्न, अर्थश्लेषस्य निर्विषय तापत्तिप्रसङ्गात् ।[1]

विवृत्तिकार ने उद्भट द्वारा प्रदत्त उदाहरणों को भी उपयुक्त नहीं माना है । विवृत्तिकार ने अलंकारसर्वस्वकार का समर्थन करते हुए अर्थश्लेष का अधोलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयं वक्त्रमासज्य वक्त्रे,
कण्ठे लग्नः सुकण्ठः प्रभवति कुचयोर्दत्तगाढाङ्गसङ्गः ।
बद्धासक्तिं नितम्बे पतति चरणयोर्यः तादृक्प्रियो मे
बाले लब्धा प्रलीना न हि न हि सरले चोलकः किं त्रपाकृता ।।[2]

इसी प्रकार विवृत्तिकार ने रुद्रट का समर्थन करते हुए शब्दश्लेष का उदाहरण दिया है—

यदनेकपयोधिमुखस्त्वमेव सदृशो स्यहीन सुरतरसः ।
ननु बलिजितः कथं ते सदृशस्तदसौ सुराधिकृतः ।।

1- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, सम्पादित डा० बनहट्टी, पृ० १९४ ।
2- अलङ्कारसर्वस्व, पृ० १०३ ।

वसुधामहित सुराजितनीरागमना भवाश्च वर्णाश्च ।
सुरचितवराङ्गपुण्: तव च हरेश्चोपमा घटते[1]।

इस प्रकार विवृत्तिकार ने उद्भट द्वारा प्रतिपादित श्लेष की आलोचना की है ।

सम्प्रति उद्भट द्वारा प्रतिपादित श्लेष के स्वरूप का निरूपण करने के उपरान्त अब इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि उद्भट के द्वारा विवेचित श्लेष तथा उद्भट के पूर्ववर्ती भामहादि आलङ्कारिकों द्वारा विवेचित श्लेष में क्या अन्तर है । उद्भट ने श्लेष का जो निरूपण किया है वह उनके मौलिक व्यक्तित्व का परिचायक है । उद्भट ने श्लेष की अपने ढंग से स्वतंत्र विवेचना की है । प्रख्यात विद्वान् श्री के०पी० त्रिवेदी ने एकावली का सम्पादन करते हुए अपनी टिप्पणी में आचार्य उद्भट द्वारा विवेचित श्लिष्ट का वृहद् निरूपण किया है तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने आचार्य उद्भट और मम्मट के दृष्टिकोणों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत किया है[2]।

इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम हम अन्य आचार्यों द्वारा विवेचित श्लेष के स्वरूप पर विहंगम दृष्टिपात करेंगे । इसके उपरान्त आचार्य उद्भट से उनकी तुलना करेंगे । जहाँ तक आचार्य भामह का प्रश्न है, यद्यपि उद्भट भामह के टीकाकार थे, लेकिन श्लेष के निरूपण करते समय उन्होंने भामह का अनुसरण बिल्कुल नहीं किया है । उनकी अपेक्षा उन्होंने दण्डी के विचारों को बहुत दूर तक समादर किया है । दण्डी की श्लिष्ट के सम्बन्ध में परिभाषा और उसके वर्गीकरण भिन्न हैं । इन्होंने न केवल श्लिष्ट की परिभाषा की, प्रत्युत् उन्होंने स्वभावोक्ति से भिन्न अलंकारों के मूल में रहने वाली वक्रोक्ति की भी आत्मा के रूप में श्लेष की चर्चा की है । "श्लेष: सर्वासु पुष्णाति प्राय: वक्रोक्तिषु श्रियम्"। अर्थात् सभी प्रकार की वक्रोक्तियों में प्राय: श्लेष ही श्री अर्थात् शोभा का

१- रुद्रटकृत काव्यालंकार, ४।३३।३४ ।

२- एकावली- सम्पादित श्री के०पी० त्रिवेदी, पृ० ६२२-२८ ।

निष्षेचक एवं पोषक हुआ करता है। श्लिष्ट का स्वरूप दण्डी ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है। श्लिष्ट वह वचन है जो अनेकार्थक और एक रूपान्वित होता है। अनेक अर्थों के बोधक शब्दों की आनुपूर्वी जहां एक ही प्रकार की होती है, वहां यह अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं— भिन्नपद और अभिन्नपद। भामह की भांति दण्डी ने उपमेय और उपमान की शर्त नहीं लगायी है। इनका वर्गीकरण भी उनसे भिन्न पद्धति पर आधारित है। भिन्नपद को ही परवर्ती आलङ्कारिकों ने सभंगश्लेष तथा अभिन्नपद को अभंगश्लेष की संज्ञा दी है। श्लेष की व्याख्या करते हुए आचार्य दण्डी ने यह भी निरूपण किया है कि यह अलंकार उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलंकारों में अङ्गरूप में प्रयुक्त होता रहता है। अङ्ग रूप में प्रयुक्त श्लेष के प्रसङ्ग में उसके कई रूप दण्डी ने गिनाया है। जैसे अभिन्नक्रिय-श्लेष, अविरुद्धक्रिय श्लेष, विरुद्धक्रियश्लेष, सनियमश्लेष, नियमाक्षेपरूपोक्ति-श्लेष, अविरोधीश्लेष तथा विरोधीश्लेष आदि। दण्डी ने इन सबके उदाहरण भी अलग-अलग प्रस्तुत किया है।

दण्डी द्वारा अभिन्नपद एवं भिन्नपद श्लेष को ही ध्यान में रखकर आचार्य उद्भट ने श्लेष की परिभाषा प्रस्तुत की है। प्रतिहारेन्दुराज की सहायता से उद्भट की श्लेषविषयक मान्यताओं को दृष्टिकोण में रखकर देखने से यह प्रतीत होता है कि उद्भट यह मानते हैं कि अर्थभेद से शब्दभेद होता है। जिन शब्दों से दो-दो अर्थ प्रतीत होते हैं, वहां दो अर्थों के अनुरूप दो शब्द भी मानने होंगे। यह दूसरी बात है कि उन शब्दों की आनुपूर्वी एक ही हो और फलत: उनके स्थान और प्रयत्न सभी एक ही हों। अत: अभिन्न प्रयत्न से उच्चार्यमाण होने के कारण वे एक ही जान पड़ते हैं। एक के उच्चरित हो जाने से ही दूसरे के अनुच्चरित होने पर भी उसे वहां श्लिष्ट मान लिया जाता है। इसे दण्डी के शब्दों में अभिन्न श्लिष्ट तथा परवर्ती आचार्यों के शब्दों में अभंग-श्लेष कहा जाता है। कुछ द्वयर्थक शब्द ऐसे होते हैं जहां उनके बोधक दो पृथक्-पृथक् शब्दों में एकरूपता परिलक्षित मात्र होती है, वस्तुत: वे एक रूप होते नहीं।

वे दोनों शब्द अपनी आनुपूर्वी भी भिन्न रखते हैं तथा वे भिन्न प्रयत्नोच्चार्य भी होते हैं। जैसे अपारिजात शब्द के दो अर्थ होते हैं— पारिजातविहीन तथा अरिजातविहीन। पहले के लिए अ-पारिजात दो भिन्न शब्द हैं और दूसरे के लिए भी अप-अरिजात दो भिन्न शब्द हैं। तात्पर्य यह है कि इस स्थल पर भिन्न-पद अथवा सभंगश्लेष होता है परन्तु अभिन्नपद अथवा अभंगश्लेष में ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ शिलीमुख जिसके दो अर्थ होते हैं— भ्रमर और बाण की आनुपूर्वी भिन्न-भिन्न नहीं है।

श्लिष्ट के सम्बन्ध में एक शंका उठ सकती है कि जहां-जहां श्लेष अलंकार होगा वहां-वहां कहीं-न-कहीं भिन्न अलंकार अवश्य होगा। ऐसी परिस्थिति में किसको प्रधानता मानी जायेगी। इस सम्बन्ध में आचार्य उद्भट का मत यह है कि जब अन्य अलंकारों की श्लेष भिन्न स्थलों पर स्वतंत्र स्थिति है और श्लेष की कहीं स्वतंत्र स्थिति है ही नहीं, ऐसी परिस्थिति में यही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि श्लेष निरवकाश होने के कारण अन्य अलंकारों का बाधक होगा और ऐसी परिस्थिति में अपनी ही प्रधानता रखेगा, अन्य अलंकार गौणता को प्राप्त हो जायेंगे। आचार्य वामन की श्लेष विवेचना पर भामह का प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी कारण उन्होंने रूपक से श्लेष का भेद दिखाने के लिए श्लेष का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने भामह से मिलती-जुलती बात कही है। तंत्र (अनेकोपकारकारि सकृदुच्चारणं तंत्रम्) से प्रयोग होने पर उपमान और उपमेय के धर्मों में वह तत्वारोप श्लेष कहलाता है। उपमान और उपमेय के गुण, क्रिया एवं शब्दरूप धर्मों को श्लिष्ट शब्द से जहां कहा जाय, वहां यह अलंकार होता है। स्पष्ट है कि भामह श्लेष विवेचन में अधिक दूर नहीं जा सके हैं[1]। रुद्रट ने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष की अलग-अलग चर्चा की है।

---

1. Bhamah in Particular, has treated the figure very scantly, N.D. Banhatti, p. 116.

शब्दालङ्कारों के निर्वचन के प्रसङ्ग में शब्दश्लेष का निरूपण करते हुए रुद्रट ने कहा है कि जहां ऐसे अनेक वाक्य एक ही प्रयत्न से एक ही साथ कह दिए जायं, जिनमें सुप्रयोजित, कष्टकल्पनारहित नानाविध पदों का एकीभाव या संधि विद्यमान् हों अर्थात् जहां अनेक वाक्य अर्थतः भिन्नार्थक होने पर भी आनुपूर्वी या वर्ण-विन्यास क्रम की दृष्टि से एक ही हों या एक जैसे जान पड़ें, फलतः उन्हें अलग-अलग प्रयोग करने की आवश्यकता ही न हो और एक ही उच्चारण से अनुच्चरित भी साथ ही साथ उच्चरित समझ लिए जायं वहां यह अलंकार होता है। इस प्रकार श्लेष की परिभाषा प्रस्तुत करते समय सर्वप्रथम सम्भवतः रुद्रट ने ही शब्दश्लेष के आठ भेदों वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति एवं वचन का परिगणन किया है।

रुद्रट की श्लेष विवेचना की दूसरी मुख्य बात यह है कि जहां परवर्ती आलंकारिकों ने एक स्वतंत्र अर्थश्लेष की कल्पना की वहां रुद्रट ने अनेक अर्थालङ्कारों के मूल में निहित रहने वाले एक सामान्य आधारभूत तत्व के रूप में श्लेष की पृथक् भी चर्चा की है। रुद्रट ने कहा है कि जहां अनेकार्थक पदों से निर्मित एक वाक्य अनेक अर्थ प्रदान करें, वहां इस सामान्य श्लेष तत्व को स्थिर समझना चाहिए। रुद्रट के टीकाकार नमिसाधु ने शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष में अन्तर बताते हुए कहा है कि शब्दश्लेष में जहां अनेकार्थक अनेक वाक्यों का साथ ही विधान होता है, वहां इसमें अनेकार्थक एक ही वाक्य का विधान होता है। वहां शब्दश्लेष होता है और वहां अर्थश्लेष होता है। परन्तु ये भेदक तत्व बहुत स्पष्ट और विचारसह नहीं हैं।

आचार्य कुन्तक की श्लेष के सम्बन्ध में विचारधारा स्पष्ट नहीं है, इसका कारण यह है कि श्लेष के सम्बन्ध में उन्होंने उदाहरण तो अवश्य प्रस्तुत किए हैं, पर विवेचनांश द्वारा अंश उनका मत इसलिए स्पष्ट नहीं है कि वहां का पाठ ही त्रुटित है। उन्होंने जो विविध उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, उन पर भामह की स्पष्ट छाप दृष्टिगोचर होती है। परन्तु जब श्लेष का इतना प्रशस्त विवेचन

इसके पूर्व किया जा चुका है तो रुद्रट का यह विवेचन उसके समक्ष निष्प्रभ सा दृष्टिगोचर होता है, साथ ही साथ यह भी आश्चर्यजनक तथ्य है कि कुन्तक जैसे परिपक्व मेधा के आचार्य ने श्लेष का इतना अछूता विवेचन कैसे किया है?

भोजराज ने दो विभिन्न स्थलों पर श्लेष की चर्चा की है। पहले स्थल पर उन्होंने उद्भटादि आचार्यों की परम्परागत परिभाषा प्रस्तुत की है और कहा है कि द्व्यर्थक शब्दों का जहां तंत्रपूर्वक प्रयोग होता है, वहां यह अलंकार होता है। भोजराज ने इसके ६ भेद किए हैं— प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति, वचन तथा पद एवं भाषागत। लिंगगत श्लेष को भोजराज ने प्रकृतिगत श्लेष से भिन्न नहीं माना है। प्रत्यय श्लेष के उन्होंने दो रूप बताए हैं— सोद्भेद एवं निरुद्भेद। जहां प्रत्ययों की विरूपता का पता चल जाय वहां सोद्भेद और जहां पता न लगे वहां निरुद्भेद होता है। इसी प्रकार विभक्तिश्लेष भी भिन्न जातीय और अभिन्नजातीय होता है। वचन श्लेष के भी सोद्भेद एवं निरुद्भेद रूपों का भोजराज ने परिगणन किया है। इस प्रकार सभंग श्लेष के मूलत: छ: भेदों का परिगणन भोजराज ने किया है।

दूसरे स्थल पर पुन: श्लेष का विचार करते हुए भोजराज का कथन है कि श्लेष वहां होता है जहां एक पद के अनेकविध अर्थ कहे जायं। इनके पहले तो तीन भेद हैं— पदगत, क्रियागत एवं कारकगत। इन तीनों में से प्रत्येक के भिन्नपद तथा अभिन्नपद भेद होंगे। फलत: कुल मिलाकर छ: भेदों का परिगणन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भोजराज का श्लेष विवेचन पर उद्भट की स्पष्ट छाप है। साथ ही साथ दण्डी का भिन्न क्रिया भेद भी दिखाई देता है। अस्तु, भोजराज के श्लेष विवेचन पर दण्डी की भी छाप विद्यमान् है।

रुय्यक की श्लेष विवेचना विशद् है। उन्होंने स्वरूप के सम्बन्ध में परम्परा का परित्याग न करते हुए अधिक व्यावर्तक एवं विशद् निरूपण किया है। श्लेष की परिभाषा प्रस्तुत करते समय उनके समक्ष इससे मिलते-जुलते अलंकार एवं

ध्वनि प्रभेद भी थे अतः उन्होंने जो परिभाषा प्रस्तुत की, वह इन सबको व्यावृत्त करती हुई अपने लक्ष्य के स्वरूप का विश्लेषण करती है। उन्होंने बताया कि विशेष्य के भी साम्य में या विशेषण तथा विशेष्य दोनों के बोधक पदों के प्रयोग में ही श्लेष होता है। समासोक्ति में भी दो अर्थ होते हैं पर वहाँ विशेषण वाचक पदों में ही अनेकार्थता होती है, विशेष्य में नहीं। समासोक्ति में विशेष्य श्लिष्ट नहीं होता। अतः साम्य का भी प्रश्न नहीं उठता। श्लेष में विशेष्य भी श्लिष्ट होता है। रुय्यक ने इस प्रसंग में यह भी बताया है कि श्लेष में केवल प्राकरणिक का ही नहीं अप्राकरणिक का भी श्लेष होता है और यही नहीं प्राकरणिक-अप्राकरणिक का भी श्लेष होता है। पहले दोनों प्रकारों में तो विशेषण और विशेष्य दोनों श्लिष्ट रहते हैं और दोनों में इसीलिए साम्य भी रहता है। तीसरे में केवल विशेषणसाम्य ही रहता है। विशेष्य एक ही रहता है और वह प्राकरणिक तथा एकार्थक होता है। यदि यहाँ विशेष्य में भी दो अर्थ होते और एक प्राकरणिक तथा दूसरा अप्राकरणिक होता तो शब्दशक्तिमूलध्वनि में और श्लेष में अन्तर ही न होता। इसीलिए तीसरे प्रभेद में केवल विशेषणों के ही श्लिष्ट होने की बात कही गयी है। इस प्रसंग में यह शंका उठ सकती है कि यदि ऐसी बात है तो फिर समासोक्ति और इसमें क्या भेद है क्योंकि उभयत्र विशेषण श्लिष्ट हैं। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि समासोक्ति में दोनों विशेष्यों का शब्दतः प्रयोग नहीं होता, श्लेष में पृथक्-पृथक् होता है, इसीलिए शब्दशक्तिमूलध्वनि और श्लेष में भी भेद हो जाता है। ध्वनि में प्राकरणिक एवं अप्राकरणिक विशेष्य का पृथक्-पृथक् नहीं बल्कि श्लिष्ट प्रयोग रहता है और समासोक्ति के इस भेद में अलग-अलग रहता है। इसीलिए पृथक्-पृथक् शब्दों से बोधित होने के कारण दोनों वाच्य हो जाते हैं। यदि एक ही श्लिष्ट पद से दोनों अर्थों की प्रतीति होती तो प्रकरणवश पहला और प्राकरणिक अर्थ ही वाच्य होता, दूसरा व्यंजनालभ्य ही हो सकता और इस स्थिति में उभयवाच्यसापेक्ष श्लेष कभी सम्भव न हो पाता। अतः इन तीनों भेदों में से पहले दो को

ध्यान में रखकर `विशेष्य का साम्य` ही कहा गया है और तीसरे भेद को ध्यान में रखकर `दोनों का प्रयोग` कहा गया है। इसी विभाजन को दृष्टिकोण में रखते हुए रुय्यक ने सभंग श्लेष को शब्दश्लेष बताया है और अभंगश्लेष को अर्थश्लेष बताया है।

आचार्य उद्भट ने श्लेष और अलंकारान्तर के एकत्र सद्भाव की स्थिति में श्लेष को प्रतिष्ठा की है और अलंकारान्तर की प्रतिभा अर्थात् आपाततः स्थिति मानी है। रुय्यक ने इस स्थापना का विरोध किया है और विभिन्न तर्कों के आधार पर यही माना है कि इन स्थितियों में श्लेष की ही प्रतिभा तथा अलंकारान्तर की प्रतिष्ठा है।

आचार्य मम्मट ने भी शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष पृथक्-पृथक् स्वीकार किया है। मम्मट द्वारा निरूपित शब्दश्लेष के लक्षण और भेद उद्भट और रुद्रट से मिलते-जुलते हैं। शब्दश्लेष की परिभाषा देते हुए उन्होंने उद्भट की भांति यह कहा है कि अर्थभेद से भिन्न-भिन्न शब्द जहां आनुपूर्वी की एकतावश एक साथ उच्चरित होते हों, वहां शब्दों के श्लिष्ट होने की स्थिति में श्लेष शब्दालंकार होता है। इस श्लेष के स्वरूप के सम्बन्ध में और विस्तृत विचार करते हुए मम्मट के टीकाकारों ने उसे और भी स्पष्ट किया है, जहां तक भेद की बात है, मम्मट ने वर्ण, पद, लिङ्ग, भाषा, प्रकृति, प्रत्यय, विभक्ति एवं वचनगत आठ भेदों का परिगणन किया है। इन आठों भेदों को मम्मट ने सभंगश्लेष का उदाहरण स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी बताया है कि प्रकृति एवं प्रत्यय की सर्वत्र एकरूपता के कारण एक नवम् भेद होता है जिसे काव्यप्रकाशकार ने अभङ्ग श्लेष की संज्ञा दी है।

उपर्युक्त प्रसङ्ग में मम्मट की तीन बातें विचारणीय हैं—

(१) अन्य अलङ्कार एवं श्लेष के एकत्र सद्भाव में किसकी प्रतिष्ठा और किसकी प्रतिभा मानी जाय।

(२) क्या सभंगश्लेष शब्दश्लेष है और अभंगश्लेष अर्थश्लेष?

(३) क्या सभंग एवं अभंग दोनों को अर्थश्लेष कहना चाहिए?

पहला मत आचार्य उद्भट का है। उद्भट का कथन है कि श्लेष और अलंकारान्तर के एकत्र सद्भाव की स्थिति में श्लेष की प्रतिष्ठा होती है और अन्य अलंकारों की स्थिति आपाततः मानी जाती है। इस मत के विरोध में मम्मट का कथन है कि उद्भट की यह धारणा गलत है कि श्लेष का कोई सावकाश स्थल होता ही नहीं। वस्तुतः ऐसे उदाहरण प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं, जहां श्लेष के अतिरिक्त कोई दूसरा अलंकार नहीं होता। अतः निरवकाश होने के कारण उसे जो अन्य अलंकारों का बाधक माना जाता है वह समीचीन नहीं है। वस्तुतः अन्य अलंकारों का अंग बनकर यदि श्लेष आता है तो श्लेष को ही बाध्य और उसी को प्रतिभा माननी चाहिए तथा अंगी रूप में स्थित अन्य अलंकारों की प्रतिष्ठा स्वीकार की जानी चाहिए।

दूसरे मत के व्याख्याताओं की धारणा यह है कि सभंगश्लेष में वस्तुतः दो भिन्न आकार के शब्द जतुकाष्ठन्याय से मिले रहते हैं, अतः यहां शब्दों का श्लेष होने से शब्दालंकार है। अभंग श्लेष में शब्द तो एक ही होता है पर उसके दो अर्थ होते हैं अतः दो अर्थों का श्लेष होने से अर्थश्लेष माना जाना चाहिए। मम्मट ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि कौन सा अलंकार शब्द-गत है इसका निर्णय करते समय यह नहीं देखना चाहिए कि कौन शब्दाश्रित है और कौन अर्थाश्रित बल्कि यह देखना चाहिए कि किस प्रकार की विच्छित्ति विशेष का शब्द एवं अर्थ में से किसके साथ अन्वय व्यतिरेक है। यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो मम्मट के अनुसार सभंग एवं अभंग दोनों शब्दश्लेष ही हैं, कारण कि दोनों स्थलों में शब्द का पर्याय परिवर्तन सम्भव नहीं है। इस प्रकार मम्मट ने रुय्यक की धारणा का भी विरोध किया है और उसके लिए उन्होंने अपने स्वयं मौलिक तर्क दिए हैं। परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने रुय्यक का समर्थन किया है

और कहा है कि अन्वय व्यतिरेक का सहारा कार्यकारणभाव का निर्णय करने के लिए लिया जाता है। अर्थगत और शब्दगत अलंकारों का निर्णय करने के लिए नहीं। आधाराधेयभाव का निर्णय करने के लिए अन्वय व्यतिरेक की सरणि को अपनाना एक उपहासास्पद बात है।

तीसरा प्रश्न यह है कि यदि रुय्यक आदि सभंग और अभंग को इसलिए अर्थालङ्कार मानते हैं कि उनका चमत्कारबोध अर्थबोध-सापेक्ष है अर्थात् जबतक अर्थबोध न होगा तबतक चमत्कारबोध होगा ही नहीं और चमत्कारबोध के अभाव में यह पता चलना मुश्किल है कि वर्णित स्थल पर कौन सा अलंकार है? तात्पर्य यह है कि अर्थनिमित्तक ही यह अलंकार ज्ञात होकर व्यवहार योग्य बनता है अत: इसे अर्थालङ्कार ही कहना चाहिए। परन्तु इस दृष्टिकोण से यदि सभंग और अभंग जैसे अलंकारों को अर्थालंकार कहा जाय तबतो किसी भी अलंकार को अर्थालंकार कहा जा सकेगा। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने सभंग और अभंग दोनों को शब्दालंकार स्वीकार किया है और अर्थालङ्कार वहां माना है जहां पर्याय परिवृत्ति के बावजूद भी दो अर्थ निकल सकें और एक चमत्कृति अनुभूत हो।

हेमचन्द्र ने श्लेष की विवेचना करते हुए अपने काव्यानुशासन में कहा है कि अर्थभेदवश भिन्न-भिन्न बोधक शब्दों की आनुपूर्वीगत एकता के कारण जहां भङ्ग या अभङ्ग पूर्वक युगपत उच्चारण हो, वहां श्लेष होता है। आचार्य उद्भट के द्वारा श्लेष के जो भिन्नपद और अभिन्नपद रूप कहे गये हैं, उसी को हेमचन्द्र ने भी भङ्गपूर्वक या सभंग और अभंगपूर्वक या अभंग की संज्ञा दी है। हेमचन्द्र ने भी रुद्रट की भाँति श्लेष को वर्णगत, पदगत, लिंगगत, भाषागत, प्रकृतिगत, प्रत्ययगत, वचनगत एवं विभक्तिगत स्वीकार किया है। मम्मट की भाँति हेमचन्द्र ने भी शब्दशक्ति मूलध्वनि से श्लेष का अन्तर बताते हुए यह स्वीकार किया है कि श्लेष में दोनों अर्थ वाच्य और प्रकरणोपयोगी ही होते हैं जबकि शब्दशक्ति मूल ध्वनि में एकवाच्य और एक व्यंग्य हुआ करता है। मम्मट की भाँति हेमचन्द्र

ने भी सभंग एवं अभंग दोनों को शब्दश्लेष ही माना है। अर्थालंकारों के प्रसंग में अर्थश्लेष को भी मम्मट की ही भांति चर्चा की है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने श्लेष की चर्चा करते हुए कहा है, जहां श्लिष्ट पदों से अनेकार्थ का अभिधान हो, वहां श्लेष अलंकार होता है--- "श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते"। आचार्य विश्वनाथ ने भी पूर्वोक्त क्रम से वर्णगत आदि आठ श्लेष भेदों का परिगणन किया है। उन्होंने सभंग, अभंग तथा उभयरूप के दृष्टिकोण से पुनः तीन भेदों का परिगणन किया है। उन्होंने सभंग एवं अभंग श्लेष को शब्दालंकार माना है तथा अभंग श्लेष की अर्थालंकारता का खण्डन परम्परानुसार किया है। मम्मट की भांति उन्होंने यह भी माना है कि श्लेष और अलंकारान्तर के एकत्र सद्भाव होने पर प्रतिष्ठा अलंकारान्तर की ही होती है।

आचार्य अप्पय्य दीक्षित ने रुय्यक की भांति यह स्वीकार किया है कि नानार्थक शब्दों की योजना ही श्लेष है और वह तीन प्रकार का होता है— वर्ण्यविषयक, अवर्ण्यविषयक और उभयविषयक। आचार्य दीक्षित को परम्परागत आचार्यों की तरह शब्दशक्तिमूलध्वनि मानना स्वीकार्य नहीं है। पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित के उक्त मत का खण्डन किया है। पण्डितराज का कथन है कि यदि परम्परागत आचार्यों से अप्पय दीक्षित का आशय मम्मट से है तो निश्चय ही मम्मट की शब्दशक्तिमूलध्वनि का आशय वे समझ नहीं सके हैं। मम्मट ने निश्चय ही ऐसे स्थलों के प्राकरणिक अर्थ को व्यंग्य माना है। अप्पय दीक्षित ने श्लेष के पुनः सभंग एवं अभंग दो भेद वर्णित किए हैं और दोनों को अर्थालङ्कार माना है। अप्पय दीक्षित ने "चित्रमीमांसा" में इसके प्रतिपादन की बात कही है लेकिन चित्रमीमांसा में इस अलङ्कार की चर्चा हो नहीं आ पायी है।

पण्डितराज ने श्लेष का स्वरूप बताते हुए कहा है कि एकानुपूर्वीक शब्द से जहां अनेक अर्थों का बोध हो वहां श्लेष अलङ्कार होता है। इसके पहले तो तीन भेद सम्भव हैं— सभङ्ग, अभङ्ग एवं शुद्ध। इन तीनों में से प्रत्येक के तीन-तीन

भेद सम्भव हैं— प्रकृतार्थविषयक, अप्रकृतार्थविषयक एवं उभयविषयक। पहले दो भेदों में तो विशेष्य चाहे श्लिष्ट हो या अश्लिष्ट, कोई बन्धन नहीं, परन्तु तीसरे के लिए यह आवश्यक है कि वहां विशेष्यांश में श्लेष नहीं होना चाहिए, अन्यथा शब्दशक्तिमूलध्वनि से भेद न हो सकेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि आचार्य उद्भट ने सभङ्ग एवं अभङ्ग प्रक्रिया को जो बीजन्यास किया था, वह कालान्तर में भी अक्षुण्ण रहा है परन्तु उनके द्वारा श्लेष के अलंकारान्तर की अपेक्षा प्रतिष्ठा वाला सिद्धान्त परवर्ती विद्वानों को ग्राह्य न हो सका और बाद में उसका अनेकविध खण्डन-मण्डन हुआ। उपर्युक्त विवेचना के आधार पर एक बात और स्पष्ट होती है कि आचार्य उद्भट का श्लेष विवेचन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक वैज्ञानिक एवं सूक्ष्म था तथा परवर्ती मम्मटादि आचार्यों का पथप्रदर्शक था। उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य श्लेष का उतना वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं कर सके, जितना कि आचार्य उद्भट ने किया है। केवल दण्डी ने भिन्न पद एवं अभिन्न पद श्लेष का परिगणन किया है। उद्भट ने शब्दश्लिष्ट और अर्थश्लिष्ट का बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन किया है जोकि परवर्ती आलंकारिकों के लिए पथप्रदर्शक रहा।

उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य अन्य अलंकारों के साथ श्लेष का क्या स्थान है, उसकी विवेचना करने में स्वयं को अक्षम पाते हैं परन्तु उद्भट के साथ ऐसा नहीं है। उन्होंने स्पष्ट रूप से इसकी विवेचना की है। उनके अनुसार जहां कहीं भी श्लेष अन्य अलंकारों के साथ होता है तो उस समय प्राधान्य श्लेष का ही होता है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस तथ्य की विवेचना नहीं की थी परन्तु उद्भट ने इसकी विवेचना की थी और यह भी कहा था कि अन्य अलंकारों के साथ श्लेष ही ऐसा अलंकार है जो अन्य अलंकारों को भी शोभामण्डित करता है।

कुल मिलाकर उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्यों का दृष्टिकोण इस दिशा में संकुचित है। उन्होंने सामान्यतौर पर श्लेष की विवेचना की है। भामह की

विवेचना तो ऐसा प्रतीत होता है कि चलते-चलते ही कर दी गयी है ।

आचार्य उद्भट ने श्लेष की जो विवेचना की है, उसने परवर्ती आचार्यों को प्रभावित किया । परवर्ती मम्मट और उनके अनुयायी आचार्य उद्भट से किस सीमा तक प्रभावित हुए हैं, इस बात का विवेचन प्रकृतस्थल पर आवश्यक है ।

आचार्य उद्भट ने श्लेष अलंकार को श्लिष्ट की संज्ञा दी है जबकि मम्मट और उनके अनुयायियों ने इसे श्लेष की संज्ञा दी है । आचार्य उद्भट ने श्लेष को शब्दश्लिष्ट और अर्थश्लिष्ट दो भागों में विभाजित किया है और दोनों को अर्थालंकार कहा है । मम्मट ने श्लेष का विभाजन शब्दश्लेष एवं अर्थश्लेष के रूप में अवश्य किया है लेकिन शब्दश्लेष को उन्होंने शब्दालङ्कार एवं अर्थश्लेष को अर्थालङ्कार माना है ।

आचार्य उद्भट के अनुसार जब स्वर तथा प्रयत्न में शब्दों के दोनों रूपों में एकात्मकता रहती है तो अलंकार अर्थश्लिष्ट हुआ करता है परन्तु जब शब्दों के उभय रूपों में साम्यता रहती है परन्तु स्वर और प्रयत्न में भेद रहता है तो वहां शब्दश्लेष होता है । इस प्रकार आचार्य उद्भट के अनुसार उभय प्रभेदों में भेद का मुख्य आधार एक प्रयत्नोच्चार्यता है परन्तु आचार्य मम्मट और उनके अनुयायियों के अनुसार श्लेष के दोनों प्रभेदों में भेद का मुख्य आधार एक परिवृत्तिसहत्व है । जब श्लेष में शब्द के स्थान पर उसके पर्याय का प्रयोग किया जाता है तो श्लेष का आकर्षण समाप्त हो जाता है । उस समय श्लेष को शब्दश्लेष की संज्ञा दी जाती है क्योंकि ऐसी परिस्थिति में श्लेष शब्दों पर ही निर्भर रहता है । परन्तु जिस समय शब्दों के पर्याय का प्रयोग करने से श्लेष का आकर्षण समाप्त नहीं होता, तो ऐसी परिस्थिति में अर्थश्लेष होता है ।

इस प्रकार उद्भट के अनुसार पल्लवाताम्र भास्वत्करविराजिनी में अर्थश्लेष है क्योंकि भास्वत्कर स्वर एवं प्रयत्न दोनों में एक है परन्तु आस्वाय-फललुब्धेहितप्रदा में शब्दश्लेष है क्योंकि अर्थ परिवर्तन के साथ स्वर एवं प्रयत्न में

प्रभूत परिवर्तन हो जाता है परन्तु मम्मट के अनुसार आस्वयफललुब्धेहितप्रदा तथा भास्वत्करविराजिनो दोनों में शब्दश्लेष होगा क्योंकि भास्वत्कर के स्थान पर सूर्यकिरण तथा स्वाय के स्थान पर निद्रा का प्रयोग करने से श्लेष का सारा सौन्दर्य समाप्त हो जायेगा ।

आचार्य उद्भट के अनुसार जब श्लिष्ट और अन्य अलंकार एक साथ रहते हैं, उस समय प्राधान्य श्लिष्ट का हो होता है क्योंकि यदि श्लिष्ट हटा दिया जाय तो अन्य अलंकारों को शोभा समाप्त हो जाती है । इस प्रकार उद्भट के अनुसार—

"स्वपर्व पल्लवाताम्रभास्वत्कर विराजिनी ।
प्रभातसंध्येवास्वायफललुब्धे हितप्रदा "।।[1]

इस उदाहरण में उपमाप्रतिभोत्थितश्लिष्ट होगा । इस प्रकार इस स्थल पर श्लेष को हो प्रधानता है । परन्तु मम्मट की विचारधारा इसके विपरीत है । मम्मट के अनुसार प्रकृत स्थल पर श्लेष उपमाअलंकार के सहायक तत्व के रूप में है । इस प्रकार मम्मट के अनुसार प्रधानता उपमा को ही है और श्लेष मात्र सहायक तत्व के रूप में है । इस स्थल पर श्लेषप्रतिभोत्पत्तिहेतु उपमा है । उद्भट और उनके व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार श्लेष के अन्य अलंकारों के साथ रहने की दशा में यदि अन्य अलंकारों को प्रमुखता दी जायेगी तो श्लेष अनवकाश हो जायेगा और उसका समस्त आकर्षण समाप्त हो जायेगा परन्तु मम्मट ने इस विचारधारा का खण्डन किया है ।

आचार्य मम्मट ने शब्दश्लेष के दो विभाग किए हैं— सभङ्गश्लेष एवं अभङ्गश्लेष । यह विभाजन उद्भट के शब्दश्लिष्ट और अर्थश्लिष्ट से मिलता-जुलता है ।

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह,

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने श्लेष की जो विवेचना की है वह उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा अत्यधिक निश्चित एवं वैज्ञानिक है। भामह तो ऐसी व्यवस्थित श्लेष विवेचना की कल्पना भी नहीं कर सके हैं। आचार्य उद्भट की इस श्लेष व्यवस्था का यद्यपि परवर्ती आलङ्कारिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से खण्डन-मण्डन किया है लेकिन इतना अवश्य है कि उद्भट की श्लेष विवेचना से वे प्रभावित अवश्य हुए हैं। अस्तु यह स्पष्ट है कि उद्भट द्वारा स्थापित सभङ्ग और अभङ्ग की प्रक्रिया का समर्थन आद्योपान्त रहा। स्वयं आचार्य मम्मट ने उद्भट द्वारा स्थापित इस श्लेष परम्परा का अनुगमन किया है और शब्दश्लेष के तदनुसार दो विभाग किए हैं। मम्मट द्वारा किये गये श्लेष के इस विभाजन पर उद्भट के शब्दश्लिष्ट और अर्थश्लिष्ट की सुस्पष्ट छाप विद्यमान है। इस प्रकार आचार्य उद्भट ने जिस श्लेष व्यवस्था का बीजन्यास किया उससे परवर्ती अनेक आचार्य प्रभावित तो हुए परन्तु उनकी श्लेष की अलंकारान्तर की 'प्रतिष्ठा' वाली बात मान्य न हो सकी।

आचार्य उद्भट और वृत्ति विवेचन

काव्यशास्त्र के आदि आचार्य भामह ने दो प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया था— ग्राम्यानुप्रास तथा लाटीयानुप्रास। प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार उक्त दोनों प्रकार के अनुप्रास दो वृत्तियों पर आधारित हैं— ग्राम्या और उपनागरिका[1]। आचार्य भामह के पश्चात् प्रख्यात आलंकारिक उद्भट का नाम आता है। उद्भट ने तीन प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है— छेकानुप्रास, लाटानुप्रास तथा वृत्त्यनुप्रास। वृत्त्यनुप्रास तीन वृत्तियों— ग्राम्या, परुषा तथा

१- भामहो हि ग्राम्योपनागरिका वृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासंव्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य येचत्वारो भेदाः वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाय भेद द्वितयंप्रादर्शयत।ौ
— काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह-प्रतिहारेन्दुराज (१)।

उपनागरिका पर आधृत है। इन वृत्तियों का प्रथम दर्शन आचार्य उद्भट ने किया था। वे ही वृत्ति व्यवहार के प्रथम प्रवर्तक हैं जैसा कि हमें अभिनवगुप्त से मालूम होता है। प्रसिद्ध विद्वान् डा० एस०के० डे का मत है—

"These vrttis which consist primarily of suitable dound adjustment with a view to alliteration, appear to have been first recognised, as Abhimawagupta points out by Udbhata, and from him known to Anandvardhan. We shall see presently that Rudrata mentions five vrttis; but we find Udbhata's views accepted by later theorists like Mammata and Ruyyaka who, however, consider the whole question from the point of view of Rusa".[1]

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि आचार्य रुद्रट ने अपने दृष्टिकोण से पांच वृत्तियों का परिगणन किया है जिसकी विवेचना आगे की जायेगी तथापि वृत्ति व्यवहार का जो वैज्ञानिक विवेचन आचार्य उद्भट ने किया है, वह अपने ढंग का अनूठा है और उसने परवर्ती प्रसिद्ध आचार्यों को भी प्रभावित किया। प्रसिद्ध रसवादी आचार्य मम्मट और रुय्यक ने उद्भट की उपर्युक्त वृत्ति व्यवहार विवेचना को स्वीकार किया है।

आचार्य उद्भट के उक्त वृत्ति विवेचन से परवर्ती आचार्य किस सीमा तक प्रभावित हुए थे, इस बात को विवेचना करने के लिए हमें समूची वृत्तियों के इतिहास पर विहंगम दृष्टिपात करना होगा। आचार्य भामह ने वृत्तियों के आधार पर दो प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। आचार्य उद्भट ने शब्द और अर्थ दोनों प्रकार की वृत्तियों का विवेचन

---

1. S.K. De: History of Sanskrit Poetics, Vol. II, p. 55.

किया है । उद्भट ने तीन प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है— छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास तथा लाटानुप्रास । इन अनुप्रासों में लाटानुप्रास का परिगणन आचार्य भामह ने भी किया है । छेकानुप्रास उद्भट की कारयित्री प्रतिभा से उत्पन्न एक नवीन आविष्कार है । वृत्यनुप्रास का विवरण आचार्य भामह ने भी दिया है । उभय आचार्यों में अन्तर केवल इतना है कि भामह ने दो वृत्तियाँ मानी हैं और उद्भट ने तीन प्रकार की वृत्तियों का परिगणन किया है । इन वृत्तियों का नामकरण उन्होंने परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या के रूप में किया है । उद्भट की अन्तिम वृत्ति का अनुप्रास भामह के ग्राम्यानुप्रास से मिलता-जुलता है अर्थात् उसमें 'ल' वर्ण की आवृत्ति होती है । उपनागरिका में 'न्द' वर्ण की आवृत्ति होती है । यह भामह के 'न्त' वर्ण की आवृत्ति से मिलती-जुलती है । परुषा वृत्ति के आविष्कारकर्ता आचार्य उद्भट ही हैं । उन्होंने ही सर्वप्रथम इस वृत्ति का अनुसंधान किया था । यह वृत्ति परुष वर्णों से युक्त होती है । परवर्ती आचार्यों का यह मत रहा है कि इन वृत्तियों द्वारा निर्मित अनुप्रासों से विभिन्न रसों का उद्रेक सम्यक् प्रकारेण हो जाता है । परुषा वृत्ति वीर, रौद्र और वीभत्स रसों की प्रतीति कराती है । ग्राम्या और उपनागरिका वृत्तियाँ शृङ्गारादि अन्य रसों की प्रतीति कराती हैं । उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का मत है—'अतस्तावत् वृत्तयो रसाभिव्यक्त्यनुगुण वर्णव्यवहारात्मिका प्रथममभिधीयन्ते । ताश्च तिस्रः परुषोपनागरिकाग्राम्यत्वभेदात[1] । आचार्य उद्भट ने तीनों वृत्तियों के लक्षण भी अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' में दिया है । उन्होंने इनके उदाहरण भी दिए हैं । परुषा वृत्ति का लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा है—

'शषाभ्यां रेफ संयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्यातह्लह्वाह्याद्यैश्च संयुता ।[2]'

अर्थात् शष, रेफ संयोग, टवर्ग, ह्ल, ह्व, ह्य से युक्त वृत्ति को परुषा वृत्ति

1- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह सम्पादित श्री बनहट्टी, पृ० ५ ।
2- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, पृ० ५ ।

कहा जाता है। इसका उदाहरण उद्भट ने इस प्रकार दिया है—

"तत्र तोयाशयाशेष व्याकोशित कुशेशया ।
चकाशे शालिकिशास कपिशाशामुखाशरत् ।।"[1]

इसी प्रकार उपनागरिका की परिभाषा देते हुए आचार्य उद्भट का कथन है—

"सरूप संयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ।।"[2]

अर्थात् विद्वानों ने उपनागरिका उसे माना है जहाँ समानरूप वाले वर्ण संयुक्त हों तथा प्रत्येक वर्ग के अन्तिम (अनुनासिक) वर्ण अन्य स्पर्श वर्णों (क से म तक) के शिरोभाग पर अथवा आदि में मिले हों। इसका उदाहरण उद्भट ने निम्नवत् दिया है—

"सान्द्रारविन्द वृन्दोत्थ मकरन्दाम्बुबिन्दुभिः ।
स्यन्दिभिः सुन्दरस्पन्दं नन्दितेन्दिरा क्वचित् ।।"[3]

ग्राम्या की परिभाषा उद्भट ने निम्न प्रकार से दी है—

"शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ।।"[4]

अर्थात् यथासम्भव अवशिष्ट वर्णों से कोमला नाम द्वारा कही गयी ग्राम्या वृत्ति की प्रशंसा वे लोग किया करते हैं, जिनकी काव्य में पर्याप्त आदरबुद्धि है। इसका उदाहरण देते हुए उनका कथन है—

"केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित्
कुर्वती काननारूढश्री नूपुरवभ्रमम् ।।"[5]

१–काव्यालङ्कारसारसंग्रह, पृ० ५ ।

२– काव्यालङ्कारसारसंग्रह सं० श्री बनहट्टी, पृ० ५ ।

३– वही, पृ० ६ ।

४– वही ।

५– वही, पृ० ६ ।

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने परुषा, उपनागरिका तथा ग्राम्या का लक्षण किया है। इन वृत्तियों द्वारा निर्मित अनुप्रासों से रसों का उद्रेक स्वयमेव होता है। डा० राघवन् ने इन वृत्तियों के विषय में लिखा है कि परुषा वृत्ति अत्यन्त कर्कश होती है। उपनागरिका वृत्ति अत्यन्त सुघड़ एवं सुन्दरी नागरिका नायिका के समान होती है और ग्राम्या वृत्ति अपनी कमनीयता के कारण सुन्दरी व मुग्धा ग्राम्य बाला की भांति होती है—

"The first vrtti is so called because of its harshness, the second because of its being refined like the city bred damsel and third because it is soft like an unsophisticated country bred. The third vrtti Gramya is also called Komala signifying the other extreme of the first viz. Parusha"[1].

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने तीनों वृत्तियों का अत्यन्त सारगर्भित एवं वैज्ञानिक विवेचन किया है। इन वृत्तियों में रस भाव आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप अलग-अलग अनुप्रास का उद्भव होता है जैसा कि उद्भट का मत है—

"सरूप व्यंजनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु ।
पृथक्पृथगनुप्रासं उशन्ति कवयः सदा ॥"[२]

आचार्य उद्भट के वृत्तिविवेचन के परवर्ती स्वरूप पर भी इस अध्याय में दृष्टिविक्षेप करना आवश्यक है। तभी इस बात की प्रतीति हो सकेगी कि उद्भट के इस वृत्ति विवेचन ने परवर्ती आचार्यों को किस सीमा तक प्रभावित किया था।

आचार्य आनन्दवर्धन वृत्तियों के विषय में भलीभांति जानते हैं। उनके मतानुसार वृत्तियां गुणों के फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं। इस बात का विवेचन

1. Some Concepts of Alamkar Shastra, p. 203.

२- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, पृ० ६।

उन्होंने ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में किया है। पुन: तृतीय उद्योत में उन्होंने उपनागरिका आदि वृत्तियों का विवेचन किया है। आनन्दवर्धन ने वृत्तियों का दो अर्थों में विवेचन किया है। नाट्यवृत्तियाँ अर्थात् कैशिकी आदि और काव्य-वृत्तियाँ अर्थात् उपनागरिका आदि। उनका कथन है—

"रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो: ।
औचित्यवान् यस्ता एव वृत्तयो द्विविधा स्थिता: ॥"[1]

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते। तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो व्यवहा-रस्ता एता: कैशिक्याद्या वृत्तय:। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्या:। वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिता: कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति।[2] बाद में भी आचार्य आनन्दवर्धन ने दोनों वृत्तियों के बीच यही भेद बताया है, उनका कथन है—

"शब्दतत्वाश्रया: काश्चिदर्थतत्वयुजो यश: ।
वृत्तयोऽपि प्रकाश्यन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥"[3]

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनमये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति या: काश्चित् प्रसिद्धा: उपनागरिकाद्या: शब्दतत्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्वसंबद्धा: कैशिक्यादय: ता: सम्यक् प्रतिपत्ति पदवीमवतरन्ति।[4] इस प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य में दो वृत्तियाँ हैं जैसे कि कैशिकी आदि नाट्य में तथा उपनागरिका आदि काव्य में। आचार्य उद्भट ने उपनागरिका आदि वृत्तियाँ अनुप्रासादि अलंकारों का आधार माना है। उद्भट ने इन्हें रसानुगुणवर्ण व्यवहार की संज्ञा दी है और आचार्य आनन्दवर्धन ने इन्हें रसानुगुणशब्दव्यवहार कहा है। आनन्दवर्धन के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने भी वृत्तियों का परिगणन किया है। उन्होंने

१- ध्वन्यालोक, ३।३३ । २- वही, ३।१८२ ।
३- वही, ३।४ । ४- वही, ।।।।१८४ ।

भी वृत्तियों का परिगणन गुणों से अभिन्नरूप में किया है। उन्होंने भी वृत्ति विवेचन में उद्भट का अनुसरण किया है। इस प्रकार आचार्य उद्भट के वृत्ति विवेचन से वे भी प्रभावित हुए हैं। अभिनवगुप्त ने कहा है—"नैव वृत्तिरीतीनां तद्व्यतिरिक्तत्वं सिद्धम्। तथा हि अनुप्रासानामेव दीप्तमसृणमध्यमवर्णनीयोपयोगितया परुषत्वललितत्व मध्यमत्व स्वरूप विवेचनाय वर्गत्रयसंपादनार्थं तिस्त्रोऽनुप्रासजातयो वृत्तय इत्युक्ताः। वर्तन्तेऽनुप्रासभेदा आस्विति + + + परुषानुप्रासः परुषा दीप्ता। मसृणानुप्रासः उपनागरिका नागरिकया विदग्धया उपमितेति कृत्वा। मध्यमं कोमलमपरुषमित्यर्थः। अतएव वैदग्ध्यविहीनस्वभावसुकुमारअपरुषग्राम्यवनिता सादृश्यादियं वृत्तिः ग्राम्येति च तृतीयः कोमलानुप्रास इति वृत्तयोऽनुप्रासजातय एव"[1]।

आचार्य अभिनवगुप्त ने परुषा को दीप्ता, उपनागरिका को मसृणा या ललिता कहा है तथा ग्राम्या को मध्यमा या कोमला कहा है। इस प्रकार उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम यह देखते हैं कि परुषा वीर, रौद्र और वीभत्स रसों के अनुकूल होती है और आरभटीवृत्ति के साथ रहती है। उपनागरिका और कोमला श्रृङ्गार और हास्य रसों के अनुकूल होती है तथा कैशिकी वृत्ति के साथ रहती है। अभिनवगुप्त ने बाद को बताया है कि—"नागरिकया ह्युपरमिते (ह्युपमिता) अनुप्रासवृत्तिः श्रृङ्गारादौ विश्राम्यति। परुषेति दीप्तेषु रौद्रादिषु। कोमलेति हास्यादौ तथा वृत्तयः काव्यमातृकाः इति यदुक्तं मुनिना तत्र रसोचित एव चेष्टा विशेषो वृत्तिः"[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अभिनवगुप्त ने दोनों प्रकार की वृत्तियों को रसौचित्य व्यवहार की संज्ञा दी है। कैशिकी आदि वृत्तियां अर्थवृत्तियां हैं और उपनागरिका आदि शब्दवृत्तियां हैं। आनन्दवर्धन ने रीति का अलग से विवरण दिया है। उन्होंने रीतियों और वृत्तियों में अभेद की ही स्थापना नहीं की है वरन् गुणालंकार से उनका अनतिरिक्तत्व भी सिद्ध किया

१- लोचन, पृ० ६।

२- ध्वन्यालोकलोचन, पृ० २३२।

हैं। वृत्तियां वस्तुत: अनुप्रास की जातियां हैं। दीप्त, मसृण और मध्यम वर्णों की उपयोगिता के अनुसार परुषत्व, लालित्य और मध्यमत्व स्वरूप के विवेचन हेतु तीन अनुप्रासजातियां वृत्तियां कही गयी हैं। इनमें परुषा अनुप्रास वाली वृत्ति परुषा है, मसृण अनुप्रास वाली वृत्ति उपनागरिका है तथा मध्यम अर्थात् अकोमल एवं अपरुष अनुप्रास वाली वृत्ति ग्राम्या है। तस्माद् वृत्तयो नु-प्रासादिभ्यो नातिरिक्तवृत्तयो नाभ्यधिक व्यापारा:[1]। सम्भवत: यही कारण है कि भामहादि ने वृत्तियों और रीतियों की अलग से विवेचना नहीं की है। आचार्य उद्भट ने वृत्तियों की अलग सत्ता स्थापित करने की चेष्टा की है। परन्तु उद्भट की वृत्ति विवेचना में ध्वनिकार द्वारा प्रवर्तित वह तत्त्व नहीं है जिसे सहृदयों का आह्लादक और काव्य का आत्मतत्त्व कहा जाता है। इसीलिए ध्वनिकार ने कह दिया है— ता: अपि गता: श्रवण गोचरत्वम्[2]। इसी प्रकार उन माधुर्यादि गुणों का समुचित वृत्ति में अर्पण होने पर जो दीप्त, ललित और मध्यम वर्णनीय विषयरूप— गौडीय, वैदर्भ और पांचाल देश के स्वभावानुकूल त्रिविध रीति कही गयी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतियां भी गुणाश्रित हैं। इसी कारण अभिनवगुप्त ने लिखा है—जातिजातिमतो नान्या, समुदायश्च समुदायिनो नान्य इति वृत्तिरीतयो न गुणालंकार व्यतिरिक्ता इति[3]।

ध्वनिवादियों की दृष्टि चूंकि मुख्यत: काव्य के आत्मतत्त्व पर रही है इसीलिए उन्होंने गुणों को अभिव्यङ्ग्य माना है तथा रीति को अभिव्यंजक। रीतिवादियों की दृष्टि चूंकि देहवादी थी (यद्यपि वे स्वयं को देहवादी नहीं मानते) इसीलिए उन लोगों ने अभिव्यंजक (रीति) को अधिक महत्त्व दिया है। अभिव्यंग्य (गुण) को प्राधान्य देने के कारण ही मम्मट ने उपनागरिकादि वृत्तियों एवं रीतियों में एकता स्थापित की है। क्योंकि उपनागरिका आदि वृत्तियों में भी माधुर्यादि गुणों की प्रधानता रहती है तथा वैदर्भी आदि रीतियों

१- लोचन, पृ० २१।
२- ध्वन्यालोक, पृ० ५।
३- लोचन, पृ० २२।

में भी विभाजन माधुर्यादि गुणों को आधार मानकर किया जाता है । इसीलिए दोनों को एक माना है । ध्वनिकार ने शब्द और अर्थ के भेद से वृत्तियों के दो भेद स्वीकार किए हैं—

'रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा स्थिताः ।'[1]

आनन्दवर्धन ने वृत्ति को पारिभाषित करते हुए व्यवहार को ही वृत्ति माना है— 'व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते'।[2] इनमें शब्द के आश्रित जो व्यवहार हैं, वे उपनागरिकादि उद्भटोक्त शब्द वृत्तियां हैं। अर्थ के आश्रित जो व्यवहार हैं वे कैशिक्यादि भरतोक्त अर्थवृत्तियां हैं। भरत की चारों वृत्तियों का सम्बन्ध रस से हैं, इसीलिए ध्वन्यालोककार ने उसे अर्थाश्रित माना है। उपनागरिका, परुषा और ग्राम्या इन तीनों वृत्तियों का सम्बन्ध मुख्यतः शब्दों से है इसीलिए ध्वनिकार ने इसे शब्दाश्रित वृत्ति माना है। ध्वनिकार ने ध्वनि की आत्मत्वेन प्रतिस्थापना की है, यह तथ्य निर्विवाद है। इसीलिए अन्य सभी तत्वों का आत्मभूत ध्वनि में उन्होंने समाहार किया है। आत्मत्वेन रीति की अनुपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

'अस्मिन् व्यंग्य व्यंजकभाव विवेचनामये काव्यलक्षणे सति सति याः काश्चित् प्रसिद्धाः उपनागरिकाद्याः शब्दतत्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्वसम्बद्धा कैशिक्यादयस्ताः सम्यक् रीतिःपदवीमवतरन्ति'।[3]

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रयोजन विशेष की सिद्धि इन शब्दाश्रित वृत्तियों के द्वारा होती है, वह प्रयोजन ध्वनि के द्वारा सिद्ध हो ही जाता है। अतः महाविषयत्वसे युक्त होने के कारण ध्वनि सिद्धान्त के आविर्भावोपरान्त वृत्ति अनुपयोगी प्रतीत होने लगती है।

१- ध्वन्यालोक, ३।३३ ।
२- वही, पृ० २४९ ।
३- वही, पृ० ३३२ ।

जहाँ तक मम्मट का प्रश्न है, उन्होंने रीति और वृत्ति में अभेद माना है। उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों के वर्णन के प्रसंग में वे कहते हैं—एतास्तिस्रो वृत्तय: वामनादीनां मते वैदर्भी, गौडी, पांचालाख्या रीतयो मता:।[1] मम्मट वृत्ति को वर्णों में रहने वाला रसविषयक व्यापार मानते हैं। वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार:।[2] माणिक्यचन्द्र ने भी मम्मटाभिमत इसी अभेद को स्वीकार करते हुए कहा है—एतेन रीतयो वृत्त्यात्मका इत्यर्थ:। परवर्ती काव्यशास्त्र में भी पण्डितराज आदि ने रीति और वृत्ति में अभेद स्वीकार किया है। राजशेखर ने वृत्ति, प्रवृत्ति और रीति को भिन्न-भिन्न मानते हुए उन्हें पारिभाषित किया है। उनके अनुसार—विलासविन्यासक्रमो वृत्ति:, वेष विन्यासक्रमो प्रवृत्ति: वचनविन्यासक्रमो रीति:।[3] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर की वृत्ति भरतमुनि की कैशिक्यादि अर्थवृत्तियों पर आधारित है क्योंकि काव्यमीमांसा में काव्यपुरुष का वर्णन करते समय उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रदेशों की रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला है तथा इनके युग्मों को निर्धारित किया है। जहाँ तक अभिनवगुप्त का प्रश्न है, उन्होंने रीतियों को गुणों पर आश्रित माना है परन्तु यदि यथार्थत: देखा जाय तो न तो आनन्दवर्धन और न ही अभिनवगुप्त ने रीतियों को अपनी योजना में शामिल किया है क्योंकि रीति जो है वह रसोचित शब्द व्यवहार हो सकती है परन्तु यह स्थान वृत्तियों को दे दिया गया है जोकि न केवल अनुप्रास जातियाँ हैं बल्कि रसानुकूल शब्द भी हैं इसलिए इस बात में हमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बाद में मम्मट ने अपने सूत्र में तीनों रीतियों— वैदर्भी, गौडी और पांचाली को उपनागरिका, परुषा और कोमला वृत्तियों के साथ रखा है। मम्मटानुसार अनुप्रास दो प्रकार के हैं— छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास और वृत्त्यनुप्रास वस्तुत: उन शब्दों का समूह होता है जो रस के अनुकूल होते हैं। इसीलिए काव्यप्रकाशकार का कथन है— वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार:। आचार्य मम्मट के मतानुसार ये ही तीन वृत्तियाँ हैं जिन्हें

१- काव्यप्रकाश, पृ० ४०६।
२- वही, पृ० ४०४।
३- काव्यमीमांसा, पृ० २५।

कतिपय लोगों ने वैदर्भी, गौडी और पांचाली आदि कहा है—

> माधुर्यं व्यंजकैर्वर्णैरुपनागरिकेष्यते ।
> ओज: प्रकाशकैस्तु परुषा कोमला परै: ।।
> केषाञ्चिदेता वैदर्भी प्रमुखारीतयोमता: ।[1]

माणिक्यचन्द्र ने भी इसी विचारधारा का समर्थन किया है जैसा कि ऊपर विवेचित किया जा चुका है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी मम्मट का पूर्णरूपेण अनुसरण किया है[2]। उन्होंने तीनों वृत्तियों को उस रूप में नहीं रखा है जिस रूप में तीनों रीतियाँ शब्दालंकार में हैं परन्तु उन्होंने थोड़े परिवर्तन के साथ उन्हें गुणों के विभाग में रखा है।

इसीलिए उन्होंने तीनों वृत्तियों को अनुप्रास जातियाँ नहीं माना है। उन्होंने उन्हें सिर्फ वर्णसंघटना के तीन प्रकार माना है। पंडितराज जगन्नाथ ने भी रीतियों और वृत्तियों में अभेद माना है। उनके अनुसार—

> रभिविशेषविषयै: सामान्यैरपि च दूषणै रहिता
> माधुर्यभार भङ्गुर सुन्दरपदवर्ण विन्यासा ।।
> व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातुर्या प्रसादयुक्ता ।
> तां विबुधा वैदर्भीं वदन्ति वृत्तिं गृहीत परिपाकाम् ।।
> + + + + + +
> अन्याश्च रीतैर्निर्माणे कविना नितरामावहितो नमाव्यम्[3] ।

काव्य में वृत्तियों के इतिहास में भोज का अपना विशिष्ट स्थान है। उनका कथन है कि यद्यपि काव्य में तीन ही वृत्तियाँ हैं तथापि कुछ लोगों के कथनानुसार वृत्तियों की संख्या १२ है। मुख्यत: वे तीन ही प्रकार की हैं जो तीन

१- काव्यप्रकाश, । |३-४ ।

२- काव्यानुशासन, पृ० २०४ ।

३- रसगंगाधर, पृ० ७३ ।

गुणों द्वारा विभक्त हैं। वे तीन गुण हैं— सौकुमार्य, प्रौढ़ि और मध्यमत्व। भोज ने इन्हें प्राचीन नामों से अभिहित नहीं किया है अर्थात् वे इन्हें उपनागरिका आदि नामों से अभिहित नहीं करते। उन्होंने श्रुत्यनुप्रास के प्रभेदों में इन नामों का प्रयोग किया है। इस प्रकार भोज ने यद्यपि उपनागरिका आदि नामों का प्रयोग नहीं किया है तथापि उन्होंने ललिता, परुषा और कोमला आदि का प्रयोग किया है और इन तीनों के साथ ६ और वृत्तियों का परिगणन किया गया है। इस प्रकार भोज ने बारह वृत्तियों का परिगणन किया है और उनके आधार पर उन्होंने बारह अनुप्रासों की जातियां मानी हैं। भोज के अनुसार—

"काव्यव्यापी स सौन्दर्यो वृत्तिरित्यभिधीयते।
सौकुमार्यमथ प्रौढिर्मध्यमत्वं च तद्गुणाः॥
गंभीरौजस्विनी प्रौढ़ा मधुरा निष्ठुराश्लथा।
कठोरा कोमला मिश्रा परुषा ललिता मिता॥
इति द्वादशधा भिन्ना कविभिः परिपठ्यते।
कारणं पुनरुत्पत्तेस्त एवासां विजानते॥"[1]

उपर्युक्तानुसार वृत्तियों का परिगणन करने के बाद भोज का कथन है कि ये वृत्तियां आवश्यक हैं क्योंकि वे गुणों और कैशिकी आदि वृत्तियों से भिन्न नहीं हैं। उनका कथन है कि—

"इति द्वादशध्य वृत्तिः कैश्विधा कथितेह सा।
न गुणेभ्यो न वृत्तिभ्यः पृथक्त्वेनावभासते॥"[2]

भोज ने इन वृत्तियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर किया है, जैसे कर्णाटी, कौन्तली, कौड्डी, कौङ्कणी, बाणवासिका, द्राविडी, माथुरी,

---

१- सरस्वतीकण्ठाभरण, २।८४-८६।

२- वही, २।८७।

मात्सो, मागधी, ताम्रलिप्तिका, भौण्ड्री और पौण्ड्री । डा० राघवन ने भोज के उक्त वृत्तिविभाजन का उपहास करते हुए कहा है कि यह आश्चर्यजनक बात है कि भोज ने मात्र बारह वृत्तियों से सन्तोष कर लिया जबकि परम्परागत रूप से प्राचीन भारत ५६ प्रदेशों में विभक्त है[1]। बाद के साहित्य में उक्त बारह वृत्तियाँ नहीं मिलतीं । यहाँ तक कि पुरानी उपनागरिकादि वृत्तियाँ भी उपेक्षित हो गयीं । हेमचन्द्र शायद अन्तिम आचार्य हैं जिन्होंने कि उनका प्रयोग किया है । परवर्ती लेखक उपनागरिका आदि को बिलकुल भूल गये उन्होंने नाट्य में प्रयुक्त होने वाली सिर्फ कैशिकी आदि चार वृत्तियों की ही गणना की है । आनन्दवर्धन ने भी इन चार वृत्तियों को ही ग्रहण किया है और उस काल में वृत्तियाँ रसोचित अर्थ सन्दर्भ के रूप में ग्रहण की जाती थी । उन्हीं के साथ ही साथ रीतियाँ रसोचितशब्दसन्दर्भ के रूप में ग्रहण की जाती थी । कुछ लेखकों ने तो चारों नाट्यवृत्तियों का उल्लेख करके ही सन्तोष किया है । रुद्रट ने पाँच प्रकार की अनुप्रास वृत्तियों का परिगणन किया है—

"मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता भद्रेतिवृत्तयः पञ्च ।
वर्णानां, नानात्वाद् अस्येति यथार्थनामफला ।।"

तथा नमिसाधु ने हरिनामक आचार्य को आठ वृत्तियाँ गिनाते हुए उल्लिखित किया है—

"महुरं फरुसं कोमलमोजिस्सिं निट्ठुरं च ललियं च ।
गंभीरं, सामण्णं च अट्ठभणिती उनायाव्व ।।"

राघवन के मतानुसार शायद इसी कारण भोज ने रुद्रट और हरि से प्रेरित होकर बारह वृत्तियों का परिगणन किया था[2]।

---

1. "We don't know why Bhoja satisfied himself with twelve provinces while ancient India is traditionally described as having comprised fifty six provinces."
—Some Concepts, p. 209.

2. And it is perhaps from Rudrata and Hari that Bhoja makes a set of twelve vrttis". p. 193.

इस प्रकार आचार्य उद्भट ने जो शब्दवृत्तियों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया उससे परवर्ती आचार्य प्रभावित हुए बिना न रह सके। आचार्य भामह ने सरूप वर्ण विन्यास को अनुप्रास बताया और उसके दो ही भेद बताये— ग्राम्यानुप्रास एवं लाटीयानुप्रास। भामह की उक्त अनुप्रास विवेचना वृत्तियों पर आधारित है। लेकिन उद्भट के अनुसार ग्राम्या, परुषा एवं उपनागरिका तीनों वृत्तियों में यथासम्भव रस आदि की अभिव्यक्ति के अनुरूप वर्ण प्रयोग में जो समान वर्णों का पृथक्-पृथक् उपनिबंध होता है, उस अनुप्रास की छवि को कवि सदा इच्छा करता है। उद्भट के अनुसार रसानुगुण वर्ण व्यवहार ही वृत्ति है। उद्भट के वृत्ति विवेचन ने मम्मटादि आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया था। इन आचार्यों के वृत्ति विवेचन पर उद्भट की स्पष्ट छाप विद्यमान है। यद्यपि मम्मट में पूर्व विवेचित वस्तु को व्यवस्थित रूप देने की अद्भुत क्षमता है और उन्होंने अनुप्रास की विवेचना करते हुए उन्होंने उसे छेकवृत्तिगत द्विधा बताया है लेकिन उनके अनुप्रास विवेचन पर उद्भट की स्पष्ट छाप विद्यमान् है। उद्भट ने अनुप्रास विवेचन के पूर्व ही छेकानुप्रास को रखा है परन्तु मम्मट ने अनुप्रास की सामान्य परिभाषा दी है और उसके छेक और वृत्तिगत दो प्रभेद बताये हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि वृत्ति विवेचन में आचार्य उद्भट ने जिन मानदण्डों की स्थापना की थी वे काव्यशास्त्र में किसी न किसी रूप में वर्तमान रहे और परवर्ती आचार्यों के पथप्रदर्शक बने। आनन्दवर्धन, मम्मट, हेमचन्द्र तथा पण्डितराज जैसे आचार्य उद्भट की वृत्ति विवेचना से प्रभावित हुए हैं।

जहाँ तक नाट्यवृत्तियों का प्रश्न है, उनके विवेचन में भी आचार्य उद्भट ने नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार के रूप में अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। भोज ने चार वृत्तियों के साथ ही साथ एक और वृत्ति का परिगणन किया है। इस बात का उल्लेख सिंहभूपाल ने किया है। सिंहभूपाल से बहुत पूर्व शारदातनय हुए हैं। उन्होंने भी उद्भट की पांचवीं वृत्ति का उल्लेख किया है। शारदातनय ने इस बात का भी उल्लेख किया है कि कुछ आचार्य ऐसे हैं जो उद्भट

को अर्थवृत्ति को नहीं मानते और एक अन्य 'मिश्र' नाम की वृत्ति को स्वीकार करते हैं—

> भारती सात्वतीचैव कैशिक्यारभटीति च ।
> औद्भटा पञ्चमीं अर्थवृत्तिं च परिजानते ।।
> अर्थवृत्तेरभावत्तु विमिश्रां तां पञ्चमी परे

आचार्य उद्भट ने भरत की चारों वृत्तियों के लिए उनकी आलोचना की है। आचार्य भरत ने उत्सृष्टिकाङ्क की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह स्त्रियों के करुणाक्रन्दनों से युक्त होता है तथा भारती के अतिरिक्त समस्त वृत्तियों से हीन होता है। परन्तु आचार्य उद्भट ने भरत के इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि करुण रस में जब मूर्च्छा या मरण होता है तो न तो उसमें किसी प्रकार का कथन होता है और न भारती वृत्ति। इसी कारण से और अन्यान्य कारणों से आचार्य उद्भट ने चार के स्थान पर तीन वृत्तियों का परिगणन किया है—

(१) न्यायचेष्टावृत्ति
(२) अन्यायचेष्टावृत्ति
(३) फलसंवित्तिवृत्ति

अभिनवगुप्त ने उद्भट के मत को उद्धृत करते हुए कहा है—

तस्माद् फलसंवित्याख्यावृत्ति: वाक्चेष्टयो: फलानुभव इति यस्या: लक्षणं सा भ्युपगन्तव्या। अवश्यं चैतत् अन्यथा मूर्च्छामरणादौ वाक्चेष्टयोरभावे निर्वृत्तिकत्वैव स्यात्। + + + तस्मात् चेष्टात्मिकान्यावृत्तिरन्यायवृत्तिवाग्रूपा तत्फलभूता फलसंवित्तिरिति त्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटो मन्यते। यदाह—

> आद्ये वाक्चेष्टाभ्यां पुरुषार्थचतुष्टयेन चाष्टविधे।
> षोडशधा फलवृत्तिस्तद्व्यपगतो नैकधा तु रसभेदात् ।[१]

१- अभिनवभारती, द्वितीय वाल्यूम, ४५१।

वस्तुत: आचार्य उद्भट द्वारा प्रतिपादित फलसंविचि वृत्ति अत्यन्त ही वैज्ञानिक है जैसा कि अभिनवगुप्त ने भी माना है। अभिनवगुप्त ने यह भी कहा है कि शक्लीगर्भ नामक आचार्य के अनुयायीगण पांच वृत्तियां मानते हैं। चार आचार्य भरत को और पांचवों उद्भट को फलसंविचि वृत्ति—

"यच्छक्लीगर्भमतानुसारिणो मूर्च्छादावात्मसंविचि लक्षणां पञ्चमी वृत्तिं सकलकार्यनिवृत्त्यनुमेयां + + + आत्मव्यापाररूपां मन्यन्ते + + + तन्मतं [illegible] वाक्यग्रहणात्स्वभाववत्त्वमुपपादयद्भि: भट्टलोल्लट प्रभृतिभि: पराकृतम्"[1]।

वस्तुत: इस वृत्ति की व्याख्या करने के कारण आचार्य उद्भट का प्रभाव इतना बढ़ गया कि परवर्ती आचार्य धनंजय आदि इस मत के अनुयायियों को उद्भटानुयायी माना है[2]। उद्भट की नाट्यशास्त्र की व्याख्या अनुपलब्ध होने के कारण यद्यपि इस विषय पर अधिक विवेचना देना असम्भव है तथापि इतना स्पष्ट है कि उद्भट ने परम्परागत वृत्तियों से भिन्न एक अलग वृत्ति की कल्पना की थी।

१- अभिनवभारती, द्वितीय वाल्यूम, ४५२।

२- दशरूपक

षष्ट अध्याय

उ प सं हा र

उ प सं हा र

काव्यशास्त्र का विकास सर्वप्रथम कश्मीर में हुआ। काश्मीरक आचार्यों का काव्यशास्त्र के विकास में बहुत योगदान है। वहां के भिन्न-भिन्न आचार्यों के ग्रन्थों में इस विकास के कई स्तर मिलते हैं। भामह भी काश्मीरक आचार्य हैं, जिन्हें काव्यशास्त्र का आदि आचार्य कहा जाता है। उन्होंने काफी पहले अलङ्कारशास्त्र पर काफी लिखा। भरत के उपरान्त श्रव्यकाव्योपयोगी अलङ्कारों का निर्देश पहले-पहल भामह में ही उपलब्ध होता है। यद्यपि भामह और भरत के बीच मेधाविन् प्रभृति आचार्यों का नाम आता है लेकिन उनकी किसी भी कृति का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। आचार्य भामह ने लगभग कुल ३६ अलंकारों का स्वरूप स्पष्ट किया है। भामह एवं दण्डी, दोनों ही काव्य लक्षण के प्रणेता हैं। इनका उद्देश्य केवल गुण, रीति, दोष, हानादि से भिन्न अनुप्रास एवं उपमा आदि का निरूपण ही था। वामन की दृष्टि में दोषहीन और गुणोपादान ही व्यापक अर्थ में अलंकार है। कवि द्वारा क्रियमाण सत्काव्य के लिए जो भी आवश्यक उपादेय तत्व है, उन सबका काव्यालङ्कारभाव इन दोनों के मत में अविरुद्ध है।

भामह एवं दण्डी की तुलना में जब हम काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह के प्रणेता आचार्य उद्भट को देखते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि इन्होंने दोषहीन, गुण एवं अन्यविध रूप अलङ्कारों को छोड़कर सारभूत पुनरुक्तवदाभास आदि अलङ्कारों को ही चर्चा की और वस्तुत: जैसा कि रुय्यक कहते हैं कि "अलङ्कार एव काव्ये प्रधानमिति प्राचां मतम्," उद्भट ने उसे प्रमाणित कर दिया है। उन्होंने सार (आत्मा) का ही सङ्ग्रह किया है।

भामह एवं दण्डी द्वारा उल्लिखित ४६ अलङ्कारों में केवल ४१ अलङ्कारों का ही उद्भट ने सपरिष्कार वर्णन किया है। यह उद्भट की अपनी विशिष्टता है कि उन्होंने भामह तथा दण्डी के अलक्षित, अस्फुटलक्षित एवं अव्यवस्थित प्रभेदों का परिष्कार किया और आने वाले आचार्यों के लिए एक सुगम मार्ग को प्रशस्त किया है। उन्होंने नये अलङ्कारों की स्वयं उद्भावना की तथा प्राचीन सम्मत कतिपय अलङ्कारों का खण्डन भी किया है। इस प्रकार अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में उन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना की है। उद्भट की गरिमा और उनकी महत्ता का प्रतिपादन इसी बात से होता है कि इनके द्वारा नवाविष्कृत अलङ्कारों को मम्मट तथा रुय्यक आदि परवर्ती आलङ्कारिकों ने स्वीकार कर नये भेद मात्र प्रस्तुत किए हैं। कहीं-कहीं उन्होंने उद्भट का खण्डन भी किया है फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि भामह और दण्डी उद्भट के समक्ष वह प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सके हैं जो तत्रभवान् उद्भट को मिली इसके अतिरिक्त यह बात भी उल्लेखनीय है कि उद्भट द्वारा स्थापित मान्यताओं का जो संरम्भपूर्ण खण्डन-मण्डन हुआ है, इसके द्वारा उन्हें जो प्रतिष्ठा मिली है वह भामह और दण्डी नहीं प्राप्त कर सके हैं। भामह काश्मीरक आचार्य हैं और कदाचित् प्राचीनतम होने के कारण उन्हें काव्यशास्त्र का आदि आचार्य कहा जाता है। उनके बाद काश्मीर के साहित्यिक रंगमंच पर उद्भट का उद्भव होता है।

उद्भट की अलङ्कार सम्बन्धी समस्त धारणाओं का ज्ञान तभी हो सकता था जब उनकी समस्त कृतियां उपलब्ध होतीं। उनकी केवल एक ही कृति हमारे समक्ष उपलब्ध है जिसे काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह नाम से जाना जाता है फिर भी यह तो मानना होगा कि काश्मीरक आचार्यों की श्रृङ्खला में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक तथा मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्मरण किया है। अलङ्कार के क्षेत्र में उनका एक सम्प्रदाय ही चलता था जैसा कि उद्भटादय: (रसगङ्गाधर) औद्भटा (ध्वन्यालोक) उद्भटमतानुयायिन: (अलङ्कारसर्वस्व) उद्भट प्रभृतय: (प्रतापरुद्रीययशोभूषण) आदि

उदाहरणों से स्पष्ट है। इस प्रकार स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के इतिहास में उद्भट का गौरवपूर्ण स्थान है। भामह से उनकी तुलना करने पर हमें भामह का व्यक्तित्व निष्प्रभ प्रतीत होता है।

भामह को जिन अलङ्कारों का ज्ञान नहीं था, उद्भट ने उनका आविष्कार किया। उद्भट द्वारा नवाविष्कृत अलङ्कारों को मम्मट और रुय्यक आदि आचार्यों ने ग्रहण किया है। इस प्रकार उद्भट द्वारा आविष्कृत नवीन अलङ्कारों को भामह कल्पना ही नहीं कर सके हैं। एस०के० डे ने लिखा है—

"In the case of a few poetic figure, however Udbhata enters into distinctions which were probably unknown to Bhamah."

आचार्य उद्भट ने अलङ्कारों का वर्णन उसी क्रम से किया है जैसे कि भामह ने किया है परन्तु उभय आचार्यों में थोड़ा सा अन्तर है। उद्भट ने कतिपय अलङ्कारों जैसे यमक, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षावयव को छोड़ दिया है। जिनका भामह ने वर्णन किया है। उद्भट ने ऐसे अलङ्कारों का वर्णन किया है जिनको कि भामह ने या तो पारिभाषित किया है या केवल उद्धृत किया है। उद्भट ने निदर्शना के स्थान पर विदर्शना का प्रयोग किया है। यह हो सकता है कि आचार्य उद्भट निदर्शना और विदर्शना को एक ही मानते हों। क्योंकि उन्होंने विदर्शना के लिए उसी उदाहरण को रखा है जो भामह ने निदर्शना के लिए रखा है। उनके व्याख्याकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है— "यत्र तु पदार्थसमन्वय उपमानोपमेयभाव कल्पया स्वात्मानमुत्पादयति तस्य विदर्शना भेदस्य उदाहरणमुद्भट पुस्तके न दृश्यते। तस्य तु भामहोदितमिदमुदाहरणम्—

"अयं मन्दद्युतिः भास्वान् अस्तं प्रतियियास्यति।[1]
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ॥"

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, सम्पादित डा० राममूर्ति त्रिपाठी, पृ० ३८४।

उद्भट के दूसरे टीकाकार राजानक तिलक का भी यही कथन है। आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुत प्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय आदि अलङ्कारों की परिभाषा उभय आचार्यों में समान है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् और भाविक आदि की परिभाषाओं की शब्दावलियाँ समान हैं।

भामह ने दो प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है—

"भामहो हि ग्राम्योपनागरिका भेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान् तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्"[1]। परन्तु आचार्य उद्भट ने तीन प्रकार के अनुप्रास और चार प्रकार के रूपकों का परिगणन किया है। भामह ने श्लेष के तीन भेद बतलाए हैं— "भामहो हि तत्सहोक्ति उपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा" इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह"[2]। भामह ने गुरु, नृपति और पुत्र विषयक प्रीति के वर्णन को ही प्रेयोलङ्कार कहा है परन्तु उद्भट ने भावालङ्कार को ही प्रेय कहा है— "भामहेन हि गुरुनृपति पुत्रविषयकप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तं + + + उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः"[3]। भामह ने परुषा, ग्राम्या और उपनागरिका इन तीन वृत्तियों का वर्णन नहीं किया है परन्तु उद्भट ने उनका वर्णन किया है।

८ इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनेक स्थलों पर उद्भट का भामह से मतभेद है। अस्तु अनेक विद्वानों का यह कथन कि आचार्य उद्भट भामहानुयायी हैं स्वतः अयाकृत हो जाता है। अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में सर्वत्र आचार्य उद्भट के प्रखर व्यक्तित्व की इतनी छाप है कि उसके समक्ष भामह का व्यक्तित्व निष्प्रभ सा हो जाता है। परवर्ती अनेक आचार्यों ने उद्भट के मतों को बड़े ही सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है। ध्वन्यालोककार ने उन्हें तत्रभवद्भिः

१- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह लघुवृत्ति, पृ० १।
२- वही, पृ० ४७।
३- वही, पृ० ७१-७२।

उद्भट के दूसरे टीकाकार राजानक तिलक का भी यही कथन है। आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुत प्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय आदि अलङ्कारों की परिभाषा उभय आचार्यों में समान है। अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत् और भाविक आदि की परिभाषाओं की शब्दावलियाँ समान हैं।

भामह ने दो प्रकार के अनुप्रासों का परिगणन किया है—

"भामहो हि ग्राम्योपनागरिका भेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्"[1]। परन्तु आचार्य उद्भट ने तीन प्रकार के अनुप्रास और चार प्रकार के रूपकों का परिगणन किया है। भामह ने श्लेष के तीन भेद बतलाए हैं— "भामहो हि तत्सहोक्ति उपमाहेतुनिर्देशात्त्रिविधं यथा" इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह"[2]। भामह ने गुरु, नृपति और पुत्र विषयक प्रीति के वर्णन को ही प्रेयोलङ्कार कहा है परन्तु उद्भट ने भावालङ्कार को ही प्रेय कहा है— "भामहेन हि गुरुनृपति पुत्रविषयकप्रीतिवर्णनं प्रेयोलङ्कार इत्युक्तं + + + उद्भटमते हि भावालङ्कार एव प्रेय इत्युक्तः"[3]। भामह ने परुषा, ग्राम्या और उपनागरिका इन तीन वृत्तियों का वर्णन नहीं किया है परन्तु उद्भट ने उनका वर्णन किया है।

८ इस प्रकार उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि अनेक स्थलों पर उद्भट का भामह से मतभेद है। अस्तु अनेक विद्वानों का यह कथन कि आचार्य उद्भट भामहानुयायी हैं स्वतः अपाकृत हो जाता है। अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र में सर्वत्र आचार्य उद्भट के प्रखर व्यक्तित्व की इतनी छाप है कि उसके समक्ष भामह का व्यक्तित्व निष्प्रभ सा हो जाता है। परवर्ती अनेक आचार्यों ने उद्भट के मतों को बड़े ही सम्मानपूर्वक उद्धृत किया है। ध्वन्यालोककार ने उन्हें 'तत्रभवद्भिः

१- काव्यालङ्कारसारसंग्रह लघुवृत्ति, पृ० १।

२- वही, पृ० ४७।

३- वही, पृ० ७१-७२।

उद्भटादिभि:[1]" कह कर अभिहित किया है। अलंकारसर्वस्वकार ने लिखा है— "इह तावद्भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकारा:[2]"। व्यक्ति विवेकटीका में उल्लिखित है— "इह हि चिरन्तनैरलङ्कारतन्त्रप्रजापतिभि: भट्टोद्भट प्रभृतिभि: शब्दार्थधर्मा एवालङ्कारा: प्रतिपादिता नाभिधाधर्मा:[3]"। इस प्रकार पश्चात्वर्ती आचार्यों ने उद्भट का स्मरण अत्यन्त आदर के साथ किया है। यह उद्भट के प्रखर व्यक्तित्व का परिचायक है।

सम्प्रति इस स्थल पर काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में यत्र-तत्र विकीर्ण उद्भटाचार्य के सिद्धान्तों की चर्चा कर देना समीचीन होगा। आचार्य उद्भट गुणों एवं अलंकारों में प्राय: साम्य मानते हैं। अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने स्पष्टत: तथा मम्मट ने अनूदित रूप से यह कहा है कि उद्भट आदि ने प्राय: गुणों एवं अलंकारों को समान माना है। मम्मट ने उद्भट के मत का स्पष्टीकरण देते हुए कहा है कि उद्भट ने वस्तुत: उन लोगों के मतों का खण्डन किया है, जिन्होंने यह माना है कि गुण काव्य में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। अर्थात् वे काव्य के नित्यधर्म हैं और अलंकार काव्य में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं अर्थात् वे काव्य के अनित्य धर्म हैं। आचार्य उद्भट का मन्तव्य है कि उक्त अन्तर लौकिक अलंकार की दृष्टिकोण में रखकर किया गया है जो कि शरीर से अलग भी किए जा सकते हैं और शरीर से सम्बद्ध भी किए जा सकते हैं। परन्तु काव्यगत अलंकार लौकिक अलंकारों की तरह काव्य शरीर शब्दार्थ से पृथक् नहीं किए जा सकते। तथा बाह्य अलंकारों की भांति एक बार पृथक् करके, उनका अस्तित्व अलग करके, फिर उन्हें लौकिक अलंकारों की तरह जोड़ा नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थिति में फिर क्यों न गुणों की तरह अलंकारों को भी शब्द एवं अर्थ का नित्य या समवेत धर्म मान लिया जाय। इस प्रकार गुणों एवं अलंकारों को शब्दार्थ का

१- ध्वन्यालोक, पृ० १०८।

२- अलङ्कारसर्वस्व, पृ० ३।

३- व्यक्तिविवेक, पृ० ३।

नित्य या समवाय धर्म मानकर आचार्य उद्भट ने अपने आलंकारिक व्यक्तित्व का परिचय दिया है। वस्तुत: उद्भट ने काव्य के किसी भी शोभाधायक तत्व को वरीयता दी है तो वह अलङ्कार है। काव्यशास्त्र के समस्त पहलुओं पर उनके आलंकारिक व्यक्तित्व की पूर्ण छाप है। उद्भट ने गुणों का विवेचन अवश्य किया है लेकिन साथ ही साथ यह कहने से नहीं चूके हैं कि गुणों और अलंकारों में कोई भेद नहीं है। उनके अनुसार अलंकार काव्य के शोभाधायक तत्व हैं, यही बात गुणों के सम्बन्ध में भी कही जाती है तो फिर गुणों एवं अलंकारों में भेद क्या है? लोक में गुणों एवं अलंकारों की संयोग सम्बन्ध से स्थिति होती है परन्तु काव्यजगत् में ऐसी बात नहीं है। काव्यजगत् में तो दोनों की समवाय सम्बन्ध से ही स्थिति होती है। इसलिए भले ही लोक में शौर्यादि गुण और कटकादि आभूषणों में भेद है परन्तु काव्य के शोभाधायक धर्म होने के कारण तथा समवेत रूप में स्थित होने के कारण काव्यजगत् में उनकी पृथक् सत्ता मानना गड्डरिका प्रवाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। "इह तु उभयेषां समवायेन स्थिति: तस्माद् गड्डरिका प्रवाहेण गुणालंकारभेद:" । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उद्भट से पूर्व कुछ आलंकारिक ऐसे थे जो गुणों और अलंकारों में भेद मानते थे। उद्भट के समकालीन आचार्य वामन ने गुणों और अलंकारों में भेद माना है। वामन के अनुसार काव्य की शोभा के हेतु गुण हैं और उसके सौन्दर्य को बढ़ाने वाले धर्म को अलंकार कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि वामन का गुण-विवेचन और अलंकारों का विवेचन उद्भट से एक पग आगे है। वामन के गुणों एवं अलंकारों में थोड़ा-सा भेद है अर्थात् काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं और उनमें अतिशयता की वृद्धि करने वाले अलंकार हैं। सम्भवत: वामन के इसी भेद विवेचन पर उद्भट ने गड्डरिका प्रवाह कह कर कटाक्ष किया है। इस प्रकार वामन द्वारा प्रतिपादित गुण-विवेचन में उद्भट से थोड़ा भेद है।

आचार्य उद्भट के इस गुणालंकारैक्य की परवर्ती अनेक आचार्यों ने आलोचना की है। आचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि काव्य में अलंकार संयोग संबंध

से रहते हैं और गुण समवाय सम्बन्ध से अत: उद्भट का यह कथन कि दोनों एक हैं त्रुटिपूर्ण है। हेमचन्द्र के अनुसार गुणबहुल काव्य का रसास्वादन अनलंकृत होने पर इस प्रक्रिया में कोई व्याघात नहीं उत्पन्न होता। हेमचन्द्र ने काव्यप्रकाशकार का समर्थन करते हुए कहा है कि गुण काव्य की आत्मा रस के धर्म हैं। अत: काव्य में वे समवाय रूप से स्थित रहते हैं। अर्थात् हेमचन्द्र और मम्मट के अनुसार काव्य में सन्दर्भानुसार अलंकार रखे जा सकते हैं और हटाये जा सकते हैं। अलंकारों के रखने या न रखने से काव्य न तो दूषित होता है और नहीं पुष्ट होता है। आचार्य मम्मट ने उद्भट के अभेदवाद की कटु आलोचना की है। उन्होंने वामन के भेदवाद का भी खण्डन किया है, उनके अनुसार गुण रस के अंगीधर्म हैं जैसे शौर्यादि आत्मा के अंगी हैं। वे रस के उत्कर्षाधायक और अपरिहार्य धर्म हैं। अलंकारों के सम्बन्ध में आचार्य मम्मट का कथन है कि वे काव्य में विद्यमान उस अंगी रस को शब्द तथा अर्थ रूप अंगों के द्वारा कभी-कभी उपकृत किया करते हैं। वे अनुप्रास और उपमादि हारादि के समान होते हैं। मम्मट के अनुसार जहां पर रस का अभाव होता है वहां पर ये अलंकार उक्ति वैचित्र्यमात्र हुआ करते हैं। कहीं-कहीं तो ये अलंकार होते हुए भी रस के उत्कर्षाधायक उसी तरह नहीं होते जैसे अलौकिक सौन्दर्य से युक्त किसी नायिका के शरीर पर धारण किए गये ग्रामीण अलंकार।

आचार्य रुय्यक ने उद्भट के गुणालंकारैक्य का उपहास किया है। रुय्यक के अनुसार उद्भट ने जो यह कारण बताया है कि गुण और अलंकार में अभेद सिर्फ इस कारण है कि विषय मात्र से ही दोनों में भेद है जिसे उद्भट भेद नहीं मानते, परन्तु यह मत समीचीन नहीं है। विद्यानाथ का कथन है कि माना कि दोनों गुण और अलंकार काव्य में चारुत्व हेतु हैं तथापि आश्रयभेद के कारण दोनों में भेद माना जा सकता है जबकि उद्भट के अनुसार यह भेद नहीं है।

उद्भट के इस अभेदवाद के पीछे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका अहंभाव और आचार्यत्वप्रदर्शन ही कार्य कर रहा था। उद्भट के पूर्ववर्ती दण्डी तथा उनके समसामयिक आचार्य वामन ने दोनों में भेद माना है। वामन द्वारा प्रतिपादित

भेदविवेचन सम्भवत: उद्भट को रुचिकर न प्रतीत हुआ हो। दण्डी ने अलंकारों को भी काव्य शोभा का उत्पादक माना है इसीलिए हो सकता है कि उद्भट ने अपने अहंभाव की तुष्टि के लिए यह कह दिया हो कि जब काव्य के शोभाकर धर्म गुण और अलंकार दोनों हैं तो दोनों में अन्तर मानना गड्डलिका प्रवाह ही है। यह गड्डलिका प्रवाह शायद वामन और दण्डी के ऊपर कटाक्ष था।

आचार्य उद्भट को यह भी मान्यता है कि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि सर्वथा अलंकार ही होते हैं। वे किसी स्थिति विशेष में अलंकार्य भी हो सकते हैं या नहीं, इस पर विचार नहीं किया। आचार्य उद्भट ने अन्य अलंकारवादियों की तरह रस को भी अलंकार के रूप में स्वीकृत किया है। यह वह युग था जब माना जाता था कि शब्दार्थ[1] ही अलंकार्य है और शेष अलंकार। प्रतिहारेन्दुराज के स्थल-स्थल के इंगितों से यह पता चलता है कि हो न हो ये भी शब्दार्थात्मक काव्य को अलंकार्य मानते रहे हों। इन्हीं के समसामयिक आचार्य वामन ने अलंकार की दो व्युत्पत्तियाँ— भाव व्युत्पत्ति तथा करणव्युत्पत्ति के आधार पर उसे सौन्दर्य का पर्याय भी कहा था और सौन्दर्य का साधन भी[2]। साधन के भी व्यापक और संकुचित दो रूप स्पष्ट किए थे, पर उद्भट ने यहाँ पर एक स्थल पर ही 'चेतो-हारि साधर्म्यम्' कहा है जिससे यह पता चलता है कि साधर्म्यरूप उपमा जैसे अलंकार ही काव्य में चित्त को आकृष्ट करने वाले सौन्दर्य के स्रोततत्व हैं।

प्राचीन आचार्यों में उद्भट और उनके अनुयायियों ने गुणों को संघटनाश्रित माना था। इस बात की सूचना हमें ध्वन्यालोक से मिलती है— 'संघटनाधर्मा गुणा: इति भट्टोद्भटादय:'। विद्यानाथ भी इसी बात के अनुयायी हैं। इसी आधार पर वे गुणों और अलंकारों में भेद मानते हैं। आनन्दवर्धन के

१- 'अलङ्कार्यं यत्काव्यं तद्धर्मत्वेन पुनरुक्तवदाभासमानयो: पदयोरलङ्कारत्वम्'।— लघुवृत्ति, पृ० ३।

२- 'सौन्दर्यमलङ्कार:। स च दोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्'।

— काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति।

टीकाकार अभिनवगुप्त ने समझाया है कि शब्दों के प्रमुखरूप शब्दालंकार हैं। शब्दसंघटना के गुण और अर्थ के प्रमुख रूप अर्थालंकार हैं। अर्थसंघटना के प्रमुखरूप अर्थगुण हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जबकि शब्दालंकार और अर्थालंकारों का सम्बन्ध शब्द और अर्थ से है परन्तु गुणों का सम्बन्ध शब्दार्थ संघटना से है। यदि गुण अवयव हैं तो संघटना अवयवी है। आचार्य आनन्दवर्धन ने वस्तुत: गुणों के सही आश्रय का अन्वेषण किया था। वह आश्रय रस है। उन्होंने बताया कि उपचारत: गुणों को शब्द से भी सम्बन्धित बताया जा सकता है फिर भी गुणों का शब्दालंकारों से भेद है। इनका सम्बन्ध शब्दालंकारों से मानना युक्तसंगत नहीं है। गुण अपेक्षाकृत अर्थ से सम्बन्धित हैं और उसके माध्यम से काव्य की आत्मा रस से सम्बन्धित हैं। अगर उनका सम्बन्ध शब्दों से माना जाय तो यह तो उसी प्रकार होगा जिस प्रकार किसी शूरवीर के शौर्य को उसके आकार-प्रकार से सम्बन्धित बताया जाय जबकि शौर्य वस्तुत: आत्मा का धर्म है। आकार-प्रकार या शरीर गौरव से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस स्थल पर उद्भटादि विद्वान् यह तर्क उपस्थित करेंगे कि यदि गुण संघटना के धर्म नहीं हैं तो उन्हें शब्द का धर्म होना चाहिए या अर्थ का, क्योंकि ऐसी दशा में उनका कोई भी आश्रय नहीं दिखाई पड़ता। यदि ऐसी बात मान ली जाय तो फिर गुणों और अलंकारों में क्या भेद रह जायेगा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्वनिकार का कथन है कि वस्तुत: गुणों का आश्रय काव्य की आत्मा रस है। सच बात तो यह है कि उद्भट को काव्य की उस आत्मा की स्वतंत्र सत्ता मालूम ही नहीं थी। अस्तु यह कहा जा सकता है कि गुण प्रमुखत: रस से सम्बन्धित हैं और उपचारत: शब्द और अर्थ से भी। आनन्दवर्धन के अनुसार संघटना में असंलक्ष्यक्रम ध्वनि भी उपस्थित रहेगी। अब प्रश्न यह है कि संघटना किस प्रकार रस का व्यक्तीकरण करती है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना है कि संघटना किस प्रकार रस का व्यक्तीकरण करती है। इस प्रकार तत्तद् गुणों से सम्बन्धित रस का भी व्यक्तीकरण करती है। आनन्दवर्धन के अनुसार रस नियामक

है। तात्पर्य यह है कि संघटना माधुर्य गुण को व्यक्त करती हुई तत्सम्बन्धित श्रृङ्गार रस को भी व्यक्त करती है। इस प्रक्रिया में यह ध्यान रखना चाहिए कि श्रृङ्गार रस में संघटना को माधुर्य गुण से युक्त होना चाहिए। इसी प्रकार रौद्ररस में संघटना ओजस्विना होगी। तात्पर्य यह है कि इस प्रक्रिया में वक्ता और वाच्य का औचित्य होना चाहिए[१]।

इस स्थल पर आनन्दवर्धन ने दो विकल्प प्रस्तुत किया है— गुणों का और संघटना का ऐक्य या व्यतिरेक। व्यतिरेक पक्ष में संघटना गुणों पर आश्रित है अथवा गुण संघटना पर आश्रित है जैसा कि उद्भटाचार्य का मत है। ऐक्य पक्ष में आत्मभूत या आधेयभूत गुणों का आश्रय ग्रहण करती हुई संघटना रस आदि को व्यक्त करती है। अगर ऐसा कहा जाय कि गुणों का आश्रय ग्रहण करके संघटना रस का व्यक्तीकरण करती है तो यहाँ प्रश्न उठ खड़ा होता है कि संघटना गुणों को परतंत्र स्वभाव वाली है। ऐसी दशा में इस प्रकार का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्वनिकार का कथन है कि यदि गुण और संघटना एक तत्त्व हैं या संघटना के आश्रित गुण हैं तब संघटना की भाँति गुणों की अनियतता का प्रश्न होगा क्योंकि गुणों का माधुर्य प्रसाद प्रकर्षातिरेक और विप्रलंभ श्रृङ्गार में ही होता है। ओज के विषय रौद्र और अद्भुत आदि हैं। माधुर्य और प्रसाद गुण रस, भाव और भावाभास विषयक ही हैं। इस प्रकार यह नियम व्यवस्थित है। परन्तु संघटना में यह नियम विघटित हो जाता है। ऐसा होने पर दीर्घ समास और रौद्रादि में असमासा संघटना होने लगता है। परन्तु ऐसा उचित नहीं है। शृंगार में दीर्घसमासा संघटना आनन्दवर्धन ने अधोलिखित उदाहरण दिया है— मन्दारकुसुमरेणुपिंजरितालका, अनवरतघन-जललवनिवह..... रिपुश्रित पत्र लेखो। कहाल नियष्णमवतौ वदनमिदं कैन तापयति

१- गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ।।

— ध्वन्यालोक, ३।६।

इस प्रकार यदि मान लिया जाय कि गुण शब्द के आश्रित हैं तो इनकी अनुप्रास आदि से समानता नहीं है क्योंकि अनुप्रास आदि अर्थ की अपेक्षा न रखने वाले शब्द के धर्ममात्र ही प्रतिष्ठापित किए गए हैं परन्तु गुण व्यंग विशेष को अवभासित करने वाले वाच्य के प्रतिपादन में समर्थ शब्द के धर्म हैं और उनका शब्दधर्मत्व शौर्य आदि की भाँति अन्य (आत्मा) के आश्रित होने पर भी शरीर के आश्रित होना माना गया है। यहाँ शंका उत्पन्न होती है कि यदि गुण शब्द के आश्रित हैं तब वे संघटनारूप अथवा उसके आश्रित हो ही जायेंगे क्योंकि असंघटित शब्द अर्थ विशेष द्वारा प्रतिपाद्य रस आदि के आश्रित गुणों के अबाधक होने के कारण आश्रित नहीं होते। ऐसा नहीं, क्योंकि रस आदि का वर्ण और पद से व्यंगत्व आनन्दवर्धन ने प्रतिपादित कर ही दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट ने गुणों को संघटनाश्रित माना है। इसका कारण यह है कि गुण के स्वरूप की धारणा ही इन लोगों की भिन्न है। ध्वनिवादियों की गुण सम्बन्धी धारणा भिन्न है इसलिए वे लोग इनकी गुण सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए मानते हैं कि संघटना का आश्रय गुण है। आश्रय इस अर्थ में कि गुण के ही आधार पर संघटना का निर्माण होता है।

श्लेष अलंकार के विषय में उद्भट का मत है कि अर्थ के भेद से शब्द का भेद भी होता है। अतः श्लेष अलंकार में जहाँ अनेक अर्थों की स्थिति दिखायी देती है, वहाँ एक की नहीं अनेक शब्दों की स्थिति माननी चाहिए। इन अनेक शब्दों की स्थिति जो एक ही शब्द में दिखायी पड़ती है, उसका कारण यह है कि उन भिन्न-भिन्न प्रतीत अर्थों के बोधक शब्द कभी तो आकारतः एक ही होते हैं और कभी आकारतः भिन्न। जब आकारतः एक होते हैं तब उद्भट वहाँ एक ही शब्द की तरह मानते हैं और बताते हैं कि उस शब्द से प्रतीत होने वाले भिन्न-भिन्न अर्थों की वही स्थिति होती है जो एक ही वृक्ष में लटकते हुए विभिन्न फलों की होती है। इसे वे अर्थश्लेष कहते हैं। जैसे 'शिलीमुख' शब्द के दो अर्थ हैं— बाण और भ्रमर। उद्भट के कथनानुसार इन दोनों अर्थों का बोध दो भिन्न

शिलीमुख शब्द से होगा पर दोनों की आकृति या वर्णविन्यासक्रम और उच्चारणार्थ चालित ध्वनियंत्र के अवयवों का समान प्रयास एक ही सा होता है, अत: वे दोनों एक ही जान पड़ते हैं।

उद्भट श्लेष की एक दूसरी स्थिति भी मानते हैं। अर्थात् जहां भिन्न आकार के अनेक शब्द मिलकर वैसे ही एकाकार जान पड़ते हैं जैसे पिघली हुई लाहा और काठ मिलकर अभिन्न जान पड़ते हैं, जैसे 'अपारिजात' शब्द है। यहां दो विभिन्न अर्थ वाले दो विभिन्न शब्द मिल गये हों। जो इस प्रकार है— अ + पारिजात अर्थात् पारिजातहीन स्थान और अप + अरिजात अर्थात् शत्रुओं से रहित। इसे वे शब्दश्लेष कहते हैं। मम्मट एवं पण्डितराज ने उद्भट की इस मान्यता का खण्डन किया है। उनकी यह मान्यता है कि ये दोनों प्रकार शब्द-श्लेष के ही हैं। उद्भट श्लेष के सम्बन्ध में एक दूसरी मान्यता भी देते हैं। जहां-जहां श्लेष अन्य अलंकारों के साथ होता है वहां प्रश्न यह होता है कि प्रधानता किसकी स्वीकार की जाय। उद्भट की यह मान्यता है कि श्लेष कहीं भी स्पष्टरूप से जब सम्भव नहीं है तब कम से कम ऐसे सभी स्थलों में श्लेष को ही महत्व देना होगा अन्य अलंकारों को नहीं। मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और पण्डितराज ने उद्भट के इस मन्तव्य का खण्डन किया है।

रुय्यक ने यह भी कहा है कि उद्भट आदि आलंकारिक समस्त व्यंग्य अर्थ को भी वाच्य अर्थ का उपस्कारक मानते हैं। उपस्कार्य या अलंकार्य तो शब्द और वाच्य अर्थ ही है, अत: इनके यहां समस्त ध्वन्यमान अर्थ का अन्तर्भाव अप्रस्तुतप्रशंसा या पर्यायोक्त में ही कर लेना चाहिए। ध्वन्यालोककार ने ध्वन्यभाववाद के सन्दर्भ में इस मत का उल्लेखपूर्वक खण्डन किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपनी टीका में यही आशय व्यक्त किया है। इससे पता चलता है कि ध्वनि के सद्भाव को तो वे मानते हैं, पर उसे अलंकार से पृथक् नहीं मानना चाहते।

अन्य अलंकारों के विषय में उद्भट की धारणा का उल्लेख किया जा चुका है। उद्भट ने छेक, पुनरुक्तवदाभास, काव्यहेतु और दृष्यन्त जैसे अनेक नवीन अलंकारों का आविष्कार किया है। उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों द्वारा निरूपित अनेक अलंकारों की उनकी अनुपादेयता देखकर उसे छोड़ भी दिया है।

लोचनकार ने गुण एवं संघटना की एकता और अनेकता पर विचार करते हुए यह माना है कि उद्भट के अनुसार गुणों का आश्रय संघटना है। उसका कारण यह है कि गुण के स्वरूप की धारणा ही इन लोगों की भिन्न है। ध्वनिवादियों की गुण सम्बन्धी धारणा भिन्न है, इसलिए वे लोग इनकी गुण सम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए मानते हैं कि संघटना का ही आश्रय गुण है। आश्रय इस अर्थ में कि गुण के ही आधार पर संघटना का निर्माण होता है।[1]

काव्यमीमांसा में कुछ ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनसे यह पता चलता है कि उद्भट ने वाक्य के तीन प्रकार व्यापार माने हैं—(१) वैभक्त, (२) शाक्त, एवं (३) शक्ति विभक्तिमय। परन्तु इन व्यापारों का अधिक स्पष्टीकरण नहीं मिलता।

अभिनवगुप्त ने लोचन में भामह के 'शब्दाश्छन्दोभिधानार्थाः'[2] वाक्यांश की टीका के रूप में उद्भट का वाक्य उद्धृत किया है—'अभिधानं गुणवृत्तिश्च'[2] अर्थात् शब्द की दो शक्तियां होती हैं— अभिधा और गुणवृत्ति। इससे पता चलता है कि शब्द की दो शक्तियों का तो स्पष्ट ही उल्लेख किया गया है, परन्तु पर्यायोक्त अलंकार के प्रसङ्ग में उद्भट ने यह भी कहा है कि यहां वाच्य-वाचकभाव या अभिधा शक्ति से नहीं बल्कि शब्द की अवगमात्मक शक्ति से वक्ता का तात्पर्य स्पष्ट होता है। इस अवगमात्मक को आगे चलकर व्यंजना नाम से अभिहित किया गया। इस प्रकार आचार्य उद्भट ने अनजाने में व्यंजना की भी

१- लोचन, प्रथम उद्योत।
२- लोचन, प्रथम उद्योत।

भी नो भलक प्राप्त कर ली थी जिसका विस्तृत विवेचन विगत अध्याय में किया जा चुका है। पर वास्तव में उद्भट ने अभिधा और गुणावृत्ति को मान्यता दी है। काव्यमीमांसा में राजशेखर ने उद्भट के नाम पर यह भी कहा है कि उन्होंने ही अर्थ के दो रूपों को बताया है— (१) विचारितसुस्थ और (२) अविचाररमणीय। पहले को शास्त्र और दूसरे को काव्य कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार की बात व्यक्तिविवेक की टीका में कही गयी है कि उद्भट आदि का यह सिद्धान्त है कि काव्य का शास्त्र एवं इतिहास आदि से जो व्यतिरेक है वह शब्द और अर्थ की विशेषतावश न कि अभिधा की विशेषतावश। काव्यमीमांसाकार ने उद्भट के मत की आलोचना की है और यह बताया है कि इनकी इस बात को मानने से समस्त काव्यगत अर्थ ही असत्य और अप्रामाणिक माना जाने लगेगा।

इसी प्रसंग में इस बात पर भी विचार कर लेना आवश्यक है कि क्या उद्भट ने ध्वनि की विवेचना की है या नहीं? इस बात का विस्तृत उल्लेख विगत अध्याय में किया जा चुका है। उल्लेखनीय है कि ध्वनि सिद्धान्त का सैद्धान्तिक एवं विशुद्ध विवेचन आचार्य आनन्दवर्धन से पूर्व न हो सका था। परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि इस ध्वनि तत्व की स्थिति पूर्वकाल में नहीं थी। आनन्दवर्धन ने स्वयं 'समाम्नातपूर्व' के द्वारा ध्वनि की पूर्वस्थिति का संकेत कर दिया है। साथ ही आदि कवि के आदि श्लोक में उसकी सत्ता को भी दिखाने का प्रयास किया है। अनुन्मीलितपूर्व तथा सततमविदिततत्व कहने से उनका अभिप्राय यह है कि उसका सिद्धान्तरूप में प्रतिपादन उनके पूर्व किसी भी आचार्य ने नहीं किया था। लोचन में अभिनवगुप्त ने भी इस बात को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। तात्पर्य यह है कि ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि का स्वरूप समाम्नातपूर्व तो था पर साथ ही साथ अनुन्मीलितपूर्व भी था। अर्थात् मौखिक रूप से ध्वनि पर विचार-विमर्श भले ही होता आया हो परन्तु आनन्दवर्धन से पूर्व उस पर ग्रन्थ नहीं लिखे जा सके थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ध्वनिकार से पूर्व ध्वनि-सिद्धान्त प्रसुप्तावस्था में विद्यमान था। इस प्रकार यह कथन कि ध्वनि का स्वरूप

आनन्दवर्धन से पूर्व नहीं था, समीचीन नहीं प्रतीत होता। परन्तु ध्वनि सम्प्रदाय की विशद् विवेचना करने वाले प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं जिन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा कहकर सम्बोधित किया है। अलंकार सर्वस्वकार रुय्यक ने चिरन्तन आचार्यों के प्रतीयमान अर्थ को अलंकार रूप से कहने की रुचि का अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। इस प्रकार ध्वनिकार से पूर्ववर्ती आलंकारिकों में ध्वनि सिद्धान्त के बीज यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। काव्यशास्त्र में ध्वनि का आविर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं है बल्कि क्रमिक विकास का परिणाम है।

अब प्रश्न यह है कि आचार्य उद्भट ने ध्वनि का वर्णन किस प्रकार किया है? रसगङ्गाधरकार ने पर्यायोक्त के प्रकरण में लिखा है कि ध्वनिकार से पूर्व भामह उद्भट आदि आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में कहीं पर भी ध्वनि गुणीभूतव्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि उन्होंने ध्वन्यमान अर्थ की सत्ता स्वीकार नहीं की है, जैसा कि आधुनिकों का मत है। उन्होंने समासोक्ति, व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों के निरूपण द्वारा गुणीभूत व्यंग्य के भेद प्रस्तुत किए हैं तथा समस्त ध्वनि प्रपंच का पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव किया है। ध्वन्यमान् अर्थ को छिपाया नहीं जा सकता क्योंकि वह तो अनुभवसिद्ध वस्तु है। उद्भटादि आलंकारिकों ने ध्वनि आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया, केवल इतने से ही ध्वनि की अस्वीकृति नहीं मानी जा सकती। स्वयं आनन्दवर्धन ने उद्भटादि प्राचीन आचार्यों के लिए लिखा है कि — "ध्वनिमार्गमनाक्स्पृष्टोऽपि न लक्षितः"। ध्वनिकार के इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन आचार्य व्यंग्य अर्थ के प्रति गतिशील हो चुके थे किन्तु वे लोग वाच्य अर्थ की परिधि का उल्लंघन न कर सके और न ही वे अलंकारों के वाकवैचित्र्य का व्यामोह छोड़ चुके थे। उद्भटादि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूल शरीर ही प्रधान रहा। प्राचीनों के समक्ष काव्य का यह अन्तस्तत्व उद्भासित नहीं हुआ था। अन्यथा लक्ष्य ग्रन्थों में इसकी स्थिति तो आदि कवि के काव्य से ही चली आ रही थी। आनन्दवर्धन ने प्राचीन

आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के वाह्य तत्वों का समुचित रूप से आदर करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया है।

इस स्थल पर निष्कर्ष यह निकलता है कि उद्भटादि प्राचीनों ने ध्वनि (व्यंजना) का मनाक् स्पर्श ही किया था। ध्वनिकार से पूर्व उद्भटादि आचार्यों के लक्षण ग्रन्थों में कहीं पर भी ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु इससे यह नहीं मान लेना चाहिए कि उन्होंने ध्वन्यमान अर्थ की सत्ता स्वीकार ही नहीं की है जैसा कि आधुनिकों का मत है, उन्होंने भी समासोक्ति, व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारों के निरूपण के द्वारा कुछ गुणीभूत व्यंग्य के भेद प्रस्तुत किए हैं तथा समस्त ध्वनिप्रपंच का पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव किया है। ध्वन्यमान् अर्थ को छिपाया नहीं जा सकता क्योंकि वह तो अनुभवसिद्ध वस्तु है। प्राचीन उद्भटादि आलंकारिकों ने ध्वनि आदि शब्दों का व्यवहार नहीं किया, केवल इतने से ही ध्वनि आदि की अस्वीकृति नहीं मानी जा सकती। स्वयं आनन्दवर्धन ने इस बात का संकेत इन शब्दों में किया है— "यद्यपि ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभि: गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित् प्रकारो प्रकाशित: तथापि अमुख्य वृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टो पि न लक्षित:"[1]। आनन्दवर्धन के इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन आचार्य व्यंग्य अर्थ के प्रति गतिशील हो चुके थे। परन्तु वे लोग वाच्य अर्थ की लक्ष्मणरेखा का उल्लंघन नहीं कर सके थे। उद्भटादि आचार्यों के समक्ष काव्य का स्थूल पक्ष ही प्रधान रहा। आनन्दवर्धन का कथन है— "अथ च रामायणमहाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धं व्यवहारं दर्शयता सहृदयानां आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते"[2]। तात्पर्य यह है कि काव्य लक्षणकर्ताओं के समक्ष ही काव्य का यह अन्तस्तत्व उद्भासित नहीं हुआ था अन्यथा लक्ष्य ग्रन्थों में इसकी स्थिति तो आदि कवि के काव्य से ही चली आ रही है साथ ही आनन्दवर्धन ने प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के वाह्य तत्वों का समुचित रूप से आदर करते हुए ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

१- ध्वन्यालोक, पृ० ८-९ ।

२- वही, पृ० ६ ।

इस स्थल पर निष्कर्ष यह निकलता है कि उद्भटादि आचार्यों ने ध्वनि का मनाक् स्पर्श ही किया था और इस अर्थ पर दृष्टिविक्षेप भी किया था। इस बात का पता हमें ध्वन्यालोक से चलता है जैसा कि ऊपर विवेचित किया जा चुका है। भामह विवरण नामक टीका लिखते समय उन्होंने 'शब्दश्छन्दो भिधानार्थाः' कहने का प्रयास किया है और कहा है कि शब्द के दो प्रकार होते हैं— शब्द और अभिधान। साथ ही साथ उन्होंने यह समझाने की चेष्टा की है कि काव्य में मुख्य अर्थ के साथ गौण अर्थ भी विद्यमान रहता है। शायद इसी कारण आनन्दवर्धन ने मनाक् स्पृष्टो पि न लक्षितः' कहा है। इस बात से यह स्पष्ट है कि आचार्य उद्भट की सूक्ष्म दृष्टि ने पश्चाद्विकस्वर ध्वनिमार्ग का थोड़ा स्पर्श किया था। अलंकारवादी उद्भट वस्तुतः सहृदय थे। उन्होंने उस अलौकिक अर्थ की कल्पना करके इस बात का परिचय दिया है कि वे आचार्य ही नहीं अपितु सहृदय भी थे क्योंकि वह अलौकिक सामान्य अर्थ सहृदयों के हृदय में ही उद्भासित होता है। परन्तु वह युग जिसका प्रतिनिधित्व आचार्य उद्भट करते हैं, वह काव्य का आदिकाल था। उस काल में काव्य के बाह्य चाकचिक्य और पाण्डित्य प्रदर्शन को विशेष महत्व दिया जाता था। इसीलिए शायद आचार्य उद्भट ने उस अलौकिक अर्थ को जानते हुए भी उसका विशद् एवं सूक्ष्म विवेचन नहीं किया है, जितना कि आनन्दवर्धन ने किया है। 'तथापि गुणवृत्त्या काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टो पि न लक्षितः इति'।[1] फिर भी आचार्य उद्भट ने ध्वनि की झीनी झलक प्राप्त कर ली थी। आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है— 'दर्शयतेति भट्टोद्भटवामनादिना। भामहोक्तं-शब्दश्छन्दो भिधानार्थाः इत्यभिधाय शब्दस्य भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे- शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारः मुख्यो गुणवृत्तिश्च' इति। वामनो पि सा सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः'।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य उद्भट ने अमुख्य या गौण अर्थ की कल्पना की थी और आचार्य वामन ने इसे लक्षणा के रूप में परिकल्पित किया था। यह किसी शब्द का गौण अर्थ होता है परन्तु कालान्तर में

१- ध्वन्यालोक, पृ० १० ।

२- ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १० ।

स्थिति और स्पष्ट हो उठी और जिस अमुख्य अर्थ की कल्पना उद्भट आदि ने की थी ध्वनिकार ने उसका विशद् विवेचन किया । इस प्रकार उद्भट ने ध्वनि का मार्ग प्रशस्त किया । उन्होंने जिस अमुख्य अर्थ के बीज का वपन किया था वह कालान्तर में अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुआ ।

काव्यमीमांसा में आचार्य राजशेखर ने उद्भट के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि उद्भट अर्थ के दो रूपों को मानते हैं— विचारितसुस्थ और अविचाररमणीय । पहले को शास्त्र और दूसरे को काव्य कहा जाता है । ठीक इसी तरह की बात व्यक्तिविवेक की टीका में कही गयी है । उद्भटादि का यह सिद्धान्त है कि काव्य का शास्त्र एवं इतिहास आदि से जो व्यतिरेक है, वह शब्द और अर्थ की विशेषतावश है न कि अभिधा की विशेषतावश । काव्यमीमांसाकार ने इस मत की आलोचना की है और यह बताया है कि इनकी इस बात को मानने से समस्त काव्यगत अर्थ ही असत्य एवं अप्रामाणिक माना जाने लगेगा ।

आचार्य उद्भट ने अवगम नामक एक महत्वपूर्ण अर्थशक्ति का वर्णन किया है । यह बात जब हम उद्भट के पर्यायोक्त के विषय में पढ़ते हैं तो जानने में सक्षम होते हैं । इसका अर्थ होता है— संकेत, जो शब्द की मुख्य शक्ति अभिधा से सर्वथा भिन्न होता है । आचार्य उद्भट ने अवगमात्मक व्यापार का उल्लेख किया है । उन्होंने अलंकारध्वनि का निरूपण भामहविवरण में किया है, भले ही वे उसे अलंकार ध्वनि कहने को तैयार न हों— "अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितः तत्रभवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः"[1]। आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में उल्लेख किया है— "तदयमर्थः वाच्यालंकार विशेषविषये पि अन्यो लंकार विशेषः भातीत्युद्भटादिभिः उक्तं इत्यर्थशक्त्या अलंकारो व्यज्यत इति तैरुपगतमेव । केवलं ते अलंकारलक्षणकारत्वाद् वाच्यालंकार विषयत्वेव आहुरिति भावः"[2]। जब आचार्य आनन्दवर्धन के नेतृत्व में

१- ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १०८ ।

२- वही ।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि की स्थापना की तो कतिपय परम्परावादी आचार्यों ने ध्वनिवाद का पर्याप्त विरोध भी किया था । इन परम्परावादी आचार्यों ने ध्वनि का दर्शन तो किया था लेकिन उन्होंने इसका गुणों या अलंकारों में अन्तर्भाव माना है । आचार्य उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज भी ऐसे ही व्यक्ति हैं। वे भी परम्परावादी आचार्य हैं। इन अलंकारान्तर्भाववादियों ने वस्तुध्वनि को पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव करने की चेष्टा की है । पदध्वनि का भी प्रतिहारेन्दुराज ने पर्यायोक्त अलंकार में अन्तर्भाव करने का प्रयास किया है ।

तात्पर्य यह है कि ध्वनि का मनाक् स्पर्श करने वाले उद्भटादि आलंकारिक काव्य के बाह्य कलेवर का व्यामोह नहीं छोड़ सके थे । उद्भट ने शब्द और अभिधान को काव्यशास्त्र का पूरक माना था । अभिधान से हमारा तात्पर्य दो प्रकार के अर्थों से है— मुख्य और गौण । गौण अर्थ की अलंकार में किस प्रकार की उपस्थिति हो सकती है इस बात का विवरण आचार्य उद्भट ने भामहविवरण में अवश्य किया होगा परन्तु दुर्भाग्यवश वह कृति प्राप्त नहीं हो सकी । उन्होंने रूपक में गुणवृत्ति माना है । दार्शनिक साहित्य में गुणवृत्ति का आख्यान उद्भट से बहुत पूर्व हो चुका था किन्तु काव्यशास्त्र में इसका बीजारोपण दण्डी के समाधिगुण और वामन के वक्रोक्ति अलंकार के साथ हुआ ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य उद्भट के काल में ध्वनि का आविर्भाव हो चुका था । उद्भट ने ध्वनि का दर्शन तो किया था परन्तु उसकी वह परिकल्पना बाद में पूर्ण हुई थी और ध्वनिकार ने उसका विशद् विवेचन किया । बाद में अभिनवगुप्त ने लोचन के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त को और गहरी पैठ दी । मम्मट ने विभिन्न मत-मतान्तरों का खण्डन करते हुए बड़े ही सुव्यवस्थित ढंग से ध्वनि का प्रस्तुतीकरण किया । ध्वनिपूर्व युग वस्तुतः अलंकार के विकास का युग है । उस युग में अलंकारों को ही वरीयता दी जाती थी ।

ध्वन्युत्तरकाल वस्तुत: परिपक्व काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि लिए हुए अपने में पूर्ण है। ध्वनिपूर्वकालीन उद्भटादि आचार्यों को अलंकारवादी कहा जाता है और ध्वन्युत्तरकालीन आचार्यों को अलंकार्यवादी कहा जाता है क्योंकि उन्होंने काव्य के आत्मतत्त्व की विवेचना की थी। ध्वनिपूर्वकाल में रस का व्यंजकत्व सिद्ध न होने के कारण रस का वास्तविक स्वरूप प्रकट न हो सका। अलंकारवादी उद्भटादि आचार्यों ने रसवत् अलंकार के रूप में रस की विवेचना की है परन्तु ध्वनिकाल और ध्वन्युत्तरकाल में आचार्यों ने रस के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया है। इस प्रकार जिस अलंकार को उद्भटादि विद्वानों ने आत्मस्थानीय माना है उन्हें ध्वन्युत्तरकाल में अंगत्व भी नहीं प्राप्त हो सका। वे अंगों के ही आश्रित माने जाने लगे जैसे कटककुण्डल आदि हाथ एवं कानों के आश्रित रहते हैं।

इस प्रकार पूर्वकृत विवेचना से यह स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र में ध्वनि सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं है अपितु यह एक क्रमिक विकास का परिणाम है। ध्वनिकार ने किसी अभिनव सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना नहीं की थी बल्कि जिस सिद्धान्त का विशद् निरूपण ध्वनिकार ने किया था, वह प्राचीन उद्भटादि आचार्यों की परिकल्पना में आ चुका था भले ही वे उसके महत्त्व को न समझ सके थे।

जहाँ तक रस की विवेचना का प्रश्न है, इस विषय में आचार्य उद्भट भामह से कहीं आगे हैं, उन्होंने अलंकारों के साथ रस का क्या स्थान है, इस विषय पर विशद् विवेचन किया है। उन्होंने अनुभाव-विभाव आदि शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। कर्नल जैकब ने तो यहाँ तक कह दिया है कि उद्भट ने रस को काव्य की आत्मा माना है। यद्यपि कर्नल जैकब की यह उद्भावना उचित नहीं है फिर भी यह मानना असंगत न होगा कि काव्यशास्त्र के आदि युग में उद्भट ने रस की सुष्ठु विवेचना की है। उन्होंने रस की विवेचना रसवत

अलंकार के रूप में की है। उनकी रसवत की परिभाषा भामह और दण्डी की परिभाषा से भिन्न है। उन्होंने समाहित नामक एक अन्य अलंकार की भी कल्पना की है। आचार्य उद्भट ने रस को उसकी निजी विशेषता के आधार पर नहीं स्वीकार किया है अपितु इस तथ्य के आधार पर कि रस किसी विशेष अलंकार की शोभा में श्रीवृद्धि कर दिया करता है। इसीलिए टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का मत है कि उद्भट ने रस और भाव के स्वरूप पर तथा भाव और अनुभाव पर विशेष जोर नहीं दिया है। उद्भट अलंकारवादी पहले हैं और रसवादी बाद में। उनकी रस की विवेचना पर उनके आलंकारिक व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। उन्होंने रस को स्वशब्दवाच्य बताया है। इस कथन से उद्भट का तात्पर्य यह है कि रसवत् अलंकार वहां होता है जहां श्रृंगारादि शब्द स्पष्ट रूप से दिखाये गये हों तथा साथ ही साथ स्थायीभाव, संचारीभाव, विभाव तथा अनुभाव आदि का स्वशब्द से आस्पद अर्थात् कथन हो। तात्पर्य यह है कि उद्भट ने रस का वर्णन किया है लेकिन अपने ढंग से। आचार्य उद्भट के रसवत् की परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने विभावादि शब्दों को स्वशब्दवाच्य बताया है। प्रतिहारेन्दुराज ने स्वशब्दवाच्यता की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उद्भट द्वारा प्रदत्त उदाहरण में रति, औत्सुक्य, चिन्ता, प्रमोद आदि भावों को स्वशब्दोक्त प्रदर्शित किया गया है। उद्भट द्वारा प्रवर्तित रस की स्वशब्दवाच्यता का परवर्ती अनेक आचार्यों ने खण्डन किया है। आचार्य आनन्दवर्धन ने रस की स्वशब्दवाच्यता को एक दोष माना है तथापि उन्होंने इतना अवश्य किया है कि रस वाच्य पर आधृत न होकर व्यंग्य पर आधृत होता है। ध्वनिकार का तात्पर्य यह है कि रसादि शब्दों का प्रयोग अनुवादमात्र ही होता है, उन शब्दों द्वारा रस की प्रतीति कदापि नहीं हो सकती क्योंकि दूसरे विषयों में जहां विभाव आदि का अभाव होता है, केवल रस इत्यादि शब्दों का ही प्रयोग होता है। वह रसास्वादन देखा ही नहीं जा सकता। केवल श्रृंगारादि शब्दों के होने पर और विभाव इत्यादि का प्रतिपादन न होने पर काव्य में रञ्चकमात्र भी रसवत्ता नहीं देखी जा सकती है। लोचनकार का कथन है कि यदि स्वशब्दवाच्यता

से ही रस की प्रतीति होने लगे तब तो—

> शृङ्गारहास्यकरुणावीररौद्रभयानकाः
> बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्यरसा स्मृताः।

इत्यादि कारिका में जितने रस हैं उनके नाम से ही रस की प्रतीति होने लगे। इस प्रकार आनन्दवर्धन और उनके टीकाकार अभिनवगुप्त दोनों ने रस की स्वशब्द-वाच्यता का खण्डन किया है।

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में रस की स्वशब्दवाच्यता की कटु आलोचना की है। उनका कथन है कि रसवत् अलंकार से कथमपि रस की प्रतीति नहीं हो सकती। इसका आचार्य कुन्तक ने दो कारण दिया है, प्रथम तो यह कि अपने स्वरूप के अतिरिक्त अलंकार्य रूप से रस के अलावा किसी अन्य की प्रतीति नहीं होती। कथन का तात्पर्य यह है कि वस्तु का जो स्वरूप अर्थात् अपना व्यापार है, उससे उत्कृष्ट अलंकार्य कहलाने योग्य अन्य किसी की प्रतीति न होने पर हम रसवत् को अलंकार नहीं कह सकते। इसका अभिप्राय यह है कि सत्कवियों के काव्य में आये हुए सभी अलंकारों में यह अलंकार्य है और यह अलंकार भी है। इस प्रकार पृथक्रूप से किया हुआ अलंकार्य अलंकारभाव अलग-अलग सभी ज्ञाताओं के मन में प्रतीत होता है। परन्तु रसवत् अलंकार में ध्यान देने पर भी यह विभाग समझ में नहीं आता। जैसे यदि शृंगारादि रस ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान है तो इस कारण अगर वह अलंकार्य है तो उसका अलंकार किसी अन्य को होना चाहिए। वह स्वयं तो अपना अलंकार हो नहीं सकता अथवा यदि प्रधानरूप से वर्णित उसी रस को सहृदयों के आह्लाद का जनक होने के कारण अलंकार कहते हैं तो उसका अलंकार्य भी तो कोई होना चाहिए? परन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उद्भटादि प्राचीन आलंकारिकों को अभिप्रेत रसवत् रूप अलंकार के उदाहरणों में इस प्रकार का कोई भी तथ्य जिसे अलंकार्य कहा जा सके, दृष्टिगोचर नहीं होता।

दूसरा आचार्य कुन्तक का कथन यह है कि आचार्य उद्भट द्वारा प्रदत्त लक्षण में न अलंकार्य अलंकार का विभाग बनता है और न रसवत् का अलंकारत्व सिद्ध होता है। आचार्य कुन्तक ने रस की स्वशब्दवाच्यता का परिहास करते हुए कहा है, अगर घृतपूर आदि पदार्थ अपने नाममात्र से ही आनन्द देने लगें तो फिर इन उदारचरित महानुभावों ने किसी भी पदार्थ के उपभोग का सुख प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी व्यक्तियों के लिए त्रैलोक्य के राज्यप्राप्ति तक के सुख की प्राप्ति बिना प्रयास के ही सिद्ध कर दिया है। ऐसे महापुरुषों को नमस्कार है।

आचार्य मम्मट ने रस की स्वशब्दवाच्यता को एक प्रकार का दोष माना है। उन्होंने सदोष काव्य का उदाहरण देते हुए इस बात की विस्तृत विवेचना की है। मम्मट के बाद आचार्य विश्वनाथ ने रस की स्वशब्दवाच्यता को रसदोष स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जहाँ विभावादि सामग्री अपूर्ण अथवा अपरिपक्व हो अथवा उसका अभाव हो वहाँ यदि शृङ्गार, रति, लज्जा आदि शब्दों द्वारा कथन कर दिया जाय तो उस वाक्य को सरस नहीं कहा जा सकता। वह तो केवल वार्तालाप मात्र है।

नाट्यदर्पण के प्रणेता आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र ने मम्मट और विश्वनाथ से असहमति व्यक्त करते हुए रस की स्वशब्दवाच्यता को ग्राह्य माना है। उनका मत है कि माना कि विभावादि की स्वशब्दोक्ति एक प्रकार का दोष है परन्तु यदि उनके प्रयोग के बिना काम नहीं चल सकता और उनके प्रयोग से निर्बाध रूप से रस की निष्पत्ति होती है तो ऐसी परिस्थिति में रस की स्वशब्दवाच्यता ग्राह्य है। डा० राघवन ने यद्यपि रस की स्वशब्दवाच्यता को गम्भीर त्रुटि बताया है लेकिन इस स्थल पर यह बात ध्यातव्य है कि जिस स्थल पर इन शब्दों के प्रयोग के बिना काम नहीं चल सकता वहाँ भी रस की प्रतीति निर्बाध्यरूप से होगी। इस दृष्टिकोण से आचार्य रामचन्द्रगुणचन्द्र का मत समीचीन प्रतीत होता है। आचार्य उद्भट की एक देन यह भी मानी जानी चाहिए कि जब वे काव्य में कभी विभाव का, कभी स्थायी-

भाव का, कभी संचारीभाव का और कभी अनुभाव तथा कभी स्वशब्दवाच्यता का उल्लेख करते हैं, तब निश्चय हो उनके सामने श्रव्य काव्य का अस्तित्व है। मतलब यह कि आनन्दवर्धन से पूर्व श्रव्यकाव्य से उद्भट ने ही रस का सम्बन्ध स्थापन आरम्भ कर दिया था। एक बात रस के सम्बन्ध में और रह जाती है। वह यह कि उद्भट ने रस को काव्य के उपस्कारक तत्त्व के रूप में ही उल्लिखित किया है। हरमन जैकोबी ने जो यह बात कही है कि उद्भट रस को काव्य की आत्मा मानते हैं। यह मत समीचीन नहीं है। इसके अलावा यदि उद्भट ने यह माना होता तो प्रतिहारेन्दुराज यह विकल्प प्रस्तुत न करते कि रस काव्य का उपस्कारक है या उपस्कार्य और उपस्कारक वाला पक्ष ही समर्थित न करते। यह बात निर्भ्रान्तरूप से कही जा सकती है कि पूर्ववर्ती आचार्य भामह और दण्डी की अपेक्षा उद्भट को रस सम्बन्धी जानकारी अधिक थी।

रस के सम्बन्ध में एक बात का और उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि नाट्यशास्त्र के आठ रसों में एक और शान्तरस उद्भट ने सिद्ध किया है। भोज ने दस रस स्वीकार किए हैं तथा शान्त और प्रेयस्। परन्तु डा० राघवन के मतानुसार शान्तरस के प्रथम व्याख्याकार आचार्य उद्भट ही हैं—

"This statement is doubly wrong. Not only Preyas, but Santa also is found in Rudrata, as a matter of fact it appears in Udbhata. Secondly it is not Santa or Preyas or these alone that Bhoja adds. What exactly must be noted as the Rasas added by Bhoja are Udatta and Udbhata for in a way we can say that Bhoja gave in the middle of his argument an indicative list of twelve Rasa, his final view however being either one or numerous Rasas".[1]

---

1. Sringar Prakash, p. 421.

उद्भट नाट्यशास्त्र के भी व्याख्याता थे । नाट्यशास्त्र के दशरूपाध्याय की टीका में अभिनवगुप्त ने उद्भट का मत बड़े विस्तार से दिया है और वहीं वृत्ति तथा रसविभाग के सम्बन्ध में इनका मत बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया है। उस स्थल के सूक्ष्म निरीक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उद्भट ने रसस्वरूप के निर्धारण में उन दशरूपकों के वर्गीकरण में पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को भी निकष आस्वाद्यता के नाम बताया है। इन्हीं पुरुषार्थों के अनुसार उद्भट यह मानते हैं कि नाट्य में धर्म के लिए वीर, अर्थ के लिए रौद्र, काम के लिए श्रृंगार तथा मोक्ष के लिए शान्त एवं वीभत्स का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार दशरूपकों के वर्गीकरण के विषय में उद्भट का विचार है कि भाण एवं प्रहसन आदि तो शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से निर्मित हैं। नाटक तथा प्रकरण पुरुषार्थ प्रधान होते हैं इसीलिए उसमें श्रृंगार ,वीर का विधान होता है। समवकार डिम तथा व्यायोग में रौद्र की प्रधानता होती है। यद्यपि आगे चलकर उद्भट के इन मतों की आलोचना हुई है फिर भी पुरुषार्थ की दृष्टि से काव्य का विचार आनन्द और अभिनव ने भी किया है। अभिनवगुप्त आदि जब प्रीति तथा व्युत्पत्ति का विचार करते हैं तो रस की उपयोगिता पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करने में प्रतिपादित करते ही हैं।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य उद्भट ने नाट्य-शास्त्र पर टीका लिखी थी। उनके नाट्यशास्त्र के व्याख्याता होने के और भी प्रमाण उनके सिद्धान्त हैं जो परवर्ती आचार्यों द्वारा विभिन्न प्रकार से खण्डित-मण्डित हुए हैं। शार्ङ्गदेव ने अपने संगीतरत्नाकर में भरत के जिन व्याख्याकारों के नाम का परिगणन किया है, उनमें उद्भट का भी नामोल्लेख किया है। अभिनव-भारती में यत्र-तत्र विकीर्ण उद्भट के सिद्धान्तों से भी यह बात सिद्ध होती है कि वे नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की (६।१०) कारिका की व्याख्या में बताया है कि उद्भट के कुछ विचार लोल्लट आदि ने

नहीं मानते हैं। अभिनवभारती से यह भी विदित होता है कि नाट्यशास्त्र की (६।१८२ वीं) कारिका को उद्भट ने भिन्न-भिन्न तरीके से पढ़ा है। नाट्यशास्त्र की (१८।७६ वीं) कारिका के विषय में अभिनव ने यह बताया है कि इसे उद्भट ने भिन्न तरीके से पढ़ा है। आचार्य उद्भट ने भरत की उनकी चारों वृत्तियों के लिए तीव्र आलोचना की है। भरत ने उत्सृष्टिकाङ्क की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह स्त्रियों के करुणाक्रन्दनों से युक्त होता है तथा भारती के अतिरिक्त समस्त वृत्तियों से हीन होता है परन्तु आचार्य उद्भट का कथन है कि करुणारस में जब मूर्च्छा या मरण होता है तो न तो उसमें किसी प्रकार का कथन होता है और न ही भारती वृत्ति। इसी कारण से आचार्य उद्भट ने चार के स्थान पर तीन ही वृत्तियां माना है— न्यायचेष्टा, अन्यायचेष्टा और फलसंवित्ति वृत्ति। अभिनवगुप्त ने उद्भट के इस वृत्ति विवेचन का उल्लेख किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि शकलीगर्भनामक आचार्य के अनुयायीगण ५ वृत्तियां मानते हैं। चार भरत की और एक आचार्य उद्भट की फलसंवित्ति वृत्ति। इस वृत्ति की व्याख्या करने से उद्भट का प्रभाव इतना बढ़ गया कि परवर्ती धनञ्जय आदि आचार्यों ने इस मत के अनुयायियों को उद्भटानुयायी माना है[1]। अभिनव ने उद्भट की अवमर्श-सन्धि को नहीं माना है और इसके लिए उनकी आलोचना भी की है[2]। इस प्रकार अभिनव भारती तथा अन्यान्य स्थलों पर विकीर्ण उद्भट के नाट्य-सिद्धान्तों से यह स्पष्ट होता है कि वे नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार थे। भले ही उनकी व्याख्या आज उपलब्ध न हो परन्तु यत्र-तत्र सुलभ उनके सिद्धान्तों से यह स्पष्ट होता है कि वे सामान्य आचार्य नहीं थे। उनकी व्याख्या अवश्य ही अपने ढंग की अप्रतिम रही होगी। जहां तक नाट्यशास्त्र की टीका प्रश्न है, कुछ लोगों का अभिमत है कि उसके प्रणेता कोई दूसरे उद्भट हैं। अपनी इस स्थापना के सम्बन्ध में उन लोगों

१- पठन्ति: पंचमीं वृत्तिमौद्भटा: प्रतिजानते— दशरूपक।

२- यदाह भट्टोद्भट:। नासान्वेषणभूमिरवमृष्टिरवमर्श: इतितच्चेदं व्याख्यानं लक्ष्यविरुद्धं युक्त्या च ।— अभिनवभारती।

का तर्क है कि उद्भट एक अलंकारवादी आचार्य थे। वे शब्दार्थ धर्म को ही महत्त्व देते थे। रस जैसे तत्त्व को रसवदलंकार में रखकर उसे उन्होंने गौण स्थान दिया तथा अलंकारवादी भामह के वे अनुयायी भी हैं। तो क्या ऐसी मान्यताओं वाला व्यक्ति उस भरत का, जो रसादि से संप्लावित हृदय वाले कवि के अन्तस् से संभूत रसनिष्यंद से जीवलोक को मग्न कर देने वाले सारस्वत प्रवाह को काव्य मानता हो, टीकाकार कैसे हो सकता है? फिर स्वत: अपने ही तर्कों पर पूर्ण विश्वास न करते हुए वे लोग यह भी कहते हैं कि हो सकता है कि भामह आदि ने भी श्रव्य-काव्य को ही अलंकारप्रधान माना हो और वहाँ रस को अलंकारता मानी हो और दृश्य काव्य में रसवत्ता की प्रधानता स्वीकार की हो। यह हो सकता है कि उन्होंने उभयत्र रस की स्थिति की एकरूपता न मानी हो इसीलिए अलंकारवादी उद्भट जब 'नवनाट्ये रसाः स्मृताः' कहते हैं तो ऐसा लगता है कि दृश्य काव्य की रस प्रधानता उन्हें भी ईप्सित है। सम्भवत: इसी धारणा के विरोध में रुद्रभट्ट रुद्रट एवं आनन्दवर्धन ने उभयत्र रस की एकरूपता वाला पक्ष सभिनिवेश स्थापित किया है।

आचार्य उद्भट अपने समय के एक मान्य आलंकारिक हैं। इनकी मान्यताओं से प्रभावित एक सम्प्रदाय ही था जो औद्भट सम्प्रदाय के नाम से काव्यशास्त्र में विख्यात है। विभिन्न मान्यतम आचार्यों ने जो अनेकविध विशिष्ट विशेषणों से उद्भट का स्मरण किया है, वह उससे उनके गरिमामय व्यक्तित्व का पता चलता है। ध्वन्यालोककार ने उनके लिए तत्रभवान' शब्द का प्रयोग किया है। अलंकार-सर्वस्वकार ने चिरन्तर आलंकारिकों के बीच उनके नाम का सादर स्मरण किया है। व्यक्ति विवेक की टीका में तो उन्हें अलंकारतंत्र प्रजापति शब्द से बोधित किया गया है। अभिनवगुप्त के सम्बन्ध में यह कहा जा चुका है कि जहाँ लोल्लट और उद्भट के सम्बन्ध में पाठ-भेद सम्बन्धी वैमत्य उत्पन्न होता है, वहाँ वे उद्भट समादृत पाठ ही ग्रहण करते हैं। अनेक परवर्ती आचार्यों ने अनेक स्थलों पर आचार्य उद्भट को उद्धृत किया है। यद्यपि कुछ लोगों ने खण्डन हेतु उद्भट के मत को उद्धृत किया

है परन्तु यहां ध्यातव्य है कि बड़े आचार्य खण्डन भी उसी विद्वान् का करते हैं जिनके व्यक्तित्व और विचारों में कुछ सार होता है। वैसे तो अन्यान्य लोगों ने उनके स्वतंत्र विचार प्रवर्तकत्व तथा काव्य-क्रिया शिक्षण पाटव का भी उल्लेखपूर्वक प्रशंसन किया है। भामह जिनके टीकाकार उद्भट रह चुके हैं, उनके सर्वत्र अंधानुकरण की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। उनका अपना सर्वत्र स्वतंत्र व्यक्तित्व है जो काव्यशास्त्र के सभी पहलुओं पर छाया हुआ है। उद्भट ने ध्वनि का भी दर्शन कर लिया था, भले ही वे उसके मार्मिक स्वरूप के विवेचन में असमर्थ रहे हों। उद्भट ने अपने ग्रन्थ में भामह स्वीकृत कतिपय अलंकारों को अस्वीकार कर दिया है और कतिपय को स्वीकार करके भी उसमें समुचित परिवर्तन एवं संस्कार किया है और इस संस्कार को मम्मट जैसे आचार्यों ने मान्यता प्रदान किया है। साथ ही उसे अपने ग्रन्थ में सादर ग्रहण भी किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट का आचार्यमय व्यक्तित्व सामानास्पद दृष्टि से देखा जाता था। आनन्द के ध्वनिवाद के बाद भी उद्भट की ऐसी धाक थी कि इन्दुराज ने बड़ी निर्भिकता व आस्था के साथ उद्भट का समर्थन किया है।

इस प्रकार इस शोध ग्रन्थ में उद्भट के जो सर्वमान्य सिद्धान्त प्रदर्शित किए गए हैं, उनमें से बहुतों से यद्यपि परवर्ती आलंकारिक सहमत नहीं हैं लेकिन इससे उनका महत्व कम नहीं होता। बल्कि लोगों का ध्यान उद्भट के गरिमामय व्यक्तित्व की ओर आकर्षित होता है। बड़े-बड़े आचार्य आनन्द से लेकर पण्डितराज उद्भट के मत की आलोचना किए बिना आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार काव्यशास्त्र में उद्भट का महिमामय व्यक्तित्व सभी आचार्यों के आकर्षण का केन्द्र है। उनके सिद्धान्त विशद् एवं वैज्ञानिक हैं। उनकी तर्कपूर्ण विवेचना प्रखर है। संस्कृत काव्यशास्त्र को वस्तुतः इस महान आचार्य ने पूर्ण प्रभावित किया है और उनके योगदान के महत्व को नकारा नहीं जा सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

संस्कृत ग्रन्थ

१- अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कालिदास, व्याख्याकार- श्री नवलकिशोर शास्त्री एवं श्री रामतेज पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, १९७२ ।

२- अलङ्कारसर्वस्व : राजानक रुय्यक मङ्खक, हिन्दी भाष्यानुवादकार डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९७९ ।

३- ऋग्वेद : प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, सम्पादक श्री रामशर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, तृतीय संस्करण, १९६५ ।

४- काव्यप्रकाश : मम्मट, सम्पादक डा० नगेन्द्र, ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, संवत् २०३१ वि० ।

५- काव्यप्रकाश : मम्मट, व्याख्याकार, वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९६५ ।

६- काव्यमीमांसा : राजशेखर, सम्पादक-श्री सी०डी० दलाल एवं पण्डित आर०ए० शास्त्री, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, तृतीय संस्करण, १९३४ ।

७- काव्यादर्श : दण्डी, व्याख्याकार, धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९७३ ।

८- काव्यादर्श : दण्डी, व्याख्याकार, श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७२ ।

९- काव्यालङ्कार : भामह, सम्पादक- देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२ ।

१०- काव्यालङ्कार : रुद्रट, व्याख्याकार-श्री रामदेव शुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

११- काव्यालङ्कार : रुद्रट, व्याख्याकार-डा० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६५ ।

१२- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह : सम्पादित श्री एन०डी० बनहट्टी

१३- काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह : उद्भट, व्याख्याकार-डा० राममूर्ति त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९६६ ।

१४- काव्यालङ्कारसूत्र : वामन, व्याख्याकार- डा० बेचन झा, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७६ ।

१५- काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति : वामन, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५४ ।

१६- कुमारसम्भवम् : कालिदास

१७- कुवलयानन्द : अप्पय दीक्षित, व्याख्याकार-डा० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या भवन, १९७६ ।

१८- चन्द्रालोक : जयदेव, अनु०-सुबोधचन्द्र पन्त, मोतीलाल बनारसीदास, तृतीय संस्करण, १९७५ ।

१९- पाणिनीयसिद्धान्तकौमुदी : सम्पादक- महामहोपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, वाराणसी, संवत् २०१७ ।

२०- वाल्मीकिरामायण : प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय खण्ड, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६० ।

२१- रसगङ्गाधर : पण्डितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७८ ।

२२- वक्रोक्तिजीवितम् : राजानक कुन्तक, व्याख्याकार- श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं० २०३७ ।

२२- व्यक्तिविवेक : महिमभट्ट, सम्पा०-रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६४ ।

२३- सरस्वतीकण्ठाभरण : भोजदेव, व्याख्याकार-कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, १९७६ ।

२४- साहित्यदर्पण : विश्वनाथ कविराज, सम्पा०-डा० सत्यव्रत सिंह, १९७९ ।

हिन्दी ग्रन्थ

१- अभिनव का रसविवेचन : नगीनादास पारेख, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ।

२- अलंकारों का ऐतिहासिक विकास : डा० राजवंश सहायक 'हीरा', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७४ ।

३- अलंकारशास्त्र का इतिहास: डा० कृष्णकुमार, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७५ ।

४- अलंकारों का क्रमिक विकास: श्री पुरुषोत्तमदास शर्मा चतुर्वेदी, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६७ ।

५- आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास दर्शन : डा० जयशंकर त्रिपाठी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६८ ।

६- आचार्य भरत : डा० शिवशरण शर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१ ।

७- आनन्दवर्धन : डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, १९७३ ।

८- काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन : डा० शोभाकान्त मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, १९७२ ।

९- काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्व : शिवबालक राय, वसुमती, इलाहाबाद, १९६८ ।

१०- काव्यात्ममीमांसा : डा० जयमन्त मिश्र, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४ ।

११- ध्वनिसम्प्रदाय का विकास : डा० शिवनाथ पाण्डेय, साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, १९७१ ।

१२- ध्वनि सिद्धान्त : डा० राममूर्ति शर्मा, अजन्ता पब्लि०, दिल्ली, १९८०।

१३- ध्वनि सिद्धान्त: विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यताएं : डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७२ ।

१४- भरत और भारतीय नाट्यकला : सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७० ।

१५- भारतीय काव्यशास्त्र : डा० सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली, १९७४ ।

१६- भारतीय काव्य समीक्षा में ध्वनि सिद्धान्त : कन्हैयालाल अवस्थी 'ज्ञान', दि मैकमिलन कम्पनी आफ इण्डिया लिमिटेड, १९७८ ।

१७- भारतीय साहित्यशास्त्र : पं० बलदेव उपाध्याय, प्रथम खण्ड, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, १९६३ ।

१८- रससिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र : डा० निर्मला जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७७ ।

१९- रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष : ब्रजमोहन चतुर्वेदी, अजन्ता पब्लिकेशन, दिल्ली, १९७८ ।

२०- रीति विज्ञान, ज्ञानात्मक समीक्षा का नया आयाम : डा० विद्यानिवास मिश्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, १९७३

२१- समीक्षाशास्त्र : कृष्णलाल हंस, ग्रंथम्, कानपुर, १९७५ ।

२२- संस्कृत आलोचना : पं० बलदेव उपाध्याय, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, १९६३ ।

२३- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास भाग १ एवं २ : डा० सुशीलकुमार डे, अनु० मायाराम शर्मा, १९७३

२४- साहित्यशास्त्र : डा० मुंशीराम शर्मा, श्री भारतभारती प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सं० २०१९ ।

अंग्रेजी ग्रन्थ

1. A. Sankaran : The Theories of Rasa and Dhvani, University of Madras, Madras, 1973.

2. D.K. Gupta : A Critical Study of Dandin and his Works, Meharchand Lachmandas, Delhi, 1970.

3. Kalipada Giri : Concept of Poetry an Indian Approach, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1975.

4. K. Krishnamoorthy: Essays in Sanskrit Criticism, Karnatak University, Dharwar, 1964.

5. M. Hiriyanna : Art Experience, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1978.

6. M. Krishnamachari: History of Sanskrit Literature.

7. Ramaranjan Mukherji : Literary Criticism in Ancient India, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1966.

8. R.C.Dwivedi(Ed.) Principles of Literary Criticism in Sanskrit, Motial Banarasidas, Varanasi, 1969.

9. R. Gnoli : The Aesthetic Experience According to Abhinavagupta, The Chowkhambha Sanskrit Series Office, Varanasi, 1968.

10. S.K. De : History of Sanskrit Poetics, Vol. I and II, Firma KLM Private Limited, Calcutta, 1976.

11. S.K. De : Some Problems of Sanskrit Poetics, Firma KLM Private Limited, Calcutta, 1959

12. S.Kuppuswami Sastri : Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit, The Kuppuswami Sastri Research Institute, Madras, 1945.

13. V. Raghavan : Boja's S.R.Ngara Prakasa, Punasvasu, Sri Krishnapuram Street, Madras, 1963.

14. V. Raghavan : Studies on Some Concepts of the Alamkara Sastra, The Adyar Library and Research Centre, Madras, 1978.

JOURNALS

1. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.
2. Journal of the Ganganath Jha Institute
3. Journal of Oriental Research Madras
4. Journal of the Royal Asiatic Society.
5. Journal of Oriental Institute.